CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 7

Chief Editor

Dr. NAND KISHORE PRASAD

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4387

Prof. Udai Chandra Jain, Varanasi

AUTHOR'S COPY

For Director
Research Institute of Prakrit
Jainology & Ahimsa, Vaishali

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4341

PRAKRIT JAIN INSTITUTE SERIES NO. 33

General Editor
Dr. NAND KISHORE PRASAD
Director-in-charge

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 7

Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa
Vaishali, Bihar
1990

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Editorial Board

Dr. N. K. PRASAD
Dr. Y. K. MISHRA
Dr. L. C. JAIN

All Rights Reserved

Price : Rs. 70.00

Published on behalf of the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali (Bihar) by Dr. Nand Kishore Prasad Director-in-Charge
Printed in India at the Tara Printing Works, Varanasi.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955 with the object, interalia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This Institute is one of the six Research Institutes being run by the Government of Bihar. The five others are: (i) Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) Kashi Prasad Jayasawal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasa Parishad for Research and Advanced Studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihar for Research and Post-Graduate Studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-Graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this programme of rehabilitating and reorientating ancient learning and scholarship, this is the Research Vol. No. 33 which is the Research Bulletin No. 7. Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fullness of time.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधान सम्पादकीय

'वैशाली इन्स्टीच्यूट रिसर्च बुलेटिन' का शुभारम्भ सर्वप्रथम संस्थान के तत्कालीन विद्वान् निदेशक डा० नथमल टाटिया द्वारा सन् १९७१ ई० में किया गया था। इसका प्रथम अंक अपने आप में कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तदुपरान्त अबतक इस बुलेटिन के कुल छ अंक प्रकाशित हो चुके हैं। षष्ठ अंक 'सि० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री स्मृति विशेषांक के नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ बुलेटिन का सप्तम अंक है। संस्थान में प्राध्यापकों के अति सीमित संख्या में होने के अतिरिक्त अन्य अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी लगभग २० वर्षों की अवधि में बुलेटिन के सात अंकों का प्रकाशन कम नहीं कहा जायेगा।

प्रस्तुत अंक में छोटे-बड़े कुल ३१ लेख हैं, जिनमें २५ हिन्दी में तथा ६ अंग्रेजी में हैं। इसमें प्रकाशित लेखों के लेखकों में प्रो० (डा०) रामजी सिंह, भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर, प्रो० (डा०) सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी; प्रो० (डा०) के० डी० बाजपेयी, पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर; प्रो० (डा०) जे० सी० झा, निदेशक, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना; प्रो० (डा०) राय अश्विनी कुमार, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया; प्रो० उदयचन्द्र जैन, पूर्व प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हमारी समझ में बुलेटिन के पूर्व के छ अंक लेख एवं मुद्रण दोनों दृष्टियों से सन्तोष-जनक रहा है। त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना के साथ बुलेटिन का सप्तम अंक विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस अंक में उनकी अभिरुचि बुलेटिन के आगे के अंकों लिए प्रेरणा-स्रोत का कार्य करेगो।

विद्वान् लेखकों ने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेख भेजकर इस अंक के प्रकाशन में जो सहयोग किया है, उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। आशा है कि भविष्य में भी उनका यह सहयोग एवं सद्भावना बनी रहेगी। इस अंक के लेखों के संकलन, सम्पादन एवं मुद्रण में संस्थान के व्याख्याता एवं सम्पादक-मण्डल के सदस्य डा० लालचन्द जैन का उल्लेखनीय सहयोग रहा है। अतः उन्हें मेरा हार्दिक धन्यवाद है। फिर इस अंक के सम्पादन में सक्रियता के लिए संस्थान के व्याख्याता एवं सम्पादक-मण्डल के सदस्य डा० युगलकिशोर मिश्र भी धन्यवादार्ह हैं। श्री प्रमोद कुमार चोधरी, प्रकाशन-शास्त्री एवं श्री आनन्द कुमार श्रीवास्तव, प्रकाशन-सहायक ने इस अंक के प्रकाशन में जो दिलचस्पी दिखलाई है, उसके लिए उन्हें भी हमारा हार्दिक धन्यवाद है। इसमें सक्रिय सहयोग करने के लिए संस्थान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लेखापाल श्री चन्द्रकान्त मिश्र, प्रभारी पुस्तकाध्यक्ष श्री विजयकुमार सिन्हा एवं आशु-टंकक श्री दिवाकर झा भी धन्यवादार्ह हैं।

इस अंक को सुन्दर एवं शुद्ध छपाई के लिए श्री रविप्रकाश पंड्या, संचालक तारा प्रिन्टिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी भी धन्यवादार्ह हैं।

नन्दकिशोर प्रसाद
प्रधान सम्पादक

दीपावली
18 अक्टूबर, 1990

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

प्रधान सम्पादकीय ... v

खण्ड (क) : दर्शन

1. विज्ञान और अध्यात्म : द्वन्द्व एवं दिशा ... 3
—रामजी सिंह

2. अध्यात्म और विज्ञान ... 11
—प्रो० सागरमल जैन

3. A Comparison of Yoga Systems as Propounded by Patañjali and Haribhadra Suri ... 15
—Dr. Gokul Chandra Jain

4. The Concept of Mokṣa in Jainism ... 23
—Dr. Kumar Anand

5. Jain Theory of Skandhas or Molecules ... 34
—N. L. Jain

6. जैनमत में ईश्वरत्व की अवधारणा 50
—डा० ललितकिशोर लाल श्रीवास्तव

7. जैनेतर दार्शनिक परम्पराओं में द्रव्य स्वरूप विमर्श ... 58
—डा० विश्वनाथ चौधरी

खण्ड (ख) : धर्म

8. भारत में जैनधर्म के विकास के मुख्य अवस्थान ... 65
—प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

9. जैनधर्म में तप ... 70
—रज्जन कुमार

10. परिग्रह के दुष्परिणाम ... 76
—डा० हुकुमचन्द जैन

खण्ड (ग) : न्याय

11. बौद्धन्याय और गौतमीय न्याय में हेत्वाभासों का स्वरूप ... 81
—उदयचन्द जैन

12. चित्र-अद्वैतवाद : समीक्षात्मक विवेचन 96
—डा० लालचन्द जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड (घ) : साहित्य–इतिहास–संस्कृति

13. Hinduism in Trininad ... 111
—Prof. J. C. Jha.

14. हरिभद्रसूरिकृत अष्टक-प्रकरण : एक मूल्यांकन ... 128
—डा० प्रेम सुमन जैन

15. राजप्रश्नीय एवं पायासिराजञ्ञसुत्त : तुलनात्मक समीक्षा ... 140
—डा० कोमल चन्द्र जैन

16. बौद्ध वाङ्मय में अम्बपाली ... 146
—डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

17. मध्यकालीन जैन साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन 153
—प्रो० डा० राजाराम जैन

18. जैन वाङ्मय में नारी-शिक्षा ... 168
—डा० निशानन्द शर्मा

19. नियमसार : कतिपय विशेष सन्दर्भ .. 175
—डा० ऋषभचन्द्र फौजदार

20. श्रमण-संस्कृति के पुण्यप्रतीक : इन्द्रभूतिगौतम ... 178
—डा० (श्रीमती) विद्यावती जैन

21. तीर्थंकर ऋषभनाथ का जय-जूटयुक्त प्रतिमाङ्कन ... 184
—डा० महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज'

22. प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों की भाषा 189
—शैलेन्द्र कुमार राय

23. Historical Role of Jainism ... 200
—P. Kishore Kumar

24. जैन वाङ्मय में अनध्याय 219
—प्रो० हृषिकेश तिवारी

25. जैन एवं बोद्ध शिक्षा के उद्देश्य तथा विषय ... 223
—विजय कुमार

26. कलिकाल-सर्वज्ञ कुन्दकुन्द : शिलालेखों के परिप्रेक्ष्य में 232
—डा० फूलचन्द जैन प्रेमी

27. The Impact of Shramanism on Indian Social Life ... 242
—Dr. Nand Kishore Prasad

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

28. सेतुबन्ध में बिम्ब-विधान ... 245
—डा० राय अश्विनी कुमार एवं डा० हरिशंकर पाण्डेय

29. तीर्थङ्करों के रूप में बिहार की जैनधर्म को देन ... 263
—प्रो० राम प्रवेश प्रसाद

30. बिहार की जैन गुफाएँ ...
—श्री अजय कुमार

31. ब्राह्मण: बुद्ध की दृष्टि में ... 273
—श्री राजीव कुमार, अनुसंधान प्रज्ञ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 7

खण्ड (क)

दर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4341

विज्ञान और अध्यात्म : द्वन्द्व एवं दिशा

डॉ० रामजी सिंह*

विज्ञान और अध्यात्म के विषय में मनोभाव यही है कि विज्ञान के द्वारा हमें बाह्य जगत् का और अध्यात्म के द्वारा अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन विज्ञान की सम्यक् दृष्टि तो यही है कि "विज्ञान" का अर्थ है "विशिष्ट ज्ञान", इसलिये इसमें बाह्य जगत् एवं अन्तर्जगत् दोनों का ज्ञान अभिनिहित हैं। असल में मूल में है "वैज्ञानिक-दृष्टि", जिसमें हम सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अवगाहन एवं दोहन करते हैं। विज्ञान ने बाह्य जगत् के रहस्यों के भेदन में जितना समय और शक्ति दी है, उतना अन्तस्तत्व की खोज में नहीं दे पाया है। यही कारण है कि मानव-प्रकृति का बहुलांश अभी भी गहन अन्धकार में है। शायद विज्ञान अपने उत्कर्ष के चकाचौंध में यह भूल गया था कि मानव कार्य सिद्धि के लिये भले ही अनेकों उपयुक्त साधनों की खोज करता रहा है लेकिन एक भी साधन स्वयं मनुष्य के समान नहीं है। मानवतुल्यं नैकमपि साधनम्। मानव परम पुरुषार्थ है। यूनानी दार्शनिक प्रोटागोरस ने तो कहा ही था (Man is the measure of all things)। व्यास ने भी कहा—"नहि श्रेष्ठतरं किंचित् मानुषात्।" हिलहार्ड (The Phenomenon of Man), हक्सले (Man in the Modern world), एलक्सिस कैरल (Man, the Unknown), युग (Modern Man in Search of Soul) एवं मार्क्स आदि आधुनिक विद्वानों ने मानव की भूमिका और महत्व का अवगाहन करने पर अत्यधिक जोर दिया है। फिर भी हम विज्ञान-विरुद्ध नहीं हो सकते। जो विद्वान-विरुद्ध है, वह ज्ञान नहीं अज्ञान और अन्धविश्वास हैं। जो विज्ञान-विरुद्ध है, वह तर्क-विरुद्ध है और तर्क-विरुद्ध हम हो नहीं सकते। जो तर्क नहीं करता है, वह अन्धविश्वास और रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है, जो तर्क नहीं कर सकता है, वह मूर्ख है और जो तर्क करने का साहस नहीं करता वह दास-वृत्ति का व्यक्ति है। इसीलिये जो विज्ञान या तर्क विरुद्ध है, उसके लिए कहीं कोई अवसर नहीं है। यह असत्य एवं भ्रम है। किन्तु हमें कुछ चीजें ऐसी हैं जो तर्क विरुद्ध नहीं हैं लेकिन तर्क से परे है। इसलिये जो तर्क से परे है वह न तो विज्ञान-विरुद्ध है न तर्क-विरुद्ध। इसी तरह जो विज्ञान से परे है, वह तर्क विरुद्ध या ज्ञान-विरुद्ध नहीं है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण तो यह है कि विज्ञान एवं तर्क उपयोगिता एवं महत्व के प्रति आस्था और विश्वास स्वयं विज्ञान एवं तर्क से ऊपर है। सभी बातें तर्काधारित होनी चाहिये, सभी विज्ञान सम्मत होने चाहिये, यह तो एक प्रकार का धार्मिक विश्वास जैसा हो है। इस तथ्य को हाइजन बर्ग ने अपनी पुस्तक (Physics and Beyond) में अच्छी तरह प्रतिपादित किया है।

---

* गांधी-विचार विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर–७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ० रेनर जानसन जैसे विश्वविख्यात पदार्थ वैज्ञानिक ने यह स्पष्ट कर दिया कि पाश्चात्य जगत् में प्रचलित वैज्ञानिक भौतिकवाद की मान्यताएँ आज उतने विश्वसनीय नहीं रहीं क्योंकि गर्भाशय में जीव विकास और स्मृति आदि के तथ्यों की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं हो पाती है। रेडियोधर्मिता की सक्रियता एवं प्रकाशपुंज में व्यवधान आदि की बातें इसको सिद्ध करती हैं। उन्होंने तो बताया कि सभी प्रकार के प्राकृतिक घटनाओं में, किसी न किसी प्रकार की चेतना परिलक्षित होती है (Behind all the phenomena of Nuture psychical fields are in existence)। विज्ञान कोई गवाक्षहीन जगत् या परिपूर्णतत्व नहीं है। इसीलिये आज "परामनोविद्या" से प्राप्त अनुसन्धानों को भी ध्यान से देखना चाहिये जिस पर पिछले ५० वर्षों में बड़े-बड़े वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिकों ने अन्वेषण एवं प्रयोग किये हैं। इस सम्बन्ध में राइन, सोएल, कैरिंगटन, टेरिल, मर्फी आदि के नाम द्रष्टव्य हैं जिन्होंने इन्द्रियेतर प्रत्यक्ष (Extra-Sensory Perception) जैसे अवधि-ज्ञान (Clairvoyance, Clairaudience), मनः पर्यय (Telepathy) आदि के अनेकों प्रयोग प्रदर्शित किये हैं। इनमें इन्द्रियों के स्नावयिक-मांस पेशीय-व्यवस्था के बिना भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट पुरुषों की रहस्यानुभूतियों की भी विज्ञान के प्रस्तुत उपकरण व्याख्या करने में अक्षम रहते हैं।

विज्ञान और अध्यात्म का द्वन्द्व धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। विद्वानों ने १८वीं शताब्दी में पदार्थों की एकता (Unity of Matter) स्थापित करने में लगायी और उन्नीसवीं सदी में शक्तियों की एकता (Unity of Energy) स्थापित करने का उपक्रम हुआ। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब परमाणु के विद्युत-कणों का विखण्डन-कार्य सम्पन्न हुआ तो पदार्थ और शक्ति (Unity of Matter and Energy) की एकता स्थापित हो गयी। हाँ जीवन और आजीवन, जड़ और चेतन की सीमा-भूमि पर अभी तक अंधकार के आवरण पड़े हुए हैं, हाँ यह सीमा-रेखा इतनी क्षीण हो गयी है कि केवल प्रोटोप्लाज्म की बनावट में सिकुड़ गयी है। अब तो कृत्रिम गर्भाधान एवं "परनली शिशु" के प्रयोगों ने इस विभाजन रेखा को और भी क्षीण कर दिया है। चेतन और अचेतन की सीमान्तक रेखा को समाप्त करने का पुरुषार्थ एक नवीन विश्व-दर्शन की प्रसव पीड़ा है।

लेनिन के समय ही विद्युत-कण के आविष्करण के कारण ठोस एवं स्थान घेरने वाले परमाणु की अवधारणा ध्वस्त हो गयी थी तो लोगों को लगा कि भौतिकवाद की जड़ ही कट गयी। लेनिन ने स्पष्टीकरण किया था कि दार्शनिक मैटर का उस मैटर से कोई ताल्लुक नहीं जो स्थान घेरता है या जिसका वजन है। दार्शनिक मैटर तो एक संप्रत्यय (Concept) है जिसका अर्थ है कि मानव चेतना के बाहर वस्तु की स्वतन्त्र स्थिति। यह स्थिति मूल में तरंगमय है या ठोस इसका दार्शनिक मैटर से बहुत मतलब नहीं। अपनी पुस्तक में लेनिन ने स्पष्ट कहा है कि ज्ञान की प्रगति के क्रम में "मैटर" का जो भी रूप प्रस्तुत होगा, दार्शनिक मैटरवादी उसे ही स्वीकार करेंगे। श्री अरविन्द ने इसी को दूसरे शब्दों में कहा कि मैटर इन्द्रिय ज्ञान से परे है। सांख्य के प्रधान की तरह यह मूल-तत्व भी संप्रत्यय रूप ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरविन्द के अनुसार आज हम ऐसी जगह पर पहुँच गये हैं, जहाँ मूल तत्व और मूल-शक्ति के रूप में केवल काल्पनिक विभेद रह गया है। (लाइफ डिवाइन, भाग–१ पृ० १७) यों तो प्राचीनकाल से अध्यात्म चिंतन में जड़-चेतन के अद्वैत की भावना निकलती थी किन्तु उस युग के विज्ञान की अविकसित धारा में यह शक्ति नहीं थी कि इसके लिये दृढ़ आधार मिल सके, इसीलिये "एकमेवाद्वितीयम्, "एकोऽहद्वितीयोनास्ति", "ला इलाहिल्लिह" आदि सूचक अद्वैत-चिंतन विद्या-विलास या गगन-बिहार ही सिद्ध हुए, भले ही कुछेक ऋषियों एवं मुनियों ने अपरोक्षानुभूति के माध्यम से इसको व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किया हो। आज भी जड़ चेतन की एकता को विज्ञान के सुदृढ़ भूमि पर स्थापित नहीं की है लेकिन जिसके लिये पिछले दो हजार वर्षों से दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रयत्न करते हुए दृश्यमान अनेकताओं के बीच एकता की स्थापना कर रहे थे, आज आधुनिक विज्ञान ने उसे काफी सफल कर दिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक ए० एन० ह्वाइटेड कहता है—"अपने चारों ओर जिस दुनिया को हम देखते हैं उसका मानसिक जगत् से सम्बन्ध हम जितना समझते हैं उससे कहीं ज्यादा है।" इसी को लेनिन अपनी व्याख्या से और भी उजागर करते हैं कि—"मैटर की मौलिक बनावट में ही चेतना का मूल तत्व मिला हुआ है।" यूजेन विगनर ने भी कहा है कि 'दो प्रकार तत्व होते हैं"—अपनी चेतना का सत्य" और इसके अतिरिक्त जो सत्य है। (Existence of my consciousness and existence of other's consciousness), लेकिन ये दोनों निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र नहीं बल्कि सापेक्ष हैं। सबकुछ अभिसांज्ञिक या सांप्रत्ययिक है। "सोरिल हिरोशेलवुड ने स्पष्ट कहा"—अन्तस्तत्व की अस्वीकृति अपनी तात्कालिक प्रत्यक्षानुभूति और उसके अस्तित्व की अस्वीकृति है। मैक्स बोर्न ने इसीलिये सैद्धान्तिक पदार्थ विज्ञान को वास्तविक दर्शन कहा है। न्यूटन-आइन्स्टीन की कोटि के पदार्थ वैज्ञानिक नील्स बोर ने आण्विक पदार्थ (Atomic Physics) के अन्तर्गत पूरकता का सिद्धान्त (Principle of Complementarity) प्रस्तुत किया है जिसे जापानी पदार्थ वैज्ञानिक यूकावा ने समर्थन करते हुए कहा है कि जापान में हम अरस्तु के निरपेक्ष तर्कशास्त्र से प्रभावित नहीं हैं। श्री अरविन्द ने तो इसे और भी स्पष्ट किया कि "अन्तस्तत्व का एक रूप मैटर है।" (लाइफ डिवाइन, भाग–२, पृष्ठ–४५३)। श्री माँ ने इसीलिये दर्द से कहा है—"जिसे ईश्वर ने मिलाया, एक किया है, क्यों उसे मनुष्य अलग करना चाहता है। "बर्टेंड रसेल के अनुसार" मानस और मैटर का अन्तर काल्पनिक है।" क्वान्टम मेकानिक्स (Quantum Mechanics) के विज्ञाता पी० ए० एम० डिराक ने कहा है "प्रकृति के आधारभूत सिद्धान्त भी जगत् को उतने परिचालित नहीं करते हैं जितना वे दीखते हैं।" अध्यात्म की भाषा में जड़-चेतन के इसी अद्वैत को "सर्वं खलु इदं ब्रह्म", "ईशावास्यमिदं ब्रह्म' या "सीयाराममय सब जगजानी" आदि उक्तियों से स्पष्ट किया गया है। जब सब कुछ "ब्रह्म या ईश्वर" है तो फिर चित्-अचित्, जड़-चेतन का भेद ही क्या होगा? जेम्स जीन्स (Mytserious Universe), एडिंगटन आदि समकालीन वैज्ञानिक विज्ञान में प्रत्ययवादी प्रवृत्तियों का समावेश देखते हैं।

एक दूसरी दृष्टि से भी विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय देखा जा सकता है। विज्ञान सृष्टि के नियमों का अनुसन्धान करता है और कहता है कि प्रकृति अपने नियमों से आबद्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है। इसी को अध्यात्म "ऋत" या "धर्म" की संज्ञा देता है। बिना नियम के ईश्वर भी कार्य नहीं करते—"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत्"। विज्ञान को यदि उसके मौलिक अर्थ "ज्ञान" के अर्थ में समझें तो बाह्य जगत् का और मानव-स्वभाव (अन्तर्जगत्) का ज्ञान दोनों का समावेश है। विज्ञान की अडिग गवेषणा और वैज्ञानिक वृत्ति या वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो, जिसमें मानव-प्रकृति का अध्ययन भी शामिल हो तो मानवता का संकट दूर हो सकता है। आज अध्यात्म की वैज्ञानिक खोज आवश्यक है। चित्त-संशोधन (Psychic Research) भले ही अध्यात्म-तत्व के अन्वेषण में एक गवाक्ष का काम करे किन्तु विनोबा जी इसे आध्यात्मिक नहीं मानते। वह साइन्स ही है। चित्त भी मैटर (द्रव्य) के अन्तर्गत है किन्तु आत्म-तत्व उससे भिन्न है। अतः चित्त-संशोधन आत्मज्ञान नहीं माना जायगा। इसी तरह अध्यात्म में प्रेत विद्या (Spiritism) का भी समन्वय नहीं होना चाहिये। जिस चीज का भला या बुरा उपयोग हो सकता है, वह अध्यात्म नहीं है। वह तो भौतिक विश्व का एक हिस्सा है। चैतसिक शक्ति (Psychic Power) या प्रेत शक्ति (Spiritism) का सदुपयोग या दुरुपयोग दोनों हो सकता है अतः वे भौतिक शक्तियाँ हैं।

असल में अध्यात्म मूलभूत श्रद्धा है और उसकी कुछ निष्ठायें हैं। सर्वप्रथम 'निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा" (Faith in absolute moral values) अध्यात्म की निष्ठा है। शाश्वत नैतिक मूल्यों को मानने से सब तरह के लाभ हैं, उसे तोड़ने से सब जगह हानि है। नैतिक मूल्यों में अवसरवादिता नैतिकता को कमजोर करती ही है, अध्यात्म को भी कलंकित करती है। दूसरी आध्यात्मिक निष्ठा है—"मृत्यु के बाद भी जीवन की अखंडता को स्वीकार करना। मृत्यु से जीवन खंडित नहीं होता—चाहे वह सूक्ष्मरूप में रहे या स्थूलरूप में, निराकार या साकार, देहधारी या देहविहीन। जीवन अखंण्ड है। जब पदार्थ या ऊर्जा नश्वर हैं तो आत्मा की अमरता भी स्वतः सिद्ध है। जन्म-मरण से आत्मा पर प्रभाव नहीं पड़ता।" वासांसि जीर्णानि यथा विहाय। अध्यात्म की तीसरी निष्ठा है—"प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता"। जब सब प्राणी में किसी न किसी रूप में चैतसिक केन्द्र है, फिर उसकी एकता और पवित्रता में विश्वास करना अध्यात्म की पहचान है। अध्यात्म की चौथी आधार—निष्ठा है, विश्व में व्यवस्था और बुद्धि के प्रति आस्था। इसी का अर्थ है, ईश्वर का नाम लेना या परमेश्वर पर श्रद्धा। अध्यात्म की पाँचवीं श्रद्धा है कि मानव-जीवन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है। भले ही पूर्ण मानव हमने नहीं देखे लेकिन मानव की पूर्णता में विश्वास रखना एक आध्यात्मिक निष्ठा है।

अध्यात्मवादियों का दोष यही है कि उनके अनुसार "अध्यात्म-ज्ञान पूर्ण हो चुका है"। उसमें अब किसी तरह की प्रगति शेष नहीं रही। विज्ञान के दोष अनुभव से सुधारे जाते हैं। इसीलिये होलोमी का दोष कोपरनिकस एवं न्यूटन का आइन्स्टीन ने सुधारा। उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में प्रविष्ट दोषों का निराकरण होना चाहिये। दुर्भाग्य से अध्यात्म-साधना के नाम पर स्वार्थ ऊपर आ गया है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद ने नृसिंह भगवान् से कह दिया था—"बहुधा देव और मुनि अपनी ही मुक्ति का कामना करते और विजन अरण्य में मौनादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का आधार ले मुक्ति से मुक्ति का आभास कर लेते हैं। लेकिन मैं इन दीन जनों को छोड़ अकेला मुक्त होना नहीं चाहता।" संक्षेप में जिस प्रकार "मेरा घर" "मेरा पुत्र" आदि हम कहकर अपने स्थूल स्वार्थवाद है, उसी प्रकार अध्यात्म-जगत् में "अपनी मुक्ति" की बात कहना वदतोव्याघात है क्योंकि "मैं" का लोप ही मुक्ति का साधन है। यदि इस साधना पर एक का ही आधिपत्य रखते हैं तो "मैं" दृढ़ होता है और दूसरे सभी अज्ञानी रह जाते हैं। संक्षेप में व्यक्तिगत मुक्ति की कल्पना का परिष्कार करना होगा। "मैं" की जगह "हम" को लाना होगा। इसी को "सर्वान्मुक्ति", "बोधिसत्व" या "सामूहिक मुक्ति" की कल्पना कहते हैं। यदि "अहंता", "ममता" का त्याग ही मोक्ष है तो यह स्वाभाविक है। सांख्य में भी इसी की साधना के लिये "नास्मि", "नामे" और "न अहं" आदि उक्तियाँ बतायी गयी हैं। अतः साधना के नाम पर स्वार्थ चलाना आध्यात्मिकता नहीं है। व्यक्तिगत रूप से सिद्धि प्राप्ति भी एक प्रकार का पूंजीवाद ही है। "मेरा धन", "मेरी विद्या" "मेरी साधना" या "मेरी मुक्ति" ये सब एक ही कोटि का समाधान है।

भारतीय अध्यात्म की विशिष्ट प्रतिभा को वैज्ञानिक दृष्टि से उजागर करना आवश्यक है। रामानुजाचार्य ने अपने गुरु-मंत्र को जगजाहिर करने के लिए खुद नरक भोगा था। ज्ञानदेव, चैतन्य एवं अन्य मध्ययुगीभ संत लोगों ने ब्रह्म-विद्या को स्त्रियों, शुद्रों, बच्चों और साधारण से साधारण जनता के बीच बाँटते रहे। भारतीय अध्यात्म की मुख्य विशेषता है कि "मन' को मुक्त करें। आज विज्ञान ने सृष्टि के बाहरी बाजू से काम आरम्भ किया है, फिर भी अन्दर की ओर भी वह धीरे-धीरे जाने का प्रयत्न करेगा और उसे अनुभूति एवं प्रयोग की कुछ नयी पद्धतियाँ खोजनी होगी। इन्द्रियों पर आधारित प्रचलित पद्धतियों एवं ऐन्द्रियिक अनुभूतियों से तब काम नहीं चलेगा। हम इन्द्रियों के द्वारा जो स्पर्श, घ्राण, आदि अनुभव करते हैं, फिर भी यही तत्व नहीं है। तत्व द्रव्य-निरपेक्ष (immaterial) नहीं हैं, परन्तु द्रव्य से भिन्न जरूर है। इस अर्थ में द्रव्य (Matter) भी तात्विक (Substance) हो जाता है। इस तरह द्रव्य और चित्त (Matter and Mind) दोनों दो नहीं रह जाते हैं। दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है। इसीलिये कौन प्रमुख और कौन गौण आदि सारी चर्चाएँ बिल्कुल निम्न स्तरीय हो जाती हैं। बस, कोई तत्व है, जो चित्त और द्रव्य दोनों से परे है।

अध्यात्म और विज्ञान दोनों मनुष्य की आधारभूत प्रेरणा एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। "विज्ञान के बिना अध्यात्म पंगु है तो अध्यात्म के बिना विज्ञान अंधा है।" ऐसा आइन्स्टीन ने कहा था। यही कारण था कि ज्ञान-विज्ञान पारंगत नारदमुनि को भी सनत्कुमार के यहाँ अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जाना पड़ा था। नारद की इस निरीहता पर ही शंकराचार्य ने कहा था—"सर्वविज्ञान साधन शक्ति सम्पन्नस्य अपि नारदस्य देवर्षि श्रेयोन बभूव।" यानी विज्ञान भौतिक सुख-समृद्धि तो दे सकता है लेकिन आत्मिक आनन्द मानसिक शांति और श्रेय अध्यात्म से ही मिलेगा। यमराज ने भी नचिकेता को प्रेय और श्रेय का विवेक बताया था। कामायनी में प्रसाद जी ने मानव-जीवन की इसी विडम्बना को उजागर करते हुए लिखा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की ? न एक दूसरे से मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।" विज्ञान प्रकृति एवं सृष्टि के नियमों का अनुसंधान तो करता है लेकिन यह नहीं जानता है कि ये नियम प्रकृति में कहाँ से आये ? इसी को खोजना अध्यात्म है। ईशावास्य उपनिषद् में ऋषि कहता है—

"वह है तभी तो संचरित यह प्राण है,
जो कर रहा क्रीड़ा प्रकृति की गोद में।"

विज्ञान यह तो कहता है मस्तिष्क में विद्युत-तरंगों के माध्यम से हम पढ़ते और समझते हैं लेकिन विज्ञान यह नहीं बता पाता कि उन तरंगों से हम वहीं पंक्तियाँ क्यों पढ़ते हैं ? विज्ञान सृष्टि का विधायक स्वरूप तो बता देता है लेकिन मानव-जीवन का लक्ष्य (ought) क्या हो, यह नहीं कह सकता। इसके लिये तो अध्यात्म की शरण में जाना ही होगा। बर्टेंड रसेल ने ठीक ही कहा है कि "हम अपने लक्ष्यों एवं नैतिक आदर्शों के लिये कोई वैज्ञानिक आधार नहीं दे सकते।" इसलिये अध्यात्म का संयोग आवश्यक है। शुद्ध भौतिकवाद की अंतिम परिणति व्यक्ति और मानव जीवन में व्यर्थता एवं नगण्यता पैदा करना है। उसी प्रकार अंध अध्यात्म दृश्यमान के मिथ्यापन को इतना खींच लेता है कि हम मायावाद में फंसकर काल्पनिक और अर्थहीन होने लगते हैं। "सुख की खोज" मानव-जीवन की सीमाहीन भूख एवं अतृप्त प्यास है। सुख की असीम तृष्णा ही शक्ति की खोज का भी रहस्य है। रामायण, महाभारत या आज के विश्व में महाशक्तियों की उद्दाम भोग लिप्सा पर आश्रित नृशंस लीला के ही उदाहरण हैं।

आज तो पुनः साढ़े छः हजार वर्षों के बाद हम महाभारत के युग में आ गये हैं—

"कर में विज्ञान और दिमाग में कूटनीति
मारक अणु अस्त्रों का करता निर्माण है।
पाकर वरदान अरे, भस्मासुर आज बना
मानव को हिंसा की शक्ति का गुमान है।"

इसीलिये आज विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय मानव-सृष्टि के लिये अपरिहार्य हो गया है। १९६३ में पटना में आयोजित "अध्यात्म और विज्ञान" पर आयोजित परिसंवाद को संदेश में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था—"विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के बिना मानवता के विकास का सच्चा खतरा पहुँच चुका है।" पंडित नेहरू ने तो कहा—"विश्व का भविष्य विज्ञान की प्रगति पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। किन्तु अध्यात्म के मार्गदर्शन के बिना मानवता प्रलंयकारी दुर्घटना का शिकार हो जा सकती है।" इसीलिये "अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय के सम्बन्ध में चिंतन और मनन केवल भारत के लिये ही नहीं वरन सम्पूर्ण विश्व-मानवता के लिये आवश्यक है"—ऐसा दार्शनिक राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने कहा।" श्री अरविन्द आश्रम की माता जी ने वेदना से कहा—"विज्ञान और अध्यात्म को विभाजित मत करो। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का एक ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गन्तव्य है—भगवत्ता की प्राप्ति। एक ही अन्तर है कि विज्ञान बिना जाने उस दिशा में बढ़ता है जबकि अध्यात्म चेतन युक्त होकर उसी दिशा में बढ़ रहा है।" दोनों के मूल में मानव के प्रति अनंत करुणा है। इसीलिये लेनिन ने चेतावनी दी थी कि "वैज्ञानिक गणित की गगन-चुम्बी उड़ान में उस तराजू को भूल जाते हैं जिस पर से वे उड़े थे।" श्री अरविन्द ने भी इसी को दूसरे शब्दों में कहा—"आध्यात्मिक विकास की चोटियों पर यदि हम मानव-धरातल को भूल जाँय तो हम कभी भी सत्य को नहीं पकड़ सकेंगे।" (लाइफ डिवाइन), भाग—१ पृ० ४५)। सांख्य या देकार्त्त ने जड़ और चेतन का द्वैत खड़ाकर अव्यक्त पृथक्करण पैदा किया था, जबकि माध्यमिक शून्यवाद आदि ने रक्त और मांस, पदार्थ और वस्तु को छोड़कर सत्य की झाँकी पाने का भले प्रयास किया लेकिन वह भी अव्यक्त पृथक्करण का ही प्रयास सिद्ध हुआ। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों अपने आप में पृथक्करण के उदाहरण हैं। इसीलिये श्री अरविन्द ने (Denial of the Materialist and Refusal of the Ascetics) के बीच मध्यम-मार्ग चुना। विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय इस प्रकार के किसी कृत्रिम द्वैत को स्वीकार नहीं कर सकता है। जीवन की सम्पूर्णता के लिये आवश्यक सारे मूल्य न केवल विज्ञान से प्राप्त हो सकते हैं, न केवल विज्ञानेतर शास्त्रों यानी साहित्य एवं कला से। कोमलता, दया, करुणा, आत्मीयता, और प्रेम जैसे मूल्य विज्ञान से नहीं अध्यात्म से निःसृत होंगे। लेकिन जिस प्रकार शक्ति के विना शिव शव-स्वरूप हैं, उसी प्रकार विज्ञान के विना अध्यात्म भी पंगु होगा। अतः आज को संस्कृति-संगम की आवश्यकता है जहाँ विज्ञान और अध्यात्म की समन्वय साधना ही मानव-साधना का पर्याय होगी।

२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म और विज्ञान

प्रो० सागरमल जैन*

औपनिषदिक ऋषिगण, बुद्ध और महावीर भारतीय अध्यात्म परम्परा के उन्नायक रहे हैं। उनके आध्यात्मिक चिन्तन ने भारतीय मानस को आत्मतोष प्रदान किया है। किन्तु आज हम विज्ञान के युग में जीवन जी रहे हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी आज हमें उद्वेलित कर रही हैं। आज का मनुष्य दो तलों पर जीवन जी रहा है। यदि विज्ञान को नकारता है तो जीवन की सुख-सुविधा और समृद्धि के खोने का खतरा है। दूसरी ओर अध्यात्म को नकारने पर आत्म शान्ति से वंचित होता है। आज आवश्यकता है इन ऋषि महर्षियों द्वारा प्रतिस्थापित आध्यात्मिक मूल्यों और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय की। निश्चय ही आयोजकों ने आज की संगोष्ठी का विषय "विज्ञान और अध्यात्म" रख कर इसे आयोजन को एक प्रासंगिकता प्रदान की है।

सामान्यतया आज विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर विरोधी अवधारणाओं के रूप में देखा जाता है। आज जहाँ अध्यात्म को धर्मवाद और पारलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है, वहाँ विज्ञान को, भौतिकता और इहलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है। आज दोनों में विरोध देखा जाता है। लेकिन यह अवधारणा भ्रान्त ही है। प्राचीन युग में तो विज्ञान और अध्यात्म ये शब्द परस्पर भिन्न अर्थ के बोधक नहीं थे। महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा था कि जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। यहाँ आत्मज्ञान और विज्ञान एक ही हैं। वस्तुतः विज्ञान शब्द वि + ज्ञान से बना है, 'वि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। आज जो विज्ञान शब्द पदार्थ ज्ञान के रूप में रूढ़ हो गया है वह मूलतः विशिष्ट ज्ञान या आत्मज्ञान ही था। आत्म-ज्ञान ही विज्ञान है। पुनः अध्यात्म शब्द भी अधि + आत्म से बना है। 'अधि' उपसर्ग भी विशिष्टता का ही सूचक है। जहाँ आत्म की विशिष्टता है, वही अध्यात्म है। आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। अतः ज्ञान की विशिष्टता हो अध्यात्म है और वही विज्ञान है। फिर भी आज विज्ञान पदार्थ ज्ञान के अर्थ में और अध्यात्म आत्मज्ञान के अर्थ में रूप हो गया है। मेरी दृष्टि में विज्ञान साधनों का ज्ञान है तो अध्यात्म साध्य की अनुभूति। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं रूढ़ अर्थों में विज्ञान और अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

एक हमें बाह्य जगत् से जोड़ता है तो दूसरा हमें अपने से जोड़ता है। दोनों ही 'योग' हैं। एक हमें जीवन शैली (Life Style) देता है तो दूसरा हमें जीवन साध्य (Goal of life) देता है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि जो एक दूसरे के पूरक हैं

---

* निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें हमने एक दूसरे का विरोधी मान लिया। आज आवश्यकता इस बात की है कि इनकी परस्पर पूरक शक्ति या अभिन्नता को समझा जाये।

आज हम विज्ञान को पदार्थ विज्ञान मानते हैं। आज हमने 'पदार्थ पर या अनात्म के सन्दर्भ में इतना अधिक ज्ञान अर्जित कर लिया कि 'स्व' या 'आत्म' को विस्मृत कर बैठे। हमने परमाणु के आवरण को तोड़ कर उसके जर्रे-जर्रे को जानने का प्रयास किया किन्तु दुर्भाग्य यही है कि अपनी आत्मा के आवरण को भेद कर अपने आपको नहीं जान सके। हम परिधि को व्यापकता देने में केन्द्र ही भुला बैठे। मनुष्य की यह परकेन्द्रितता ही उसे अपने आप से बहुत दूर ले गई है। वह दुनिया को समझता है जानता है परखता है किन्तु अपने प्रति तन्द्राग्रस्त है। यही आज के मानव की त्रासदी है। उसे स्वयं यह बोध नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है? लक्ष्य क्या है? वह भटक रहा है। मात्र भटक रहा है। आज से २५०० वर्ष पूर्व महावीर ने मनुष्य की इस पीड़ा को समझा था। उन्होंने कहा था कि कितने ही लोग ऐसे हैं जो नहीं जानते मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है? यह केवल महावीर ने कहा हो ऐसी बात नहीं है। बुद्ध ने भी कहा था 'अत्तानं गवेस्सेथ'। अपने को खोजो—औपनिषदिक ऋषियों ने कहा—आत्मानं विद्धि—'अपने आपको जानो।' यही जीवन परिशोधन का मूल मन्त्र है। आज हमें पुनः इन्हीं प्रश्नों के उत्तर को खोजना है। आज का विज्ञान आपको पदार्थ जगत् के सन्दर्भ में सूक्ष्मतम सूचनायें दे सकता है किन्तु वे सूचनायें हमारे लिए ठीक उसी तरह अर्थहीन है जिस प्रकार जब तक आँख न खुली हो, प्रकाश का कोई मूल्य नहीं। विज्ञान प्रकाश है किन्तु अध्यात्म की आँख के बिना उसकी कोई सार्थकता नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा था अन्धे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने का क्या लाभ? जिसकी आँख खुली हो उसके लिए एक ही दीपक पर्याप्त है। आज मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह विज्ञान और तकनीकी के सहारे विद्युत् की चकाचौंध फैला रहा है किन्तु अपने अन्तर्चक्षु का उन्मीलन नहीं कर रहा है। प्रकाश की चकाचौंध में हम अपने को ही नहीं देख पा रहे हैं, यह सत्य है कि प्रकाश आवश्यक है किन्तु आँख खोले बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति दी है। आज वह ध्वनि से भी अधिक तीव्र गति से यात्रा कर सकता है। किन्तु स्मरण रहे विज्ञान जीवन के लक्ष्य का निर्धारण नहीं कर सकती। लक्ष्य का निर्धारण तो अध्यात्म ही कर सकता है। विज्ञान साधन देता है, लेकिन उसका उपयोग किस दिशा में करना है यह अध्यात्म का कार्य है। पूज्य विनोबाजी के शब्दों में "विज्ञान में दोहरी शक्ति होती है—एक विनाश शक्ति और दूसरी विकास शक्ति। वह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्नि नारायण की खोज हुई तो उससे रसोई भी बनाई जा सकती है और उससे आग भी लगाई जा सकती है। अग्नि का प्रयोग घर फूंकने में करना या चूल्हा जलाने में यह अक्ल विज्ञान में नहीं है। अक्ल तो आत्मज्ञान में है। आगे वे कहते हैं—आत्मज्ञान है आँख और विज्ञान है पाँव। अगर मानव को आत्मज्ञान नहीं तो वह अन्धा है। कहाँ चला जायगा कुछ पता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो अध्यात्म देखता तो है लेकिन चल नहीं सकता उसमें लक्ष्य बोध तो है किन्तु गति की शक्ति नहीं। विज्ञान में शक्ति तो है किन्तु आँख नहीं है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्य का बोध नहीं। जिस प्रकार अन्धे और लंगड़े दोनों ही परस्पर सहयोग के अभाव में दावानल में जल मरते हैं ठीक इसी प्रकार यदि आज विज्ञान और अध्यात्म परस्पर एक दूसरे के पूरक नहीं होंगे तो मानवता अपने ही द्वारा लगाई गई विस्फोटक शस्त्रों की आग में जल मरेगी। बिना विज्ञान के संसार में सुख नहीं आ सकता और बिना अध्यात्म के शांति नहीं आ सकती। मानव समाज की सुख और शान्ति के लिए दोनों का परस्पर सहयोग होना आवश्यक है। वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग मानव कल्याण में हो या मानव के संहार में हो इस बात का निर्धारण विज्ञान से नहीं, आत्मज्ञान या अध्यात्म से होगा। अणु शक्ति का उपयोग मानव के संहार में हो या मानव के कल्याण में यह निर्णय करने का अधिकार उन वैज्ञानिकों को भी नहीं है, जो सत्ता, स्वार्थ और समृद्धि के पीछे अन्धे हैं। यह निर्णय तो मानवीय विवेक से ही करना होगा। यह सत्य है कि विज्ञान के सहयोग से तकनीक का विकास हुआ और उसने मानव के भौतिक दुःखों को बहुत कुछ कम कर दिया। किन्तु दूसरी ओर मारक शक्ति के विकास के द्वारा भय या संत्रास की स्थिति उत्पन्न कर मानव की शान्ति को भी छीन लिया है। आज मनुष्य जाति भयभीत और संत्रस्त है। आज वह विस्फोटक अस्त्रों के ज्वालामुखी पर खड़ा है, कब विस्फोटक होकर हमारे अस्तित्व को निगल ले यह कहना कठिन है।

पूज्य विनोबा जी लिखते हैं "जो विज्ञान एक ओर क्लोरोफार्म की खोज करता है जिससे करुणा का कार्य होता है। वही विज्ञान अणु अस्त्रों की खोज करता है जिससे भयंकर संहार होता है। एक बाजू सिपाही को जख्मी करना दूसरी बाजू उसको दुरुस्त करना ऐसा गोरखधन्धा आज विज्ञान की मदद से चलता है। इस हालत में विज्ञान का सारा कार्य उसको मिलने वाले मार्गदर्शन पर आधारित है उसे जैसा मार्गदर्शन मिलेगा वह वैसा कार्य करेगा।"

यदि विज्ञान पर सत्ता के आकांक्षियों का, राजनीतिज्ञों का और अपने स्वार्थ की रोटी सेने वालों का अधिकार होगा तो यह मनुष्य जाति का संहारक बनेगा। इसके विपरीत यदि विज्ञान पर मानव-मंगल के स्रष्टा अनासक्त ऋषियों-महर्षियों का अधिकार होगा तो वह मानव के विकास में सहायक होगा। आज हम विज्ञान के माध्यम से तकनीकी प्रगति को उस ऊँचाई तक पहुँच चुके हैं जहाँ से लौटना भी सम्भव नहीं है। आज मनुष्य उस दोराहे पर खड़ा है, जहाँ पर उसे हिंसा और अहिंसा के दो राहों में से किसी एक को चुनना है। आज उसे यह समझना है कि वह विज्ञान के साथ किसको जोड़ना चाहता है। हिंसा को या अहिंसा को। आज उसके सामने दोनों विकल्प प्रस्तुत हैं। विज्ञान + अहिंसा = विकास। विज्ञान + हिंसा = विनाश। जब विज्ञान अहिंसा के साथ जुड़ेगा तो वह समृद्धि और शान्ति लायेगा किन्तु जब उसका गठबन्धन हिंसा से होगा तो संहारक होगा—अपने ही हाथों अपना विनाश करेगा।

आज विज्ञान के सहारे मनुष्य ने पाशविक बल संग्रहीत कर लिया है। वह उसके रक्षक ही रहे भक्षक न बन जाय वह उसे सोचना है। महावीर ने स्पष्टरूप से कहा था "अत्थि सत्येन परंपरं। नत्थि असत्येन परंपरं।" शस्त्र एक से बढ़कर एक हो सकता है किन्तु अशस्त्र से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। आज सम्पूर्ण मानव समाज को यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्णय लेना होगा कि वे वैज्ञानिक शक्तियों का प्रयोग मानवता के कल्याण के लिए करना चाहते हैं या उसके संहार के लिए। आज तकनिकी प्रगति के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कम हो गई है। आज विज्ञान ने मानव समाज को एक दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। आज हम परस्पर इतने निर्भर बन गये हैं कि एक दूसरे के बिना खड़े भी नहीं रह सकते किन्तु दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव के कारण हमारे हृदयों की दूरी अधिक विस्तीर्ण हो गई है। हृदय को इस दूरी को पाटने का काम विज्ञान नहीं अध्यात्म ही कर सकता है।

विज्ञान का कार्य है विश्लेषित करना और अध्यात्म का काम है संश्लेषित करना। विज्ञान तोड़ता है, अध्यात्म जोड़ता है। विज्ञान वियोग है तो अध्यात्म संयोग। विज्ञान पर-केन्द्रित है तो अध्यात्म आत्म-केन्द्रित। विज्ञान सिखाता है कि हमारे सुख-दुःख का केन्द्र वस्तुएँ हैं, पदार्थ हैं इसके विपरीत अध्यात्म कहता है कि सुख-दुःख का केन्द्र आत्मा है। विज्ञान की दृष्टि बाहर देखता है अध्यात्म अन्तर में देखता है। विज्ञान की यात्रा अन्दर से बाहर की ओर है तो अध्यात्म की यात्रा बाहर से अन्दर की ओर। मनुष्य को आज यह समझना है कि यदि यात्रा बाहर की ओर होती रही तो वह शान्ति जिसकी उसे खोज है कभी नहीं मिलेगी। क्योंकि बहिर्मुखी यात्री शान्ति की खोज वहाँ करता है जहाँ वह नहीं है। शान्ति अन्दर है उसकी बाहर खोज व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में एक रूपक याद आता है। एक वृद्धा शाम के वक्त कुछ सी रही थी। संयोग से अंधेरा बढ़ने लगा और सूई उसके हाथ से छूट कर कहीं और गिर पड़ी। महिला की झोपड़ी में प्रकाश का साधन नहीं था और प्रकाश के बिना सूई की खोज असम्भव थी। बुढ़िया ने सोचा क्या हुआ। अगर प्रकाश बाहर है तो सूई को वहीं खोजा जाये। वह उस प्रकाश में सूई खोजती रही, खोजती रही किन्तु सूई वहाँ कब मिलने वाली थी, क्योंकि वह वहाँ थी ही नहीं। प्रातः होने वाला था कि कोई यात्री उधर से निकला, उसने वृद्धा से उसकी परेशानी का कारण पूछा। उसने पूछा अम्मा सूई गिरी कहाँ थी। वृद्धा ने उत्तर दिया बेटा सूई गिरी तो झोपड़ी में थी किन्तु उजाला बाहर था इसलिए मैं यहाँ खोज रही हूँ। यात्री ने उत्तर दिया यह सम्भव नहीं है जो चीज जहाँ नहीं है वहाँ खोजने पर मिल जाय। सूर्य का प्रकाश होने को है उस प्रकाश में सूई वहीं खोजे जहाँ गिरी है। आज मनुष्य समाज की स्थिति भी उसी वृद्धा के समान है। हम शक्ति की खोज वहाँ कर रहे हैं जहाँ वह होती ही नहीं। शान्ति अध्यात्म में है अन्दर है। विज्ञान के सहारे आज शान्ति की खोज के प्रयत्न उस बुढ़िया के प्रयत्नों के समान निरर्थक ही होंगे। विज्ञान, साधन दे सकता है, शक्ति दे सकता है किन्तु लक्ष्य का निर्धारण तो हमें ही करना होगा।

आज विज्ञान के कारण मानव के पूर्वस्थापित जीवनमूल्य समाप्त हो गये हैं। आज श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया। आज मनुष्य पारलौकिक उपलब्धियों के स्थान पर इहलौकिक उपलब्धियों को चाहता है। आज के तर्क-प्रधान मनुष्य को सुख और शान्ति के नाम पर बतलाया नहीं जा सकता लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आज हम अध्यात्म के अभाव में नये जीवन-मूल्यों का सृजन नहीं कर पा रहे हैं। आज विज्ञान का युग है। आज उस धर्म को जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पारलौकिक जीवन की सुख-सुविधाओं के नाम पर मानवीय भावनाओं का शोषण करता रहा, जाना होगा। आज तथाकथित वे धर्म-परम्परायें जो मनुष्य को भविष्य के सुनहले सपने दिखाकर फुसलाया करती थी अब तर्क की पैनी-छैनी के आगे अपने को नहीं बचा सकती। अब स्वर्ग में जाने के लिये नहीं जीना है अपितु स्वर्ग को धरती पर लाने के लिये जीना होगा। विज्ञान ने हमें वह शक्ति दे दी है। जब स्वर्ग को धरती पर उतारा जा सकता है तब यदि हम इस शक्ति का उपयोग धरती पर स्वर्ग उतारने के स्थान पर धरती को नरक बनाने में करेंगे तो इसकी जवाबदेही हम पर ही होगी। आज वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग इस दृष्टि से करना है कि वे मानव-कल्याण में सहभागी बनकर इस धरती को ही स्वर्ग बना सकें। विनोबा जी ने सत्य ही कहा है, आज विज्ञान का तो विकास हुआ किन्तु वैज्ञानिक उत्पन्न ही नहीं हुआ। क्योंकि वैज्ञानिक वह है जो निरपेक्ष होता है। आज का वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों और पूंजी-पतियों के इशारे पर चलनेवाला व्यक्ति है। वह पैसे से खरीदा जाता है। यह तो वैज्ञानिक की गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक हैं। यदि वैज्ञानिक वैज्ञानिक नहीं बना तो विज्ञान मनुष्य के लिए घातक ही सिद्ध होगा। आज विज्ञान का उपयोग कैसा किया जाय इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं अध्यात्म के पास है। विनोबा जी लिखते हैं कि आज युग की मांग है। विज्ञान की जितनी ही शक्ति बढ़ेगी, आत्म-ज्ञान को उतनी ही शक्ति बढ़ानी होगी। आज अमेरिका इसलिए दुःखी है कि वहाँ विज्ञान तो अध्यात्म है नहीं अतः सुख तो है शान्ति नहीं। इसके विपरीत भारत में आध्यात्मिक विरासत के कारण मानसिक शान्ति तो है किन्तु समृद्धि नहीं। आज जहाँ समृद्धि है वहाँ शान्ति नहीं और जहाँ शान्ति वहाँ समृद्धि नहीं। इसका समाधान अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में निहित है। अध्यात्म शान्ति देगा तो विज्ञान समृद्धि। तब समृद्धि और शान्ति दोनों ही एक साथ उपस्थित होगी। मानवता अपने विकास के चरम शिखर पर होगा। मानव स्वयं अतिमानव के रूप में विकसित हो जायगा। किन्तु इसके लिए प्रयत्न करना होगा। बिना अडिग आस्था और सतत पुरुषार्थ के यह सम्भव नहीं।

आज विज्ञान ने मनुष्य को सुख-सुविधा और समृद्धि तो प्रदान कर दी फिर भी मनुष्य भय और तनाव की स्थिति में जी रहा है। उसे आन्तरिक शान्ति उपलब्ध नहीं है उसकी समाधि भंग हो चुकी है। यदि विज्ञान के माध्यम से कोई शान्ति आ सकती है तो वह केवल श्मशान की शान्ति होगी। बाहरी साधनों से न कभी आन्तरिक शान्ति मिली है न उसका मिलना सम्भव ही है। इस प्रसंग में उपनिषदों का एक प्रसंग याद आ रहा है। नारद जीवन भर वेद-वेदांग का अध्ययन करते रहे। उन्होंने अनेक विद्यायें (भौतिक विद्यायें) प्राप्त कर लीं किन्तु उनके मन को कहीं सन्तोष नहीं मिला। वे सनत्कुमार के पास आये और कहने लगे मैंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। मैं शास्त्रविद् तो हूँ

ऋग्वेदे भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं देवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां नक्षत्रविद्यां सपदेव जनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ ७।१।२ सोऽहं भगवोऽमन्त्रविदेवास्मि ना त्मवित् ७।१।३ छान्दोग्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु आत्मविद् नहीं। आज के वैज्ञानिक भी नारद की भाँति ही हैं। वे शास्त्रविद् तो हैं किन्तु आत्मविद् नहीं। आत्मविद् हुए बिना शान्ति को नहीं पाया जा सकता। यद्यपि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम विज्ञान और उसकी उपलब्धियों को तिलांजलि दे दें। वैज्ञानिक उपलब्धियों का परित्याग न तो सम्भव है न औचित्य पूर्ण है। किन्तु इनका अनुशासक होना चाहिए। अध्यात्म ही विज्ञान का अनुशासक हो, तभी एक समग्रता या पूर्णता आयेगी और मनुष्य एक साथ समृद्धि और शान्ति को पा सकेगा। ईशावास्योपनिषद् में जिसे हम पदार्थ ज्ञान या विज्ञान कहते हैं उसे अविद्या कहा गया है और जिसे हम अध्यात्म कहते हैं विद्या कहा गया है। उपनिषदकार ने दोनों के समन्वय को उचित बताते हुए उनका स्वरूप कहा है। वह कहता है जो पदार्थ विज्ञान या अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में, तमस में, प्रवेश करता है क्योंकि विज्ञान या पदार्थविज्ञान अन्धा है किन्तु साथ ही वह यह भी चेतावनी देता है कि जो केवल विद्या में रत हैं वे उससे अधिक अन्धकार में चले जाते हैं। अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते ततो य उ विद्यायाँ रताः ।९। ईशावास्योपनिषद। वस्तुतः वह जो अविद्या और विद्या दोनों के साथ उपासना करता है वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करता है अर्थात् वह सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाता है और विद्या के द्वारा अमृत प्राप्त करता है। विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोमयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥ ईशावास्योपनिषद्। वस्तुतः यह अमृत आत्म-शान्ति या आत्मतोष ही है। जब विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा तभी मानवता का कल्याण होगा। विज्ञान जीवन के कष्टों को समाप्त कर देगा और अध्यात्म आन्तरिक शान्ति को प्रदान करेगा। आचारांग में महावीर ने अध्यात्म के लिए 'अज्झत्थ' शब्द का प्रयोग किया है और यह बताया है कि इसी के द्वारा आत्मविशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः अध्यात्म कुछ नहीं है वह आत्म उपलब्धि या आत्म विशुद्धि की ही एक प्रक्रिया है उसका प्रारम्भ आत्मज्ञान से है और उसकी परिनिष्पत्ति आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अटूट निष्ठा में है। वस्तुतः आज जितनी मात्रा में पदार्थविज्ञान विकसित हुआ है उतनी ही मात्रा में आत्मज्ञान को विकसित होना चाहिए। विज्ञान की दौड़ में अध्यात्म पीछे रह गया है। पदार्थ को जानने के प्रयत्नों में हम अपने को भुला बैठे हैं। मेरी दृष्टि में आत्मज्ञान कोई अमूर्त, तात्विक आत्मा की खोज नहीं है वह अपने आपको जानना है। अपने आपको जानने का तात्पर्य अपने में निहित वासनाओं और विकारों को देखना है। आत्मज्ञान का अर्थ होता है हम यह देखें कि हमारे जीवन में कहाँ अहंकार छिपा पड़ा है, कहाँ और किसके प्रति घृणा और विद्वेष के तत्व पल रहे हैं। आत्मज्ञान कोई हौव्वा नहीं है वह तो अपने अन्दर झांककर अपनी वृत्तियों और वासनाओं को पढ़ने की कला है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त तकनीक के सहारे हम पदार्थों का परिशोधन करना तो सीख गये और परिशोधन से कितनी शक्ति प्राप्त होती है यह भी जान गये किन्तु आत्मा के परिशोधन की कला अध्यात्म विद्या के नाम से हमारे ऋषि-मुनियों ने हमें दी थी। आज हम उसे भूल चुके हैं। मात्र यही नहीं विज्ञान ने आज हमारा एक और जो सबसे बड़ा उपकार किया वह यह कि धर्मवाद के नाम पर जो अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास की तन्द्रा आ गई थी उसे तोड़ दिया है। इसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टूटना आवश्यक भी था क्योंकि परलोक की लोरी सुनाकर मनुष्य समाज को अधिक समय तक भ्रम में रखना सम्भव नहीं था। विज्ञान ने अच्छा ही किया, हमारा यह भ्रम तोड़ दिया, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भ्रम का टूटना ही पर्याप्त नहीं है। इससे जो रिक्तता पैदा हुई उसे आध्यात्मिक मूल्य-निष्ठा के द्वारा ही भरना होगा। यह आध्यात्मिक मूल्य निष्ठा उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा है जो जीवन को शान्ति और आत्मतोष प्रदान करते हैं। अध्यात्म और विज्ञान का संघर्ष वस्तुतः भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष है। अध्यात्म की शिक्षा यही है कि भौतिक सुख सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आत्मिक मूल्यों से परे सामाजिकता और मानवता के उच्च मूल्य भी हैं। महावीर की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को ही परममूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य हैं। अतः वह सुखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु ही शोषण और संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है जिससे वह स्वयं तो संत्रस्त होता ही है साथ ही साथ समाज को भी संत्रस्त बना देता है। इसके विपरीत अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। जैनाचार्यों ने कहा था सुख-दुःख आत्म-केन्द्रित है। आत्मा या व्यक्ति ही अपने सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है। वस्तुतः आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों में न होकर सद्गुणों में स्थित आत्मा में होती है। अध्यात्मवाद के अनुसार देहादि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का विसर्जन साधना का मूल उत्स है। ममत्व का विसर्जन और समत्व का सृजन यही जीवन का परममूल्य है। जैसे ही ममत्व का विसर्जन होगा समत्व का सृजन होगा, और समत्व का सृजन होगा तो शोषण और संग्रह की सामाजिक बुराइयाँ समाप्त होगी। परिणामतः व्यक्ति आत्मिक शान्ति का अनुभव करेगा। अध्यात्मवादी समाज में विज्ञान रहेगा किन्तु उसका उपयोग संहार में न होकर मानवता के कल्याण में होगा।

अन्त में पुनः मैं यही कहना चाहूँगा कि विज्ञान के कारण जो एक सन्त्रास की स्थिति मानव-समाज में दिखाई दे रही है उसका मूलभूत कारण विज्ञान नहीं अपितु व्यक्ति की संकुचित ओर स्वार्थवादी दृष्टि ही है। विज्ञान तो निरपेक्ष है वह न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है और इस उपयोग का निर्धारण व्यक्ति के अधिकार की वस्तु है। अतः आज विज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उसे सम्यक्‌दिशा में नियोजित किया जाय और यह सम्यक् दिशा अन्य कुछ नहीं यह सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की व्यापक आकांक्षा ही है। और इस आकांक्षा की पूर्ति अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

A COMPARISON OF YOGA SYSTEMS AS PROPOUNDED BY PATAÑJALĪ AND HARIBHADRA SŪRI

DR. GOKUL CHANDRA JAIN*

A comparative study of Yoga Systems as propounded by Patañjalī and Haribhadra Sūri can be a good topic for Doctoral Dessertation. A seminar paper has its own limitations. However, I will try to project some important points which may serve as outlines for further study.

First of all one should know the traditional background of the two exponents. Patañjali belongs to the ancient Sāṁkhya-Yoga School whereas Haribhadra to the Jaina School of Indian Philosophy.

Secondly, when Patañjalī propounded his doctrine, he might be well aware of the other Schools including Jaina School prevailing during his age, but certainly not with the exposition of Haribhadra, as he is later than Patañjalī.

Thirdly, when Haribhadra composed his works on Yoga many traditions and interpretations including Patañjalī were current.

Fourthly, Haribhadra was a Brāhmaṇa-Śramaṇa—a Brāhmaṇa turned into a Śramaṇa. And as a versatile scholar he had shouldered great responsibility of exploring the oneness of purpose of all the main streams of Indian wisdom, as soon as he adopted Śramanism.

And finally in the Śramanism which Haribhadra inherited, the term 'Yoga' had an absolutely different meaning than Patañjalī. It is significant in the Doctrine of Karma.

Umāsvāti says that actions of the body, the organ of speech and the mind is called yoga '*Kāyavāṅmanah karma yogah*' (Ts. 6/1). Actually the vibration of soul caused by the action of these three is yoga. Here yoga is activity, karma. It is differentiated into three kinds according to the nature of the cause, namely bodily activity, speech activity and thought activity i. e. *kāyayoga*, *vacanayoga* and *manoyoga*.

Bodily activity or the *kāya-yoga* is the vibration set in the soul by the molecules of the body. Speech activity or *vacanayoga* is the vibration set in the soul by the molecules composing the organ of speech. Thought activity or the *manoyoga* is the vibrations of the soul caused by the molecules composing the mind.

---

* H. O. D., Prakrit & Jainagam, S. S. U., Varanasi—221002.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

This three-fold activity i. e. yoga attracts the karmic matter. Therefore it is called influx, technically the *āsrava* (Ts. 6/2). Just as water flows into the lake by means of streams, so also karmic matter flows into the soul through the channel or medium of activity. Hence activity which is the cause of influx of karma is called influx or *āsrava*.

This type of yoga, we have had been performing since a beginning-less time and at present while reaping its result we are attracting new karmic matter which will result in future.

Here we must keep in mind one thing more, that we, and we alone are responsible for our own yoga i. e. karma or activity and will have to face the result of it. No one else can share in this yoga and its result. Even God, if there is any God, is not going to help in this matter. Therefore we are reminded by Umāsvāti that this yoga is of two kinds viz. *Śubha-yoga* and *Aśubha-yoga* i. e. virtuous activity and wicked activity which results in merit and demerit—'*Śubhah puṇyasyāśubhah pāpasya*' (Ts. 6/3).

What is good and what is evil ? Umāsvāti says that killing, stealing etc. are wicked activity and the opposites of these are good. We can say, what is natural is good and what is unnatural is bad.

From the real point of view, it is no doubt true that all activities are undesirable as every kind of activity is the cause of influx and bondage. In that case there would be no good activities at all. The Ācārya says that, that which purifies the soul, or by which the soul is purified is merit and that which protects or keeps the soul away from good is demerit.

Again this influx is of two kinds, viz. that of persons with passions, which extends transmigration, and that of persons free from passions, which prevents or shortens it "*sakaṣāyākaṣāyayoh*" (Ts. 6/4). The passion is called *kaṣāya*.

The individual self attracts particles of matter which are fit to turn into karma, as the self is actuated by passsion. This is called bondage "*sakaṣāyatvājjīvah karmaṇo yogyan pudgalānādatte sa bandhah*" (Ts. 8/2).

Now we turn to next stage i. e. *saṁvara*. How to stop the influx which is the cause of taking in new karmic matter ? Saṁvara is the obstruction of the inflow of karmic matter. It is so called because it stops the influx. This saṁvara or stoppage of karmic matter is real yoga. It is nearer to the definition of yoga given in the Yoga-sūtra of Patañjali.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

As already stated, the term saṁvara in Jainism is defined as *'āsravanirodhaḥ'* the control or restraint of Āsrava. The term *āsrava* is defined as *'Kāyavaṅmanaḥkarma yogaḥ. Sa āsravaḥ'* that is the activity (yoga) of body, speech and mind is āsrava. The term saṁvara comes to mean the restraint (nirodha) of the activity of the body, speech and mind.

Similarly the term yog-asis defined in the Yoga-sūtra as *"Yogaḥ Cittavṛtti-nirodhaḥ"* the restraint of mental activity or modification.

Thus both the terms *saṁvara* and *yoga* signify restraint, but while in the former the restraint is of *āsrava* the threefold activity, in the later it is only of mental activity. From this it can easily be seen that there is no essential difference between the two for the activity of the body and that of speech necessarily presuppose mental activity.

Yoga that is *āsrava* in Jainism is two fold *sakaṣāya-yoga* and *akaṣāya-yoga.* The Yogasūtra mentions two types of *cittavṛttis* namely *kliṣṭa* (Impure) and *akliṣṭa* (Pure). These two terms *kaṣāya* and *kleśa* have the same connotation. According to Jainism the *sakaṣāya-yoga* has to be first ended and then *akaṣāya-yoga.* So too in the Yogaśāstra *kliṣṭa Cittavṛttis* have to be restrained first and then only the *akliṣṭa cittavṛttis.*

Umāsvāti in his *Tattvārtha-sūtra* describes the aides to *saṁvara* which are as follows :—*'sa gupti-samiti-dharma-anuprekṣā-pariṣahajaya-cāritraiḥ. tapasā nirjarā* ca.' (Ts. IX/2).

1. Gupti-Self-control 2. Samiti-Self-regulation 3. Dharma-moral virtues 4. Anuprekṣā-contemplation 5. Pariṣahajaya-conquest of 6. Cāritra-conduct and 7. Tapa-austerity.

The Jainas admit austerity both physical (*bāhya*) and mental (*ābhyantara*) or external and internal, which effects stoppage (*saṁvara*). External austerity has six subdivisions, viz. 1. *Anaśana*-fasting. 2. *Avamaudarya*-decreased diet. 3. *Vṛttiparisaṁkhyāna*-fixing the type of diet by the exclusion of all other types. 4. *Rasaparityāga*-giving up delicious diet. 5. *Viviktaśayanāsana*-selecting a lonely habitat and 6. *Kāyakleśa*-mortification of the body. Internal austerity has the following six subclasses :— 1. *Prāyaścitta*-expiation, 2. *Vinaya*-humility, 3. *Vaiyāvṛttya*-service of worthy people, 4. *Svādhyāya*-study, 5. *Vyutsarga*-giving up attachment to the body etc., and 6. *Dhyāna*-concentration.

Of these, it is easy to see that *cāritra* conforms to Pātañjala *yama* and Buddhist *śīla.* Internal austerity like *Dhyāna* etc. resemble *pratyāhāra* of Pātañjala and *Samādhi* of Buddhism. Similarly external austerity like fasting etc. corresponds to the third *niyama* given by Patañjali viz. *tapas.* Internal austerity like *svādhyāya* may be compared to the Pātañjala *svādhyāya* which constitutes the fourth of the five *niyamas.*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Haribhadra composed about half a dozen works on the science of yoga. In his time many traditions and interpretations of yoga were current. He collected cream from all these traditions and interpretations and utilized it in enriching the Jaina yoga literature. Yogadṛṣṭi-samuccaya and Yogabindu are two major works on yoga in Sanskrit by Haribhadra and Yogaśataka and Yogaviṁśikā in Prakrit. In the first two texts Haribhadra mainly discusses the problem of an ideal personality.

In Yogadṛṣtisamuccaya Haribhadra attempts a novel scheme of spiritual tradition. He divides the spiritual evolution into eight stages or *dṛṣṭis*. In this work he has divided *yoga* in three types viz. *icchā-yoga*, *śāstra-yoga* and *sāmarthya-yoga*. The eight *dṛṣṭis* are 1. *Mitrā* 2. *Tārā* 3. *Balā* 4. *Dīprā* 5. *Sthirā* 6. *Kāntā* 7. *Prabhā* and 8. *Parā*. These names and the basic concepts underlying them seem to have been borrowed from some non-Jaina tradition because there is almost nothing typically Jaina about this eight-fold division. Still we can compare the fourteen *guṇasthānas* with these eight view points as well as with Patañjali's list of yoga-sūtra.

Acārya Haribhadra has described three types of yogins in his other work called Yogabindu, viz. 1. *apunarbandhaka*, 2. *samyagdṛṣṭi* or *bhinna-granthi*, and 3. *cāritrin*. The *cāritrin* is further divided into two types, viz. 1. *Deśavratins*, 2. *Sarvavratins*. The *apunarbandhaka* has *udaya* of *darśana-mohanīya* as well as *udaya* of all types of *kaṣāya*. The *samyagdṛṣṭis* and the *cāritrins* of *deśavratitype* have *kṣayopaśama* or *kṣaya* of *darśanamohnīya*, *kṣayopaśama* or *kṣaya* of *anantānubandhī*, *kṣayopaśama* of *apratyākhyāna* and *udaya* of the rest of *kaṣāyas*. The *cāritrin* of *sarvavirata* type (*kṣapaka-śreṇī-ārohin vītarāga* and *kevalin*) have *kṣaya* of *darśanamoha* and *kṣaya* or *kṣayopaśama* of *anantānubandhī* and *apratyākhyānāvaraṇa*. The *Cāritrin* of *kṣapakaśreṇīārohin* is rendering *kṣaya* of all types of karmas. The *vītarāga* and *kevalins* both have *kṣaya* of all the karmas.

In the description of *cāritrin* Haribhadra gives an exposition of the five stages of *yoga*, namely, 1. *Adhyātma* or contemplation of truth accompanied by moral conduct, 2. *Bhāvanā* or repeated practice in the contemplation accompanied by the steadfastness of the mind, 3. *Dhyāna* or concentration of mind, 4. *Samatā* or equality and 5. *Vṛtti-saṁkṣaya* or the annihilation of all the traces of karmas. According to Haribhadra the first four and the last one are respectively comparable to the *saṁpra-jñāta* and *asaṁprajñāta samādhi* as described by Patañjalī.

This description of the stages of spiritual development differs from the one found in the Yogadṛṣṭi-samuccaya, in regard to terminology, classification and style. The subject matter of Yogaśataka closely resem-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

bles with that of the Yoga-bindu and most of the topics found in it are summarised in the Yoga-śataka.

Yoga-viṁśikā gives a very brief sketch of yoga. It does not refer to the initial stages, but discusses only the advanced stages of spiritual development. All spiritual and religious activities are considered by Haribhadra as *yoga* because they lead to *mokṣa* but special importance should be attached, he says, to five kinds of activities viz. 1. *Sthāna*-practice of proper posture, 2. *Ūrṇā*-correct utterance of sound, 3. *Artha*-proper understanding of the meaning, 4. *Ālambana*-concentration on the image of Tīrthaṅkara in his full glory and 5. *Anālambana*-concentration on his abstract attributes. Of these, the first two constitute external spiritual activity *karma-yoga* and the last three internal spiritual activity *jñāna-yoga*.

Haribhadra further says that these activities can be properly practised only by those individuals who have attained to the fifth or a still higher stage of spiritual development i.e. *guṇasthāna*, viz. *Deśacāritrin* and *Sarva-cāritrin*. One reaches the consummation of the above activities in the following order : 1. *icchā*, 2. *Pravṛtti*, 3. *sthairya* and 4. *siddhi*. At the outset one develops an interest in these activities and comes to have a will i.e. *icchā* for practising them. Then he takes an active part in them and begins actual practice i.e. *pravṛtti*. Gradually he becomes steadfast in them and achieves stability, i.e. *Sthairya*. Finally he gains mastery, i.e. *siddhi* over the activities.

These various types and sub-types of *yoga* become possible as a result of the *kṣayopaśama* of this or that sort which the souls destined to attain *mokṣa* earn through their evincing an attitude of faith, attachment etc. towards yoga. Haribhadra says that a feeling of compassion (for those in misery), a feeling of disgust (for the worldly existence), a feeling of eagerness (for mokṣa), a feeling of calm (in general) are the respective result of *icchā-yoga* etc.

Each of the activities mentioned above is mastered in the following order. First of all one is to master the posture, i. e. *Sthāna*, then correct utterance, i. e. *Ūrṇā*, then meaning, i. e. *Artha*. After that one should practise concentration upon an image, i. e. *ālambana*, and finally one should attempt at mastery over the concentration upon the abstract attributes of an emancipated soul i. e. *anālambana*. This is a full course of yogic practice.

One may practise these spiritual activities either out of love (*prīti*), or reverence (*bhakti*), or as an obligatory duty prescribed by scriptures

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(*āgama* or *vacana*) or without any consideration (*asaṅga*). When a spiritual activity is done out of love and reverence, it leads to worldly and other worldly prosperity (*abhyudaya*). And when it is done as duty without any consideration whatsoever, it leads to final emancipation.

As a result of practising the *anālambana* type of *yoga* one crosses the ocean of delusion, a crossing that marks the completion of the process called *śreṇī-ārohaṇa*, after that one first attains omniscience, then performs the meditative trance that involves the cessation of all bodily, mental and vocal operations and finally attains *mokṣa*,

Thus we can conclude that :—

1. Patañjali and Haribhadra have used different terminology in the expositions of their Yoga Systems. Yet there is much similarity in practice.

2. The metaphysical foundations and ethical code of conduct are the essential part of the two Systems, and that spirit is visible at every step in the exposition.

3. Some fundamental concepts play important role in both the Systems viz. *Puruṣa* and *Prakṛti* in Patañjali and *Jīva* and *Ajīva* in Haribhadra. Theories of bondage and liberation are the deciding factors in formulation of code of conduct and spiritual stages.

A comparative study of Yoga Systems propounded by Patañjali and Haribhadra Sūri may be fully consistent to the spirit of Haribhadra.

46, Vijayanagar Colony
Bhelupur
VARANASI-221 010.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE CONCEPT OF MOKṢA IN JAINISM

Dr. KUMAR ANAND*

Jainism is primarily an ethical system. It is mainly concerned with the ethical problem of removal of misery. But the problem of getting rid of miseries presupposes the existence of the soul and its bondage by the *Karmas* and hence the removal of Kārmic limitation from the soul leads to liberation. Thus Jain Ethics is founded on the metaphysics. No doubt, in Jainism metaphysics is subservient to ethics, but both are the two sides of the same coin.

The gist of Jaina thought consists in showing as to how the soul gets involved in bondage by the *Karmas* and the achievement of liberation by making itself free from Karmic influence. Hiralal Jain sums up the Jaina philosophy : "The living and the non-living, by coming into contact with each other, forge certain energies which bring about birth, death, and various experiences of life; this process could be stopped, and the energies already forged destroyed, by a course of discipline leading to salvation. A close analysis of this brief statement shows that it involves seven propositions : Firstly, that there is something called the living; secondly, that there is something called the non-living; thirdly, that the two come into contact with each other; fourthly, that the contact leads to the production of some energies; fifthly, that the process of contact could be stopped; sixthly, that the existing energies could also be exhausted; and lastly, that salvation could be achieved."[1] The analysis of the statement is based on the seven *tattvas* (categories or realities) of Jainism viz. *Jīva*, *Ajīva*, *Āśrava*, *bandha*, *saṁvara*, *nirjara* and *mokṣa*.[2] Out of seven tattvas *Jīva* and *Ajīva* are the primary entities from the metaphysical point of view and the rest five are mere corrolaries in the scheme of obtaining deliverance. Thus, Jaina classification of *tattvas* is the well planned scheme of getting liberation.

Jīva (Soul) and *Ajīva* (non-soul) are the two exhaustive fundamental categories of Jainism. This division resembles much with that of the division of *Puruṣa* and *Prakṛti* of *Sāṁkhya*. But this similarity is apparent. J. N. Sinha, therefore, observes : "The *Sāṁkhya* dualism is more

---

* H. O. D., Ancient Indian History and Asian Studies, Pranab Chatterji Mahavidyalaya, Buxar.

1. Jain, Hiralal, *The Cultural Heritage of India*, Vol. I, p. 403.
2. Jainī, J. L. (Ed. and Tr.), *Tattvārtha Sūtra*, I. 4.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

radical than the Jaina dualism. The *Puruṣa* according to the *Sāṁkhya* can never be united with *prakṛti* since they are heterogeneous in their nature. But the *jīva*, according to the Jaina is united with the particles of *karma*-matter and entangled in bondage."[3]

The union of *Karma*-matter with soul is bondage in Jainism. *Karma*-matter infects the soul, overpowers its intrinsic qualities and keeps it tied to the cycle of worldly existence. Though the soul is inherently perfect and endowed with *Ananta-catuṣṭaya* viz. infinite knowledge, infinite faith, infinite power and infinite bliss, yet due to karmic obstacle these infinite potentialities seem to disappear as the sun covered with cloud seems to lose its inherent capacity to illuminate the world. But just after the removal of the patch of cloud the sun begins to illuminate in its natural way, so the soul after removal of the karmic obstacle begins to enjoy its real and native nature. Now, the problem is as to how the soul comes to acquire *karma*-matter and entangles with it or how the pure soul is bound. According to Jainism bondage is caused by *karma* acquired by the soul itself. Jaina concept of *karma* is unique in Indian philosophy as it is considered to be materialistic in nature and so it is better known as *karma-pudgala* (*karma*-matter). "*Karma* is not only subjective, as Buddhists think, but also objective. The conception of karma as *dravya* in addition to its character as *bhāva* is unique in Jainism."[4] The activities of body, speech and mind, which is technically known as *Yoga* (vibrations),[5] attract the *karma* particles. The inflow of *karma*-particles is technically called *Āśrava*.[6] The mere inflow of these *karma* particles does not become effective unless it is backed by four fundamental passions viz. anger (*Krodha*), pride (*Māna*), hypocrisy (*Māyā*) and greed (*Lobha*).[7] In the advanced stage of spiritual progress when passions are totally calmed down but vibrations remain and consequently inflow of *karma* particles but it is non-effective so technically known as *iryāpatha*.[8] The inflow of *karma* particles due to vibrations accompanied with passions are effective and technically known as *sāmparāyika*. The four basic passions are technically known as *Kaṣāya* (sticky substances) because with these evil thoughts, the *karma* particles stick to soul. Thus the *jīva*

3. Sinha, J. N., *A History of Indian Philosophy*, Vol. II, p. 1181.
4. Tatia, Nathmal, *Studies in Jaina Philosophy*, p. XIX.
5. Jaini, J. L., *op. cit.*, VI. I.
6. *Rājavartikha* of Akalankadeva, I. 4.16.
7. Jaini, J. L., *op. cit.*, VI. 5.
8. Ibid., VI. 5.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

infected with passions takes on suitable *karma* particles in accordance with its deeds which is known as bondage.[9]

Karma is intimately bound up with the soul. *Karma* as the accumulated result of action is generally known as *saṁskāra* and is called in Jainism *bhāva-karma*. The *bhāva-karma* attracts material particles fit to manifest itself. They stick to the soul and give a form to it. Such group of material particles is called *dravya-karma* and the body formed by *dravya-karma* is known as karmic body (*Kārmaṇa śarīra*). The karmic body is the ground on which the gross body is built up. The gross body, born of the parents, known as *Audayika śarīra* is cast away at the time of death. But throughout the sāṁsāric life of the soul the karmic body is associated with it and only with its disintegration the final liberation is attained. Pandit Sukhlal Sanghvi observes in this context : "Although a cursory study shows that the conception of *dravya-karma* is a peculiarity only of the Jaina doctrine of *karma* and is absent in the doctrines of the other systems, yet a deep study will clearly show that this is not the fact. In each systems as the *Sāṁkhya*, the *Yoga* and the *Vedānta*, there is the description of the subtle or the *liṅga* body which transmigrates to different births. This body has been regarded as constituted by such evolutes of *Prakṛti* (primordial principle of matter), the ego-sense (*abhimāna*), the mind (*manas*), etc. and is obviously the substitute for the karmic body of the Jaina. Even the *Nyāya-Vaiśeṣika* school, which does not clearly admit such a subtle body, has accepted the atomic mind which transmigrates from one birth to another. The fundamental basis of the conceptions of the subtle of the karmic body is the same. If there is any difference it is only with reference to its mode of description and elaboration and classification."[10]

The *Yoga* (vibrations) accompanied with *Kaṣāya* (Passions) attract the *karma* particles which invade the soul and settle down on it as the dust particles settle down on the oil spilled cloth. Thus *yoga* backed by *Kaṣāya* is the cause of *Āsrava* (inflow of *karma*-particle) and the inflow of *karma* particle which form the kārmaṇa-śarīra (Karmic body) is the cause of bondage. The inflow of *karma*-particles is of two kinds-*bhāvāsrava* (subjective inflow) and *dravyāsrava* (objective inflow). The entertainment of passions is called *bhāvāsrava* and as a result of it the invasion of *karma* particles is called *dravyāsrava*. *Bhāvāsrava* consists in the idea entertained and *dravyāsrava* consists in the actual attack of *karma*-matter. *Bhāvāsrava* is antecedent to *drāvyāsrava* only logically but actually both

9. Ibid., VIII, 2-3.
10. Jain, Hiralal, *op. cit.*, p. 438.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

occur at the same time. The moment one entertains the passions in accordance with the nature of that thought the inflow of karma particles takes place simultaneously.

Like *āsrava* the bondage is also of two kinds-*Bhāvabandha* (subjective bondage) and *Dravyabandha* (objective bondage). The cause of bondage lies in the entertainment of passions and consequently happens the actual contact of soul with *karma*-matter. So *Bhāvabandha* is a psychical state in which the *jīva* is infected with passions and *Dravyabandha* is the actual association of the soul with *karma* matter. Here also *Bhāvabandha* is prior to dravyabandha only logically. Temporarily both take place at the same time. The moment one is infected with karma particles.

Embodiment of soul is bondage. In this state the soul is considered to be co-extensive with the body it possesses (*Svadeha parimāna*). Thus, "the soul possesses, in common with karmic matter with which it is associated, material form (*mūrtatva*) which is regarded as only a characteristic of the material things."[11] S. Chatterjee and D. M. Dutta make it more clear by pointing out that "the Jainas conceive the soul primarily as living being (*jīva*). Consciousness is found in every part of living body, and if consciousness be the character of the soul, the soul should be admitted to be present in every part of the body and, therefore, to occupy space.[12] The soul does not fill the space like a material thing but like flight of the lamp that pervades the room in which the lamp is put.[13] As the soul is co-extensive with body in the state of worldly existence, so we find interpenetration (Saṃśleṣa) of matter and soul in the living body. This interpenetration is like the mixture of milk and water or of fire and iron in a heated iron ball.

The contact or *karma* particles is of two kinds. The good (*puṇya*) activities cause the inflow of meritorious *karma* particles leading to happy worldly existence but the bad (*pāpa*) activities cause the inflow of demeritorious *karma* particles leading to unhappy worldly life.[14]

Nature of *Karma* determines the nature of bondage. *Karma* affects the soul in different ways. Bondage depending on the nature of *karma* is known as *Prakṛti-bandha*. *Karma* is of eight kinds.[15] Again, these eight kinds of *karma* can be put into two broad main classes (1) *Ghātīyā*

11. Tatia, Nathmal, *op. cit.*, p. 227.
12. Chatterji, S. C. and Dutta, D. N., *An Introduction* to *Indian Philosophy*, p. 94.
13. Jaini, J. L., *op. cit.*, V. 16.
14. Ibid. VI. 3-4.
15. Ibid. VIII. 5.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Karma (destructive *karma*) (2) *Aghātīyā Karma* (non-destructive karma). *Ghātīyā karma* obscures the nature of soul and also retards the moral progress. *Aghātīyā karma* neither obscures the real nature of soul nor retards the moral progress without *Ghātīyā karmas.*

We know that vibrations (*Yoga*) moved by passions (*Kaṣāya*) attract the *karma* matter. "Here it is necessary to distinguish between the functions of vibrations and passions. The length of duration (*Sthiti*) and intensity of fruition (*Anubhāga*) of the bondage between the soul and the karmic matter attracted depend upon the nature of the passions of the soul. The stronger the passions the lengthier and intenser are the duration and fruition of the bondage".[16] Thus nature of passions determine the duration of attached karma particles to the soul and also the intensity of sticking *karma* particles to the soul for fruition. Duration of bondage is called *sthiti-bandha* and intensity of bondage is called *anubhāga bandha.*

The *Yoga* (activities) is the cause of *āsrava* (inflow of karma-matter). *Karma* particles always vary in number depending on the greater or lesser activities (*Yoga*). Nathmal Tatia says : "The volume of karmic matter attracted varies directly as the measure of the activity of the soul. In other words, the more the activity or vibration of the soul the greater is the influx of matter attracted......Of course, the nature of the activity itself of the soul is determined by passions."[17] The volume of *karma* matter attracted by activities (*Yoga*) may occupy a small or great portion of the soul. The extent of pollution of *Jīva* made by *karma* particles is known as *pradeśa bandha.*

From the above discussion it is clear that *Dravyabandha* (Objective bondage) is of four kinds according to the nature (*Prakṛti*) of *karma,* length or duration (*Sthiti*) of *karma,* intensity (*anubhāga*) of *karma* and the number of *karma* particles polluting the portion (*Pradeśa*) of the soul.[18]

We have seen that inflow of *karma* matter (*āsrava*) attracted by activities (*Yoga*) tinged with passions (*Kaṣāya*) is the cause of bondage. *Yoga* is the external condition of bondage and *Kaṣāya* is the internal condition of bondage. Activities (*Yoga*) moved by passions (*Kaṣāya*) are only effective to force inflow of *karma* particles. But the passions themselves ultimately spring from the ignorance (*mithyātva*). *Mithyātva* (Perversity) is the root of all evils. "The Jaina view of *avidyā* implies erroneousness not in knowledge only, as usually conceived, but in attitude

16. Tatia, Nathmal, *op. cit.*, p. 235.
17. Ibid.
18. Jaini, J. L., *op. cit.*, VIII. 3.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

and conduct as well."[19] Making it clear Nathmal Tatia says : "Perverse view or wrong attitude vitiates the whole outlook, and consequently whatever knowledge or action there is, becomes vitiated (*mithyā*). The perversity of knowledge and conduct depends upon the perversity of attitude. The perverse attitude (*Mithyā darśana*) defiles, as it were, the very texture of the soul; and it is but natural that all the functions of the soul should be defiled."[20] Thus, Jainism holds that perverse attitude (*Mithyā darśana*), perverse knowledge (*Mithyā jñāna*) and perverse conduct (*Mithyā caritra*), all the three together constitute the cause of bondage. To be more close and elaborate *Mithyā-darśana* (perverse attitude), *Avirati* (vowlessness), *Pramāda* (carelessness), *Kaṣāya* (passions) and *Yoga* (activities) are the five conditions of bondage.[21]

Thus liberation consists in escaping from the sāṁsāric cycle of four *gatis* i. e. from the cycle of births and deaths. But it is *karma* that keeps the soul tied to the cycle of worldly existence. No doubt, after producing its effect the particular *karma* is purged from the soul, and if this process of discharging the fruit goes on uninterruptedly all the taint of *karma*-matter must be washed off. But the case is not so simple, as the soul is not only being purged off, it also goes on acquiring *karmas* all the time by its activities. Thus purging and binding both happen together. So, what is required for achieving liberation is the stoppage of acquiring fresh karma. The control and arrest of fresh inflow of karma is technically known as *Saṁvara*. Umaswami says : To stop the *āsrava* is *Saṁvara*.[22] Thus *Saṁvara* is opposite to and converse of *āsrava*. "As a lage tank, when its supply of water has been stopped, gradually dries up by the consumption of water and by evaporation, so the *Karman* of a monk, which he acquired in millions of births, is annihilated by austerities, if there is no influx of bad *karman*.[23]

Now as the arrest of *āsrava* is *saṁvara* and we know that there are two kinds of *āsrava* i. e. *bhāvāsrava* (Subjective inflow) and *dravyāsrava* (Objective inflow), so accordingly its arrest (*Saṁvara*) is also of two kinds i. e. *bhāvasaṁvara* (subjective arrest) and *dravyasaṁvara* (objective arrest). Thus the check of *bhāvasrava* related to the infection of passions is known as *bhāvasaṁvara* (Subjective arrest) and the check of *dravyāsrava* related to the actual invasion of *karma* particles is known as *dravyasaṁvara* (Objective arrest). The two kinds of *saṁvara* hold the same relation between

19. Tatia, Nathmal, *op. cit.*, p. XIX.
20. Ibid., p. 147.
21. Jaini, J. L., *op. cit.*, VIII. 1.
22. Ibid, IX. 1.
23. Maxmuller, F (Ed.), *Sacred Books of the East*, Vol. XIV p. 174.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

them as is found between the two kinds āsrava i. e. one is prior to the other only logically but actually both occur at the same time.

The best way of arresting the inflow of fresh *karma* particles lies in disallowing the operations of those causes which open channels for the entrance of *karma* particles into the soul. In addition to the stoppage of the inflow of new *karma* particles (*saṁvara*) the purging off the old *karma* particles is also essential, because merely the arrest of inflow of fresh *karma* particles does not bring about complete dissociation of the soul from the matter unless already accumulated *karma* particles are purged off too. The process of destruction of *karma* particles is technically known as *Nirjarā*. It is also of two kinds—*Bhāva nirjarā* (Subjective destruction) and *Dravya nirjarā* (Objective destruction). The first is related to thought activity which brings about the change in the soul by virtue of which the destruction of *karma* particles takes place, and the second is related to the actual destruction of the *karma* particles. The two kinds of *Nirjarā* hold the same relation between them as is found between the two kinds of *Saṁvara*, i. e. one is antecedent to other only logically but factually both occur simultaneously.

Now, the actual destruction of *karma* particles is possible either by allowing the *karma* to produce its effect in natural course or by shedding away *karma* from the soul before producing the effect. The former is called *Savipāk-nirjarā* and the latter is called *Avipāk-nirjarā*. Now it is the second that occupies the most important position as it is the chief means for destroying the accumulated *karma* by self-effort. In order to dry up the old stored *karma* Jainism strongly recommends the practice of penance.[24] In the support of it Dr. Dayanand Bhargava says "This is based on the psychological law of habit. An old habit can be broken only by acting against it forcibly and purposely. Our attachments are deep rooted and can be uprooted only by hard austerities....Repeated blows of voluntary infliction brea . the old habits and those impressions (*Sāṁskāras*) which lead to further birth.[25] The penances are external (*bāhya*) and internal (*abhyantara*).

As represented by the Jainas, the advance of the individual toward perfection and emancipation is the result of an actual physical process of cleansing taking place in the sphere of subtle matter—literally a cleansing of the crystal-like life-monad."[26] But all the process of cleansing either by arresting the inflow of fresh *karma* particles (*Sāṁvara*) or by purging

24. Jaini, J. L., *op. cit.*, IX. 3.
25. Bhargava, Dayanand, *Jaina Ethics*, pp. 69-70.
26. Zimmer H., *Philosophics of India*, p. 251.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

off the old *karma* particles (*nirjarā*) ultimately aims at the complete dissociation of the soul from *karma* particles. Activities (*Yoga*) accompanied with passions (*Kaṣāya*) lead to this association of soul with matter. The passions, which set in motion all activities themselves are grounded in the ignorance (*mithyātva*). So ultimately liberation is attained when ignorance is at the end. As ignorance does not consist in perverse knowledge but in perverse attitude and perverse conduct as well, so knowledge also does not consist in right knowledge alone but in right attitude and right conduct too. Knowledge without right attitude is impotent and knowledge without conduct is empty. But the spiritual journey begins with the right attitude. It is the perverse attitude that vitiates the knowledge and action of a person, so the right attitude occupies the key position. It is the right attitude that turns the soul in the right direction. But right knowledge and right conduct are no less important because it is the right knowledge which illumines the way and helps the aspirant in the realisation of truth and it is the right conduct which ultimately leads to the goal by cleansing the karmic obstacles. The necessity of combining the three is brought out very nicely in the *Uttarādhyāyana* (XXVIII, 30) : "Without (right) knowledge there is no virtuous conduct, without virtues there is no deliverance, and without deliverance there is no perfection."[27] Thus right attitude (*Samyag darśana*), right knowledge (*Samyag-jñāna*) and right conduct (*Samyag-cāritra*) together constitute the path of liberation.[28] These three are known as *Ratna-Traya* (three jewels) in Jainism.

When liberation is attained the soul is relieved of all karmic particles. First of all, *Mohanīya* (deluding) *karmas* are completely destroyed, as these *karmas* are the causes of *saṁsāra* (Wheel of worldly existence). The *Jñānāvaraṇīya* (knowledge obscuring), *Darśanāvaraṇīya* (faith obscuring) and *Antarāya* (Obstructive) *karmas* are destroyed simultaneously with the destruction of four destructive (*Ghātīya*) *karmas* there appears lordship in the soul. This is the stage when the soul becomes enlightened (*Buddha*), victor (*Jina*) and omniscient (*Kevalīn*).

At this stage, the action does not cling to the soul because he performs action without passion (*kaṣāya*) and we know that it is *kaṣāya* that keeps *karma*-matter firm in the soul.[29] But the *kevalīn* (omniscient) has to destroy the four non-destructive (*Aghātīya*) karmas too. After destruction of all *karmas*, all causes of embodiment are completely removed and the Soul leaves the body instantly and moves upward to the

27. Maxmuller, F. (Ed.), *op. cit.*, Vol. XLV, p. 156.
28. Jaini, J. L., *op. cit.*, I. 1.
29. Ibid., VI. 5.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

summit of mundane space technically known as *Siddhaśila*. This *Siddhaśila* is the abode of the omniscient soul. Dr. Radhakrishnan writes : "So *mokṣa* is said to be eternal upward movement. On liberation the soul goes upward, because of the momentum due to its previous activity, the non-existence of the relation to the elements which kept it down, breaking of the bondage and its natural tendency to go upwards."[30] The abode of omniscient souls is described as "slightly inclined (*iṣatprāgbhāva*), which is whiter than milk and pearls, more resplendent than gold and crystal, and has the shape of a divine umbrella."[31] Assigning the reason for the abode of omniscient souls Dr. Ramji Singh points out that "this is a new conception. The Vedic conception regards *Ātman* as all-pervasive. The Buddhists do not accept any such things as *Āaman*; hence they do not posit a locus of Mokṣa (*Mokṣa-stana*)....But the Jaina concept of *Dharma* and *Adharma* (medium of motion and rest), present in each object leads us to think there must be a fixed state where the motion must stop."[32]

We have seen that during the interval period between enlightment and actual liberation the aspirant is called *kevalīn* (omnicient Victor *Jīna*), but he becomes a *Siddha* (the Perfected) at actual liberation. Thus, it recognises two kinds of *mokṣa*, *bhāva mokṣa* (subjective liberation) and *dravyamokṣa* (objective liberation). The first is attained when the four *Ghātīya karmus* (destructive actions) are destroyed and the second is attained when all *Aghātīya karmas* (non-destructive action) are destroyed.[33] The *bhāva-mokṣa* of Kunda-kunda and *kevalīn* of Umaswami are very similar to the concept of *Jīvan-mukti*, as "At this stage", writes E. O. James, "it is only a matter or awaiting the final dissolution, a process that may be hastened by self training".[34] But the concept of *Jīvan-mukti* of Hinduism is logically sound and ontologically more perfect than the concept of *Kevalīn* or *bhāva-mokṣa* of Jainism. Dr. A. K. Iad therefore observes, "The *Jivanamukta* is completely enlightened—as enlightened as the *Kevalī* of the Jainas,—nay in a sense he is more. The soul of the *Kevalī* is still to be dissociated from the non-destructive (*aghātīya*) actions which according to them constitute the cause of bondage but the *Jīvanamukta* of vedānta has to exhaust only the *Prārabdha karmas* which themselves are not among the causes of bondage".[35]

---

30. Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy*, Vol. I, p. 333.
31. Zinumer, H., *op. cit.*, p. 258.
32. *The Philosophical Quarterly*, April 1963, Vol. XXXVI, No. I, pp. 65-66.
33. *Rājavārtika*, V. 16, 8-9.
34. James, E. O., *Comparative Religion*, p. 169.
35. Lad, A. K., *The Concept of Liberation in Indian Philosophy*, p. 84.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Thus we have seen that the Jaina philosophy accepts the constitutional freedom of the Soul, so the Soul is endowed with four infinities and when the soul is infected by the *karmas* its constitutional freedom appears to be lost. So the constitutional freedom of the soul is a logical necessity and spiritual discipline paves the way for the attainment of the constitutional freedom. Thus the attainment of perfect freedom is *mokṣa*.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain: Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

JAINA THEORY OF SKANDHAS OR MOLECULES

N. L. JAIN*

Skandha : Definition of a Specific Term

Primarily, the postulate of two classes of mattergy-anu (atom) and skandha (molecules) based on basic conceptual structure of matter is most important among the many classifications. The molecules of the current times are now equated to skandhas. They are comparatively gross and perceivable. They could therefore be studied and described in an intelligible way. They are treated first in preference to finest anus or atoms. They are like trunk of a tree supporting the material universe.

The term skandha is a typical and specific term in Jaina philosophy representing a unit of matter different from atoms but composed of them. The scriptures define the term quite clearly with the following points :

(i) Molecules are aggregates or combination of atoms.[1] They are non-natural modifications dependant on other objects.[2]

(ii) They are gross and fine in forms. Some of them are visible to the eye while others may not be visible.

(iii) The molecules in the matter are in a state of motion caused internally or externally.[3]

(iv) They can be taken by hand, recieved or bonded with others and handled as desired.[4]

(v) There are smaller molecular entities too like those formed from aggregation of two atoms. They may not be satisfying (iv) above, still by interpolation, they are also called molecules—of course fine ones.[5]

(vi) They are characterised by the sound, bonding, division, fineness, grossness, shape, darkness, shadow, sunshine, moonlight, motion and touch, tatse, smell and colours etc.[6]

(vii) There are infinite number of molecules. They can be classified in many ways.

(viii) They are produced by association, dissociation and a mixed process. The sense perceptible ones are produced by the mixed process.[7]

(ix) These molecules are supposed to be embodying all characteristics of the piece of matter to which they belong.

---

* Jain Kendra, Rewa (M. P.).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(x) They are active and may be transformed of modified in various ways.

The Buddhists have one word for matter-rupa—consisting of two varieties—primary elements or mah-abhutas and secondary elements or utpad rupa. Both of them are called Rupa-skandhas consisting of atoms and molecules. However, the Buddhist's atoms, combined atoms or primary elements are equivalent to Skandhas of the Jainas as they are made up of 7-10 small constituents. Thus, for them, matter is nearly molecular. The utpad rupas have been described to be fifteen, sixteen or twentyfour in number—all molecular species.[8]

The vaisheshikas postulate atomic theory but they do not have a separate or common term for atomic aggregations. These are called effects by them, their nomenclature depending on the number of atoms participating in aggregation like diatomic, triatomic etc.[9] The composite-constituent concept of inferential nature in this connection has been discussed by Prabhachandra.[10]

Current scientists have the term molecule for atomic combinations. However, the molecules are chemically bonded in contrast to many physically bonded atomic aggregates. The Jain term Skandha includes, however, both types of bonding—physical and chemical as well. The current examples may be mixture of inert gases in air, molecules of hydrogen or oxygen elements or water. The Skandhas, thus, include all types of aggregation of elements, molecules, compounds or mixtures. This Jain term is, therefore, more general than the term molecule of the scientists. These molecules have the capacity, however, to get dissociated into its constituents.

Classification of Skandhas

The Skandhas are innumerable. The scholars felt the need of classifying them for their proper studies. They have been classified in many ways. The first classification consists of their two varieties—gross and fine, sense perceptible or otherwise. This is based on commonsense view. The other classifications are based on that of matter as such and summarised in Table 1. They are not illustrated except in the fourth one where the criteria of eye-perceptibility has produced a discrepancy in current terms pointed out by Jain[11] and Jains.[12] There is one more point regarding the illustrative meaning of the sixth category of fine—fine class. Kundkund illustrates it with finer particles than karmic aggregates. Javeri supports it by saying that action particles are made up of innumerable number of ideal atoms. He means that even this type of aggregate will be finer than the fifth category. This may include dyads,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

triads etc. However, Jain[18] illustrates it by the current atomic constituents like neutrons etc. However, because of aggregate, it will be skandha or molecule in Jainological terms. This will be approximately 10^{-13} cm in size according to Yativrishabh—a size representing the current nuclear size.[14] This suggests that Jain's illustration should be taken as meaningful. This, however, creates another problem in explaining the various properties of cannonical atoms to be discussed separately. Jain and Sikdar[15] have made a basic mistake in assuming the sixth category as atomic despite the "Khandha hu Chhappayara" statement of Kundkund. This should be rectified and the resultant discussion be modified accordingly.

Table 1. Various Classifications of Skandha or Molecules by Jainas

No.	Classes	Names
1.	2	Gross and Fine
2.	3	Skandha, Skandhdesa, Skandhapradesha
3.	3	Transformable by internal, external or mixed cause
4.	6	Gross-gross, Gross, Gross-fine, Fine-gross, Fine, Fine-fine
5.	23	23 Varganas (detailed later)
6.	530[16]	With respect to five qualities as primary and secondary (detailed later)

The second classification is based on matter in general where three out of four varieties should be Skandhas. Accordingly, the cannonical atom should be less than one-fourth the size of a skandha. Here, one is unable to guess about the meaning of skandha whether it is diatomic or polyatomic. If it is diatomic, the skandhdesa will be atomic and the third class will be sub-atomic. In other words, the cannonical atom should be divisible which seems undesirable. This suggests the Jain's illustrative equations of these terms are not correct. Javeri,[17] on the other hand, takes a real view of defining skandha with grosser bodies and the other terms being its conceptual divisions and skandha by themselves. The skandhapradesha, in this way will mean a single molecule of an element or compound consisting of number of atoms possessing the property of the skandha itself.

The other classifications have already been described elsewhere. They seem to be more philosophical than scientific.

Methods of Formation of Molecules or Skandhas

The formation of melecules takes place by combination or aggregation of atoms according to the theory of Bonding proposed by the Jainas and discussed elsewhere.[18] When small number of atoms combine, they

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

form sense-imperceptible molecules. When many atoms or molecules combine, they form gross molecules. It is stated in literature that combination takes place by three methods :[19]

(i) By division or dissociation of molecules of bigger size to smaller ones.

(ii) By association or sharing of atoms together

(iii) By a mixed process of association and dissociation.
The dissociation may take place by internal or external causes as in radioactivity or process of ionisation. We also know today that it may also take place thermally, by application of pressure or bombardment. It is said that these methods are akin to the three types of valency or bonding of current science subject to certain modified version of traditional opinions.

Umaswami and Pujyapad[20] have pointed out that sense-perceptible molecules are formed by the mixed method of association and dissociation. The latter has illustrated this point by saying that a fine molecule may be split and its parts may combine with other bigger molecules to form a gross molecules. However, Shastri[21] has raised a point whether Umaswami's aphorism should mean a mixed process or two individual processes. Grammatically, the dual number in the aphorism should mean two processes rather than a single one; otherwise, there should be singular number in the aphorism. There must be some specific aim in this composition the commentarians have not elaborated. However, it is quite common to have visible molecules by combination of atoms or fine skandhas. Shastri seems right to seek how division as a single process can yield gross molecules. There are, however, a number of examples today to prove this. Sulphur dioxide or Carbon dioxide are cannonically invisible gases and they, on thermal or electrical decomposition, give solid visible sulphur or carbon skandhas. Jain[22] has exemplified these processes by formation of hydrochloric acid and ionisation of air representing combination and division respectively. Hence, visible skandhas are formed bothways and the corresponding aphorism should mean two individual processes. However, examples of molecular formation by combination of the two processes are also available. Thus, aphorism "Bhed – Samghatebhyah Utpadyate". This point requires closer examination.

Conditions for Formation of Skandhas or Molecules

Normally, the various types of motions of the molecule-forming atoms are elastic in nature. They are not only irregular but they are non-bonding also. This poses a problem as to how the bonding takes

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

place and molecules are formed. This may be assumed that the bonding takes place due to contact and collisions among the atoms and bonding entities. The contact may be partial or whole. It is said that the contact by whole leads to homogeneous molecules like milk-water and hot iron. But, of course, only contact does not lead to molecular formation, it must be forcefully colliding and bond forming. There is collision, but it may lead only to change in speed only.[28] Different atoms combine when there is sufficient difference between the velocities of the combining atoms. This could be either internal or induced. This causes inelastic collision leading to bonding.

Besides contact and bonding collision, difference in the nature of the bonding atoms (positive or negative) also plays an important part in bonding. This causes natural bond. This could also be formed in presence of metallic catalysts like containers and micro-organisms and changes in conditions like temperature (and now-a-days pressure too). The production of natural sparks, burning of planets, eruption of volcanoes are examples of natural bonding. Formation of clouds, rainbows, hail-storms, lightning etc. are also other forms in which molecules are formed though they represent physical aggregation in most cases. Thus, we have physical, physico-chemical and chemical bonding molecules under different conditions. We thus find that the conditions of bonding mentioned in literature are nearly the same as are known today to every High school student. However, many more agents like light etc. are now available for this purpose.

Functions of Molecules or Skandhas

The molecules have three major functions to perform. The first is physical or physico-chemical. The molecules of our body, mind and other organs are therefore proper functioning of our life. Current scientists have found the basic unit of the living as protoplasm which has a company of molecular structures including nucleic acids. But how this company of non-living molecules bring about life ? This is the problem and a dividing line between science and philosophy.

The second function of the molecules may be taken as spiritual or suprasensual. The living beings have feelings of pleasure, pain etc. These depend on physical environment and changes therein which is all molecular. These actually effect the sensing system of our bodies leading to the corresponding sensations. These environments are very fine and consist of even the karma particles. Besides, our own actions and their effect also lead to a variety of reflex actions and reactions producing characteristics aura around the body. Thus, the molecules not only create

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

our lives, but they effect its course also indirectly. All our tendencies towards better thoughts and actions are governed by the quality of karma molecules getting in and out of bodies. We require better type of molecules for better lives.

The above functions are related with our lives directly. However, the most important aspect of skandhas is their capacity to maintain, modify and form newer and changed objects of different types of molecules. This capacity is the base for development of modern amenities. The purification of water by alum, production of butter from milk, purification of metals by borax and alkalis are all examples of utilitarian changes of chemical nature. This capacity of skandhas has been studied by the scientists extensively and as a result, we have a world full of entertaining materials. Could we say these materials will not lead to our spiritual development ?

Bhagwati and Umaswami mention the six embodiments (earth to trasa kaya), five bodies, speech, mind and respirations as the effects of Skandhas. They also mention 14-15 manifestations of skandhas with some variations with Uttaradhyayan,[24] and Umaswami.[25] These consist some physical energies and some properties in which changes are observable. They are discussed under the physical contents.

Properties of Skandhas

All fine and gross skandhas have all the general and special properties of matter. There are eight general and six specific properties. They have already been described. Besides, it may be mentioned that each molecule has cohesive or adhesive force inherent in it so that it could combine with its own type or different type. There is variety of action or motion including rotation, vibratiou and translation. Translatory motion has highest force for chemical bonding. There are some technical terms used in this connection like parispand and parivart etc. which have been explained by Sikdar.

Description of Specific Skandhas

The infinite variety of Skandhas can be seen to exist in four specific forms—earth, water, air and fire. Kundkund mentions them as dhatus. The four mahabhutas of the Budhdhas and four types of basic atoms of Vaisheshikas remind us some conceptual similarity. It may be suggested that they represent the various states of matter rather than the specific skandhas. Thus the earth represents the solids, water the liquids, air the gases and fire the various forms of energies. This statement is supported by the fact that the seers have enumerated a

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

variety of earth ranging between 21-40. However, this becomes a little doubtful when one finds that they have classified water, air and fire only in their naturally occurring forms. How they could overlook the enormous variety of liquids like oil, butterfat, asavas etc. and gases—is a matter of surprise and clarification. Another fact stated in cannons is that all these skandhas are termed as living during their growth and development.[26] Their hardness or adhesiveness has been taken as sign of livingness. However, they turn nonliving when heated or cut. We will describe them as in cannons.

The Earth

The earth representing the class of solids is characterised by different degree of hardness. It has valuables under and over it. Acharang[27] and Mulachar[28] have classified the earth in the first instance followed by others later. The description is based on its assumption of being one sensed. It has been classified in four categories of earth, earth body, earth creature and earth soul. Out of them, the first and second are clearly nonliving, the third has been called living because of its being substratum for living entities, otherwise it is nonliving. The fourth variety seems to be the only living about which no clarification is available. Currently, it is debatable whether living characteristics apply to earth as a class. However, it has been shown to have many types.

The earliest earth classification is traceable in Dashvaikalika (i. e. 427 B. C.). It mentions only three types—bhitti, shila and binding materials. Later on these types have been expanded. Scriptures mention its two broad types—soft and hard. The soft one has five or seven coloured varieties as shown in Acharang and Pragyapana :[29]

A : Red, green, yellow, white, black earths.

P : Red, green, yellow, white, black, pandu and earths.

Perchance these refer to various coloured soils found in nature. The hard types are shown in Table 2 as found in literatures. Though there seems to be a large amount of similarity in these types, still some additions and deletions forecast many inform ations. The Acharang earths contain all solids, the 14 gems being additional to the list totalling 35. In the second classification of about 250 years later, not only gems get included in list but their number also increases from 14 to 18. Moreover, Mercury is also added to metals. This is an exception to the class of solids. This suggsts that mercury was discovered or put to use between 300-500 B. C. Though Shantisuri follows Pragyapana, but it has curtailed the number to 21 by condensing the gems to 3 types and seven metals to one type. Some new substances like chalk and soda have also been added with the exclu-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

sion of diamond and pebbles etc. Amrit Chandra Suri[29a] follows Mulachara with 21 substances and 15 gems making 36 earths. It excludes copper sulphate. The last two classifications add pewter in metals which is actually an alloy. Amritchandra Suri has made the Masargalla variety into two varieties.

On Chemical examination of these various earths, it is seen that they contain elements, compounds, minerals, mixtures and gems known during different cannonical periods. The earths are said to be the carrier of a variety of valuables. Dashvaikalika mentions 24 valuables including some trees and medicinal plants but excluding cereals and pulses.[30]

Gold has an important status among all the solids, used for coins, ornament and medicines. It is antipoison and all proof. Its purity is judged by heat resistance, beating, rubbing and drilling. It was assumed that when lead was converted into gold, many factors including vital force worked. It is obtained by heating its ore with salt and borax. Other metals are also obtained similarly. Artificial gold has also been marked in Niryuktis.[31] Tempering is one of the ways to improve the quality of iron. Descriptions about other earth or metals is not available in cannons.

The above description about solids seems to be quite small and incomplete when compared with the current knowledge. Still it proves the ancient scholars did observe what was existing. The Vaisheshikas[32] have only three types of earth—soils, stones and minerals and immobiles (viz. kingdom). The Jainas do not have this last category. Table 2 suggests Jainas advancement over Vaisheshikas in this regard. The Buddhists have not much to offer in this matter.

The Water Class

Like earth, water represents liquid Skandhas. They are divided in two classes-fine and gross. No examples of fine variety are available. However, gross water could be of three types—paniya (water), pan (alochols) and panak (Medicinal Waters). Fluidity is the chief characteristic of this class. Ordinary water has two variety—overground and underground. They have been subclassified in different agamic periods as shown in Table 3. The Pragyapana gives the best classification with 16 varieties of water liquids including all the three major varieties. Mulachara and Amritchandra has nothing special. Shantisuri has seven varieties on which earth rests. There are two types of creatures found in water—air bodied and waterbodied.[33] The normal water is purified by boiling or by using alum. It is said that the ascetics should use the water cooled after heating. The pure water becomes substratum for micro-organisms when kept for 12-24 hours. Fermented or lemon waters are acidic which increases on keeping them longer due to further fermentation where

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

alcohol or vinegar is produced. These waters should not be used as common drinking waters.

The Pragyapana description about the sources of water are quite satisfactory. But they describe only solid and liquid water. The gaseous water does not find any mention.

The old lierature does not contain much about alcohols and medicinal waters. This forms the subject of other faculties. However, it has been pointed out that they should not be used for better health and spirits. Amritchandra has described alcohol as a source of many micro-organisms and it causes intoxication and idleness.[34] Butter is also produced by a similar process. One does not have much description about liquid oils. However, butter and oils form a class of liquids-which are water insoluble. Many other liquids are water soluble. They are described to some extent in Ayurvedic texts.

It seems from the above that there were three types of liquids in use in olden times. The number of liquids is enormous today. Their properties vary. The earlier description of general properties show that quite a good number of properties of liquids are found in cannons.

The Vaisheshikas[35] have sea, river, dew and ice water with many other varieties not mentioned. This is much less than what is described in Jain literature. The Buddhas have also a similar case as with the earths.

The Air of Gaseous Skandhas

As earlier, the air should represent the gaseous class of substances. They move obliquely. Formerly only colourless gases might be known which could not be visible to the eye but other senses could sense them by their blowing, flowing or smell. It seems, however, that no other gas except air was known in cannonical periods. That is why only various types of air are described in this category. The earths and water fare a little better in this regard.

Air has been classified differently in different periods as shown in Table 4. The Dashvaikalika classifies it in seven types-a commonsense view. But there is a peculiarity. Air from mouth is also included in it which is now taken as chemically different from normal air in the sky. Other air may be called non-violent airs or breezes. Pragyapana has a better classification of air consisting of seventeen varieties depending on direction, velocity, action or physical state. Shantisuri has eight varieties which include air from mouth and some other Pragyapana varieties. It has excluded all directional winds. Battaker and Amritchandra have

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

seven varieties excluding mouth air. All these categories do not include air from nose without which our life would be in danger. Perchance, this could be taken as included in mouth air though it is compositionally different. Of course, if the concept of Pranas as substances is taken, respiration may include it.

Some properties of air find mention in cannons. It has been said that air helps combustion while whirlwind obstructs it.[36] It is inhaled and exhaled by the body. Its material or molecular nature can be proved by its obstruction or subjugation.[37] Bhagwati mentions its property of expansion and contraction. There are many types of micro-organisms in air. Their properties have come to science quite late in Pasteur's time.

Though air is skandha, but there is no mention whether it is a mixture or compound. The cannons contain meagre physical or chemical properties of it. It is now known that there are many gases besides air— some coloured and others colourless. They could be liquefied and solidified. They could be put to large number of uses.

The Vaisneshikas[38] also have obliquely moving air which is recognised by touch and inferred by a-hot-a-cold touch, production of sound and vibrations and by causing lighter bodies to float in sky. Despite mentioning its innumerable varieties, they have pointed only inhaling and exhaling air present in all parts of the body. Its obstruction has also been mentioned. It is said that it causes biochemical processes to proceed and the body to run—a fact not mentioned by the Jainas. The Buddhas have air as a primary matter with not much details about it.

The Fire or Taijasa Skandhas

The fire or taijasa skandhas represent various types of energy particles. Some of them like light are visible by sense of sight while others are perceived by senses other than sight. Basically sunrays or fires are called taijasa. They are hot by nature—a point not mentioned in literature but observed physically. That is why sound energy has not been called taijasa. The Pragyapana[39] classifies these skandhas in two-fine and gross forms. It is the gross variety that has been classified in cannons are shown in Table 5. The flames (with or without light) are the known forms of gross fires. Dashvaikalika[40] gives seven forms of fires while Pragyapana describes at least twelve forms. Others mention their own numbers. But if one takes pure fire as fire produced without fuels (i. e. by striking stones, rods or bamboos and gem fire-burning through glass or gems) and star burning, electric lightning etc. are all included in the Ulka variety, then there is not much difference in the varieties of

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

fires by different authors. It may be guessed that those mentioned once are not only fire skandhas, but there may be many others as the authors use the term etc. They have done so in case of water and earths also.

The above taijasa skandhas have three aspects : heat and/or light and electric lightening which is produced by difference in charge. Thus, it may be inferred that the term taijasa has included energies (of today) known during the cannonical periods. The important point to be noted here is that the electric lightning or its forms in the sky have been taken as fire skandhas. These are natural forms of electricity. All these are described in physics rather than chemistry of today.

Shastri[41] has raised a point on the nature of taijasa body-fourth out of five bodies-living beings possess. It is the cause of heat, activity and digestion in the body. It is said to be fire, invisible, devoid of impediments, caused by supernatural powers and luminating others while luminous by itself. It consists of an aggregate of infinite real atoms which are infinite times the number of atoms in the earlier bodies. Due to dense packing, it becomes finer. This luminous body is made up of energy skandhas or taijasa varganas[42] whose size is between aharaka (heat ?) and bhasa varganas. This point has been commented upon earlier. Jain and Jabveri[43] have called it elec.rical or electromagnetic in nature. This is found in every living beings from birth to death. Per chance heat or ahara is converted into this energy for the body to be active and living. It may itself be inactive but it makes the other active. Thus, the taijasa body is thermal or electrical form of the fire skandhas.

Akalanka[44] has described this body in thirteen ways. Accordingly, its luminosity is as white as cronch. It produces anger and happiness in the living and creates burning and combustion in others. Its size is innumerable part of an angula, i, e. less than 10^{-15} cm.It is infinite and universal. It has a max. age of 66 sagaropam—a unit difficult to define at current state of our knowledge. These points are based on the skandha nature of taijasa body and require deeper studies for comparative evaluation.

Thaker[45] has raised one more point regarding the livingness of light and elctricity. Current science points out their non-living nature though the cannons tell us these could be bothways. For example, air is necessary for life and lamps cannot burn without it. In contrast, electric lamps burn only in an airless atmosphere.

The Vaisheshikas[46] presume taijasa atoms with hot touch and white glistening colour. They consist of four forms; fuel fire, sky fire, biochemical fire and mineral fire. Out of these, the Jainas have only the first

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

two. The biochemical fire or heat is produced in the body by which it functions. The taijasa of Jainas has been taken as heat energy. They however, have electrical taijasa body too in addition. The mineral fire is nothing but gold obtained from minerals. This is not acceptable to the Jainas who also do not agree to the exclusive nature of hot touch to the fire skandhas which include gem fire also. Buddhas have taijasa as a skandha with hotness causing cooking of materials.

Conclusion

The above description of molecular theory and specific skandhas of Jainas confirms, once again, that the theoretical concepts in this regard stand on better footing. The description of visible or gross world seems to be quite incomplete and small in comparison to our current knowledge. It must however be admitted that pragypana gives the best details of the period. Another fact emerging from the above is that the cannons have differing or modified contents in nearly every specific case. It is therefore, very necessary to collect and coordinate the material to present it in a uniform way.

Table 2. Various Types of Earths

Uttara dhyayan 40	Acharang 35	Moolachara, Tattwarthsara 36	Pragyapana 40	Shantisuri 20
1. Soils	Solis	Soils	Soils	Soils
2. Stones	Stones	Soils	Stones	Stones
3. Slabs	Slabs	Slabs	Slabs	—
4. Pebbles	Pebbles	Pebbles	Pebbles	—
5. —	—	—	Kirelak	—
Metals				
6. Iron	Iron	Iron	Iron	Gold etc.
7. Copper	Copper	Copper	Copper	
8. Lead	Lead	Lead	Lead	
9. Silver	Silver	Silver	Silver	
10. Gold	Gold	Gold	Gold	
11. —	—	—	Mercury	Mercury
Alloys				
12. Pewter	Pewter	Pewter	Pewter	—
Non-metals				
13. Diamond	Diamond	Diamond	Diamond	—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Minerals/Compounds					
14.	Salts	Salts	Salts	Salts	Salts
15.	Usham	Usham	Usham	Usham	Soda/Sulphate
16.	Yellow Orpiment	Yellow Orp.	Yell. Orpiment	Yell. Orpiment	Yellow Orp.
17.	Vermillion	Vermillion	Vermillion	Vermillion	Vermillion
18.	Realgar	Realgar	Realgar	Realgar	Realgar
19.	Ant. Sulphide	Ant. sulphide	Ant. Sulph.	Ant. sulphide	Sauviranjan
20.	Mica	Mica	Mica	Mica	Mica (5 color)
21.	Sand	Sand	Sand	Sand	Turi
22.	Fine sand	Mica sand	Mica sand	—	Sand
23.	—	—	—		Chalk
24.	Copper Sulphate	—	Copper sulphate	—	Arnetak Palevak
Natural Snbstances					
25.	Coral	Coral	Coral	Coral	Coral
Gems					
26.	Gomed	Gomed	Gomed	Gomed	—
27.	Ruchak	Ruchak	Ruchak	Ruchak	Gems
28.	Sphatik	Sphatik	Sphatik	Sphatik	Sphatik, Qtz.
29.	Lohitaksha	Lohitaksha		Lohitaksha	Jewels
30.	Markat (Nil)	Markat	Bappak	Markat	—
31.	Masargalla	Masargalla	Masargalla	Masargalla	—
32.	Bhujmodak	Bhujmodak	—	Bhujmodak	—
33.	Anka	Anka	Anka	Anka	—
34.	Indranil	Indranil	Indranil	Moch or Nil	—
35.	Chandraprabh	Chandraprabh	Chandraprabh	Chandraprabh	—
36.	Vaidurya	Vaidurya	Vaidurya	Vaidurya	—
37.	Jalkant	Jalkant	Jalkant	Jalkant	—
38.	Suryakant	Suryakant	Suryakant	Suryakant	—
39.	Chandan	—	Chandan	Chandan	—
40.	—	Manikant	—	—	—
41.	Gairik	—	Gairik	Gairik	—
42.	Pulak	—	—	Pulak	—
43.	Saugandhik	—	—	Saugandhik	—
44.	Hansgarbh	—	—	Hansgarbh	—
45.	—	—	Pandurang	—	—
46.	—	—	Ruchakank	—	—
47.	—	—	Pusprag	—	—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Table 3. Various Types of Water in Jaina Cannons

Uttara dhyayan 5	Dashvai kalika 5	Mulachara, Tattwarthsara 6	Pragyapana 16	Shantisurt 7
Overground	Waters	—	—	—
Dew	Dew	Dew	Dew	Dew
Ice	Ice	Ice	Ice	Ice
Mist	Mist	Mist	Mist	Mist
Hails	Hails	Hails (Solid)	Hails	—
Waterdrops on greengrass	Waterdrops on gr. grass	Waterdrops on gr. grass	Waterdrops on gr. grass	Waterdrops on gr. grass
Uunderground	Water	—	—	—
—	Udak	Udak	Pure Udak	Rain water
—	—	—	—	Dense water
—	—	—	—	Water, well, river etc.
—	—	—	Cold	—
—	—	—	Hot (springs)	—
—	—	—	Alkaline	—
—	—	—	Slight acidic	—
—	—	—	Acidic	—
—	—	—	Salt/sea water	—
—	—	—	Wine (Varun) water	—
—	—	—	Milk (Kshira) water	—
—	—	—	Butter (ghrit) water	—
—	—	—	Sweet (cane) water	—
—	—	—	Rasodaka	—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Table 4. Various Types of Fires in Jaina Cannons

6	7	6	12	7
Burning coal without smoke	Burning coal without smoke	Burning coal without smoke	Burning coal without smoke	Burning coal without smoke
Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire
Flame	Flame	Flame	Flame	Flame
Ulka	Ulka	—	Ulka	Ulka
Pure fire	Fuelless fire	Fuelless fire	fuelless fire	Fuelless fire
Electric lightning	—	—	Electric lightning	Electric lightning
—	Halfburnt	—	Halfburnt	—
—	wood fire	—	wood fire	—
—	Common fire	Common fire	—	—
—	—	—	Star fires	Star fires (kanak)
—	—	Lamp fire	Lamp fire	—
—	—	—	Fire by rubbing	—
—	—	—	Gem fire	—
—	—	—	Nirghat fire	—

Table 5. Various Types of Airs in Jaina Cannons

Uttara dhyayan 6	Mulachara Tattwarthsara 7	Pragyapana 19	Shantisuri 8	Dashvai-Kalika 7
Wind blowing	Wind blowing	Wind blowing	Wind blowing	Fan air
(i) Upwards	Upwards	Upwards	Upwards	Leaves air
(ii) Downwards	Downwards	Downwards	Downwards	Air, branches
3. Whirlwind	Whirlwind	Whirlwind	Whirlwind	Air cloths
4. Singing air	Singing air	Singing air	Singing air	Air hand
5. Dense air	Dense air	Dense air	Dense air	Air, feather
6. Breeze, pure air	Breeze	Breeze	Breeze	Air mouth
7. —	Rarified air	Rarefied air	Rarefied air	—
8. —	—	Air from mouth	Air from mouth	—
9-16. —	—	Air of 8 directions	—	—
17. —	—	Stormy air	—	—
18. —	—	Air Destructive	—	—
19. —	—	Wind in waves	—	—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

References

1. Kundkund, Acharya; *Panchastikaya*, Bhartiya Gyanpith, Delhi, 1975, P. 65-70.
2. ibid; *Niyamsara*, Jain Publishing House, Lucknow, 1931, P. 15.
3. Nemchand, Chakravarti; *Gommatsar Jivkanda*, Raichand Granthmala, Agas, 1972, P. 267.
4. Jain, S. A.; *Reality*, Vir Shasan Sangha, Calcutta, 1960, P. 151-54.
5. ibid, p. 150.
6. ibid, p. 151.
7. ibid, p. 154.
8. Chaudhuri, A.; Concept of Matter in Early Budhism' in *KCS Fel.* Vol., Rewa, 1980, p. 426.
9. Prashastpada, Acharya, *Prashastpada Bhashya*, Sanskrit Univ., Kashi, 1977, P. 78.
10. Prabhachandra, Acharya, *Prameykamal Martand*, Nirnaysagar Press, Bombay, 1941, p. 605-19.
11. Jain, N. L.; *Amar Bharti*, 1985.
12. Jain, A. K.; *Tulsi Pragya*, Ladnun, 12, 4, 1987; p. 40.
13. Jain, G. R.; *Cosmology, Old and New*, Bhartiya Gyanpitha, Delhi, 1975, p. 65
14. Yativrishabh, Acharya, *Tilloypannatti*, Jivraj Granthmala, Sholapur, 1955, p. 13.
15. Sikdar, J. C.; *Concept of Matter in Jain Philosophy*, PVRI, Varanasi, 1987.
16. Shyama, Arya, Vachak; *Pragyapana Sutra-1*, A. P. Samiti, Beavar, 1983, p. 31.
17. Javeri, J. S., Atomic Theory of Jainas, *Jain Vishwa Bharti*, Ladnun, 1975.
18. Jain, N. L.; Chemical Theories of Jainas, *Chymia*, 11, 1, 1961, p. 11.
19. Jain, C. R.; see ref. 13. p. 140.
20. ibid. p. 146.
21. Shastri, JML., : *Jain Shastron main Vaigyanik Sanket*, This vol., Science sect.
22. See ref. 13 p. 146.
23. See ref. 3 p. 267.
24. Sadhwi Chandanaji (ed. and tr.) *Uttaradhyayan*, Sammati Gyanpith Agra, 1976, p. 380.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

25. See ref. 13, p. 122 and 130.
26. Muni Nathmal; *Dashvaikalika : Ek Samikshatmak Adhyayan*, S. T. Mahasabha, Calcutta, 1967, p. 113.
27. Shantisuri, Jiv; *Vichar Prakarnam*, Jain Mission Society, Madras, 1950, p. 23-25.
28. Battker, Acharya; *Mulachar*-1, Bhartiya Gyanpitha, Delhi, 1984, p. 177.
29. See ref. 16 p. 38.
29a. Amritchandra Suri; *Tattvarthasara*, Varvi Granthmala Kashi, 1970.
30. See ref. 36 p. 177.
31. See ref. 36 p. 224.
32. See ref. 9. p. 89.
33. See ref. 26. p. 117.
34. Amritchandra Suri; *Purusharthsidhyupaya*, D. J. S. M. Trust, Songarh, 1978, p. 61.
35. See ref. 9 p. 96.
36. Kundkunda, Acharya; *Ashtpahud*, Jain Sansthan, Mahavirji, 1970, p. 442.
37. See ref. 4, p. 146.
38. See ref. 9 p. 118-20.
39. See ref. 16, p. 46.
40. See ref. 26; p. 112.
41. See ref. 21.
42. See ref. 3, p. 268.
43. (a) See ref. 13, p. 57, (b) See ref. 17, p. 116.
44. Akalanka, Bhatta; *Rajvartika-1*, Bhartiya Gyanpith, Delhi, 1954, p. 153.
45. See ref. 27, p. 29-32.
46. See ref. 9, p. 97.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनमत में ईश्वरत्व की अवधारणा

डॉ० ललित किशोर लाल श्रीवास्तव*

जैनमत में ईश्वरवाद का खण्डन हुआ है। यहाँ ईश्वर नामक सत्ता का अभाव पाया जाता है। सामान्यतया किसी भी धर्म के लिए किसी पराशक्ति (ईश्वर) में विश्वास आवश्यक माना गया है। गैलवे ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि "धर्म मानव का अपने से परे किसी शक्ति में विश्वास का नाम है, जिसके द्वारा वह अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है, जीवन में स्थिरता प्राप्त करता है और जिसे वह उपासना या सेवा जैसी क्रियाओं के माध्यम से व्यक्त करता है।" उपर्युक्त परिभाषा में ईश्वर की ओर संकेत स्पष्ट है। ईश्वर धर्म का केन्द्र बिन्दु है। लेकिन जैन धर्म बौद्ध धर्म की भाँति एक प्रतिष्ठित धर्म होने के बावजूद भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। बिना ईश्वर को माने ही वह धर्म की मान्यताओं की परिधि में अपने को शत प्रतिशत उपयुक्त एवं खरा सिद्ध करता है। जैन धर्म न केवल ईश्वर की मान्यता का खण्डन करता है बल्कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिए गए प्रमाणों आदि की भी आलोचना करता है।[1]

I

न्यायदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को कार्यकारण प्रमाण (कारणता का सिद्धान्त) के द्वारा सिद्ध किया गया है—"प्रत्येक कार्य का कारण होता है। विश्व भी एक कार्य है, अतः इसका भी कारण अवश्य होगा" और यह कारण ईश्वर है। जैनों का इस प्रमाण के विरुद्ध यह आक्षेप है कि विश्व को कार्य के रूप में यों ही मान लिया गया है। विश्व को कार्य मानने का पूर्वपक्षी (न्याय) के पास कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है। नैयायिकों ने सावयव होने के कारण विश्व को कार्य माना है। जैन मत में यह विचार भी दोषपूर्ण है क्योंकि नैयायिक स्वयं आकाश को सावयव होने पर भी कार्य स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आकाश नित्य है अतः सावयवता के कारण विश्व को कार्य मानना उचित नहीं है। नैयायिकों के मत में विरोध स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

ईश्वर को विश्वरूपी कार्य का कारण मानने में जैनों के सामने एक समस्या उठ खड़ी होती है। किसी कार्य का कर्ता शरीरयुक्त होता है जैसे घड़े का कर्ता कुम्भकार शरीरयुक्त प्राणी है। इसलिए विश्व के कर्ता के रूप में ईश्वर को सशरीरी मानना आवश्यक है, किन्तु ईश्वर को निरवयव माना गया है। इस प्रकार जैनों के मन में अवयवहीन ईश्वर विश्वरूपी

---

* अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
मु० म० टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया (उ० प्र०)

१. द्रष्टव्य–प्रमेयकमल मार्तण्ड (आचार्य प्रभाचन्द्र) द्वितीय अध्याय तथा स्याद्वादमंजरी (मल्लिसेन सूरि), श्लोक ६ और उस पर हेमचन्द्र की टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्य का कर्ता या कारण नहीं कहा जा सकता। जैन आश्चर्य करते हैं कि किस प्रकार एक अनिर्माता ईश्वर अचानक और तुरन्त एक स्रष्टा बन सकता है। इस प्रकार की धारणा के आधार पर किस प्रकार की सामग्री से संसार की रचना की गयी, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन होगा।[1]

जैन तर्क करते हुए कहते हैं कि संसार को बनाने के पूर्व वह किसी न किसी रूप में विद्यमान था या नहीं? यदि कहा जाय कि यह सब ईश्वर की अनालोच्य इच्छा के ऊपर निर्भर करता है तो हमें समस्त विज्ञान एवं दर्शन को ताक पर रख देना पड़ेगा। यदि पदार्थों को ईश्वर की इच्छा के ही अनुकूल कार्य करना है तो पदार्थों के विशिष्ट गुण सम्पन्न होने का क्या कारण है? दूसरे विभिन्न पदार्थों का विशिष्टधर्म सम्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है, यदि वे परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते। यदि ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है तो जल जलाने का और अग्नि ठंढक पहुँचाने का काम भी कर सकते थे। यथार्थ में भिन्न-भिन्न पदार्थों के अपने विशिष्ट व्यापार हैं जो उनके अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल हैं और यदि उनके वे व्यापार विनष्ट हो जायें तो उन पदार्थों का भी विनाश हो जायेगा।[2]

जैनों का कहना है कि अगर ईश्वर को विश्व का कर्ता भी मान लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि—ईश्वर ने किस प्रयोजन से यह रचना की है? क्या उसने स्वार्थ साधना से रचना की है अथवा करुणा से? प्रथम विकल्प अग्राह्य है। ईश्वर पूर्ण है। उसकी कोई भी इच्छा अतृप्त नहीं है। वह आप्तकाम है। इसलिए वह स्वार्थभावना से परे है। स्वार्थ से उसने विश्व की रचना नहीं की है। क्या करुणावश उसने रचना की है? करुणावश भी वह विश्व की रचना नहीं कर सकता। करुणा का अर्थ है—दूसरों के दुःख को देखकर उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना। विश्व की उत्पत्ति के पूर्व दुःख की उपस्थिति और उसके प्रति सहानुभूति की कल्पना करना निराधार एवं युक्तिरहित है। इसलिए स्वार्थभावना या करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर द्वारा विश्व की रचना की बात में कोई तथ्य नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर जैनधर्म ईश्वरवाद का खण्डन करता है। ईश्वर के अस्तित्व के साथ ही साथ वह ईश्वर के गुणों का भी खण्डन करता है।

सभी वस्तुओं का निर्माता होने के कारण ईश्वर को सर्वशक्तिशाली कहा जाता है। जैनियों का कहना है कि विश्व में ऐसे अनेक पदार्थ हैं जिनका निर्माता ईश्वर को नहीं कहा जा सकता। इसलिए उसे सर्वशक्तिशाली कहना अनुचित है।

ईश्वर को एक माना गया है। पूर्वपक्षी यह तर्क देता है कि प्रत्येक पदार्थ का एक निर्माता होना ही चाहिए। उस निर्माता के लिए भी एक अन्य निर्माता की आवश्यकता होगी और इस प्रकार हम निरन्तर पीछे चलते चलेगें और इस परम्परा का कहीं भी अन्त नहीं होगा।

---

१. भारतीय दर्शन—डा० राधाकृष्णन (हिन्दी अनुवाद) राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९६९, भाग—१, पे० ३०२–३०३।

२. वहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस चक्र से बच निकलने का एक ही मार्ग है कि हम एक स्वयंभू स्रष्टा की कल्पना कर लें जो अन्य सब पदार्थों का स्रष्टा है। जैन विचारक प्रश्न करते हैं कि किसी एक प्राणी विशेष के लिए यह संभव हो सकता है कि उसे स्वयंभू एवं नित्य मान लिया जाय तो क्यों नहीं अनेक पदार्थों एवं प्राणियों को ही स्वयंभू एवं आधार रूप में स्वीकार कर लिया जाय।[1] पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करता है कि अनेक ईश्वरों को मानने से विश्व की व्यवस्था एवं सामंजस्य की व्याख्या नहीं हो सकती। इस तर्क के विरुद्ध जैनियों का यह कहना है कि जिस प्रकार एक महल के निर्माण में अनेक शिल्पकारों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार विश्व के निर्माण में अनेक ईश्वरों को मानने में क्या हर्ज है ? इसका उत्तर ईश्वरवादियों के पास नहीं है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनमत में स्रष्टा के रूप में ईश्वरवाद की मान्यताओं का खण्डन किया गया है। हमें यहाँ पर उन आधारों (कारणों) पर प्रकाश डालना अपरिहार्य है जिनके द्वारा जैन ईश्वर की अवधारणा का खण्डन करते हैं। उन कारणों को हम इस रूप में रख सकते हैं :

१. जगत की रचना द्रव्यों से हुई है।

२. जगत के निर्माण अथवा सृष्टि की आवश्यकता नहीं है।

३. मनुष्य अपना भाग्यविधाता स्वयं है। कर्म से ही जीवन का साध्य प्राप्त किया जा सकता है। साधना द्वारा ही व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त कर सकता है, ईश्वर की कृपा से नहीं।

मानव और विश्व की प्रत्येक वस्तु का कारण जैनियों के अनुसार द्रव्य है। द्रव्य संख्या में छः हैं : दिक्, काल, भूत (पुद्गल), जीव, क्रिया और निष्क्रियता। इन्हीं छः द्रव्यों के पारस्परिक संयोग एवं सम्मिश्रण के कारण विश्व की वस्तुओं एवं मानव की उत्पत्ति होती है। असंख्य जीवों एवं पदार्थों की परस्पर प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार कर जैन-दर्शन इस विश्व के विकास को सम्भव बना देता है।[2] जगत् के सृजन अथवा संहार के लिए भी ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके मत से "विद्यमान पदार्थों का नाश नहीं हो सकता और न ही असत् से सृष्टि का निर्माण सम्भव है। जन्म अथवा विनाश वस्तुओं के अपने गुणों एवं प्रकारों के कारण होता है।"[3] पदार्थ ही अपनी-अपनी पारस्परिक क्रिया और प्रतिक्रिया से नये गुण समूह को उत्पन्न करते हैं। पुद्गल के सबसे छोटे भाग को—जिसका और विभाग नहीं हो सकता—"अणु" कहते हैं। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से "संघात" या "स्कन्ध" बनता है। हमारे शरीर और अन्य जड़ द्रव्य अणुओं के संयोग से ही बने सन्धान हैं। मन, वचन तथा प्राण जड़ तत्त्वों से ही निर्मित हैं।[4] पुद्गल के चार गुण होते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। ये गुण अणुओं तथा संघातों में भी पाये

---

१. सूत्रकृतांग २ : ७, ४८ और ५१ तथा १ : १, १।

२. भारतीय दर्शन भाग १ राधाकृष्णन पे० ३०२।

३. पञ्चास्तिकायसमयसार, १५। ४. तत्त्वार्थसूत्र–५/१९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाते हैं। इस तरह जगत् का निर्माण एक स्वाभाविक परिणति है। ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। बिना उसकी सत्ता के ही सृष्टि का कार्य चलता रहता है।

जैन मत में मानव प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मानव से परे किसी अन्य श्रेष्ठ सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। कर्म से ही जीवन का साध्य प्राप्त किया जा सकता है। साधना ही व्यक्ति को परमात्मपद की प्राप्ति करा सकती है। जैन धर्म में साध्य एवं साधक में अभेद माना गया है। **समयसार टीका** में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं[१], "पर द्रव्य का परिहार एवं शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।"[२] आचार्य हेमचन्द्र का कहना है कि कषायों एवं इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मोक्ष कहा जाता है।[3] वस्तुतः "जैन साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्त्व नहीं है, वह तो साधक का अपना ही निजरूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं हैं बरन उसके अन्दर ही है। साधक को उसे पाना भी नहीं है क्योंकि पाया वह जाता है जो व्यक्ति में अपने में नहीं हो अथवा अपने से बाह्य हो।"[४] वह आत्मा जो कषाय और राग द्वेष से युक्त हैं और उनसे युक्त होने के कारण बद्ध, सीमित और अपूर्ण हैं, वही आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को प्रकट कर मुक्त एवं स्वपूर्ण बन जाता है।[५] उपाध्याय अमर मुनि जी कहते हैं कि आत्मा के बाहर एक कण में भी साधना की उन्मुखता नहीं है। इसीलिए जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कहा गया है—"अप्पा तो परमप्पा" यानि आत्मा ही परमात्मा है। फर्क केवल कर्मरूप आवरण का है।[६]

जैनधर्म में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि मनुष्य परमात्मपद को अपने ही प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है, ईश्वर कृपा से नहीं। स्वप्रयत्न, स्वसाधना एवं स्वकर्म ही उसे उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं। "जैन धर्म ने किसी विश्वनियंता ईश्वर को स्वीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा परमात्म दशा को प्राप्त कर सकता है।"[७] भगवान महावीर ने "आचारांग" एवं "उत्तराध्ययन सूत्र" में इस तथ्य की ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है तब इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में होने वाले रागद्वेष का करना है।[८] जैन धर्म केवल उन पुरुषों के लिए है जो

१. वही, ५/२३। २. **समयसार टीका** ३०५। ३. **योगशास्त्र**–४/५।
४. **धर्म का मर्म**—डॉ० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८६ पे० २२। ५. वही, पे० २३। ६. वही।
७. "**जैन आध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में**–डॉ० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, लघु प्रकाशन–११ : १९८३ पे० १५–१६।
८. आचारांग सूत्र २/१५ तथा उत्तराध्यायन सूत्र ३२/१०१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर और दृढ़चित्त हैं। इसका मूलमन्त्र मानो स्वावलम्बन है। यही कारण है कि यहाँ मुक्त आत्मा को "जिन" या "वीर" कहा जाता है। जैनियों को कर्मवाद जैसी अलंघ्य व्यवस्था में विश्वास है। पूर्व जन्म के कर्मों का नाश विचार, वचन और कर्मों के द्वारा ही हो सकता है। कैवल्य की प्राप्ति अपने ही कर्मों के द्वारा हो सकती हैं। तीर्थंकर तो मार्ग प्रदर्शन के लिए केवल आदर्श का काम करते हैं।[1] इस तरह यथार्थ स्वरूप को पहचानने से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है, तीर्थंकरों की भक्ति से नहीं।[2] हम देखते हैं कि जैनधर्म में साध्य की प्राप्ति में भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य को किसी का कृपाकांक्षी न बनकर स्वयं ही साधना से परमात्मपद की प्राप्ति करनी चाहिय।

II

सैद्धान्तिक रूप में जैनधर्म अनीश्वरवादी है किन्तु व्यवहारिक रूप से इसे ईश्वरवादी कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह एक ऐसी सत्ता या शक्ति में विश्वास रखता है जो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिशाली और सर्वव्यापी है। यहाँ सिद्धजीव अर्थात तीर्थंकर ईश्वर का रूप ले लेते हैं। "जहाँ तक परमात्मा के प्रति श्रद्धा या आस्था का प्रश्न है, जैनधर्म में इसे बीतराग देव (तीर्थंकर) के प्रति श्रद्धा के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। यद्यपि जैनधर्म को अनीश्वरवादी कहा जाता है और इसी आधार पर कभी-कभी यह भी मान लिया जाता है कि उसमें श्रद्धा या भक्ति का कोई स्थान नहीं है किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है।"[3] ये तीर्थंकर मुक्त जीव हैं। इनमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति एवं अनन्त सुख विद्यमान हैं। इन्होंने रागद्वेष, जन्म-मरण एवं अन्य सांसारिक वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण कर लिया हैं। सभी विकारों पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें जिन कहा जाता है।[4] जिन लोग स्वभाव सिद्ध, जन्म सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध भगवान् नहीं होते वरन साधारण प्राणियों के समान ही जन्म ग्रहण कर काम क्रोधादि विकारों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा बन जाते हैं अर्थात् ईश्वरत्व को प्राप्त होते हैं। ऐसे वीतराग सर्वज्ञ, हितोपदेशी ही जिन हैं तथा उनके द्वारा किया गया उपदेश ही जैनधर्म है।[5] इन जिन अथवा तीर्थंकरों की पूजा जैनधर्म में होती है। इनकी मूर्तियाँ जैनी के लिए श्रद्धा एवं आराधना के विषय है। जैनधर्म में विभिन्न तीर्थंकरों के गर्भ प्रवेश, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति एवं निर्वाण दिवसों को पर्व के रूप में मनाया जाता है।"[6] इन दिनों में सामान्यतया व्रत रखा जाता है और जिन प्रतिमाओं की विशेष समारोह के साथ पूजा की जाती है। दीपावली का पर्व भी भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस के

---

१. भारतीय दर्शन—दत्ता और चटर्जी पे० ७४।

२. द्रष्टव्य—पञ्चास्तिकाय समयसार १७६ और आगे।

३. धर्म का मर्म, पे० २९।

४. द्रष्टव्य—भद्रबाहु का कल्पसूत्र और श्रीमति स्टीवेन्सन का दी हर्ट आफ जैनिज्म चतुर्थ अध्याय।

५. जैनधर्म—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ० ६५।

६. जैन आध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में, पृ० १३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप में जैन समुदाय के द्वारा बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। सम्पूर्ण जेनधर्म एवं दर्शन ऐसे ही चौबीसवें तीर्थंकर की वाणी या उपदेश का संकलन है।

तीर्थंकर की स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तःचेतना को जागृत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। वह हमें आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी देती है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। "उत्तराध्ययन सूत्र" में कहा गया है कि "स्तवन से व्यक्ति की दर्शन विशुद्धि होती है उसका दृष्टिकोण सम्यक् बनता है और परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है।"[1]

"जिस प्रकार भेड़ बकरियों के साथ पला हुआ सिंह का बच्चा वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकर के गुण, कीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व को शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है।"[2] भगवद् भक्ति से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है। "आवश्यक निर्युक्ति" में जैनाचार्य भद्रबाहु ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि भगवान के नाम स्मरण से पाप क्षीण हो जाते हैं।[3] आचार्य विनयचन्द्र जी भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं :

पाप पराल को पुंज वन्यो अति, मानों मेरू आकारों।
ते तुम नाम हुताश्न सेती, सहज ही प्रजलत सारो॥

"हे प्रभु आपकी नामरूपी अग्नि में इतनी शक्ति है कि उससे मेरू समान पाप समूह भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।"[4]

III

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब जैनधर्म ईश्वर का खण्डन करता है तो फिर क्यों तीर्थंकरों को ईश्वर रूप में स्वीकार करता है और उसमें ईश्वरीय गुणों का विधान करता है? अगर हम इस तथ्य पर गहराई से विचार करें तो निम्नलिखित कारण सामने आते हैं। तीर्थंकरों में ईश्वरत्व की अवधारणा के कारण या आधार निम्नलिखित हैं : (अ) मनोवैज्ञानिक कारण (ब) धार्मिक कारण (स) नैतिक कारण। संक्षेप में हम इन कारणों की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. यथार्थ में जेन धर्म में भक्ति का कोई स्थान नहीं है। इसके अनुसार सब प्रकार के लगाव को समाप्त हो जाना चाहिए। वैयक्तिक प्रेम को तपस्या की ज्वाला में भस्मसात कर देना चाहिए, लेकिन दुर्बल, सीमित एवं अपूर्ण मानव महान् तीर्थंकरों की भक्ति के लिए विवश हो जाता है। भले ही कितना ही अनीश्वरवादी,

---

१. वहीं पृ० ३२। २. उद्धृत वहीं पृ० ३१।
३. वहीं पृ० ३२। ४. वहीं पृ० ३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कठोर तर्क उसे रोकने का प्रयत्न क्यों न करें।[1] मानव की दुर्बलता और अपूर्णता उसे अपने से परे किसी पूर्ण एवं अनंत शक्ति में विश्वास करने को बाध्य कर देती है।

२. सांसारिक जीवों की मांग एक सम्प्रदाय व मत के लिए रहती ही है जो उनकी नैतिक एवं धार्मिक अवस्थाओं के अनुकूल हो। फिर सम्प्रदाय या मत के केन्द्र विन्दु में किसी पराशक्ति की भी अवधारणा धार्मिक चेतना की प्रबल मांग बन जाती हैं। जिन प्रणीत जैनधर्म भी इसका अपवाद नहीं बन सकता। तीर्थंकरों में ईश्वरत्व की स्थापना अपरिहार्य बन जाती है। राधाकृष्णन् कहते हैं—"जब कृष्ण की आराधना करने वाले जैन मत में प्रविष्ट हुए तो बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि और कृष्ण में एक संबंध स्थापित हो गया। बहुत से हिन्दू देवता भी आ घुसे, यहाँ तक कि आज जैनियों में भी वैष्णव और अवैष्णव दो भिन्न विभाग पाये जाते हैं।"[2]

३. जैन धर्म के प्रणेता तीर्थंकरों की महानता एवं अनन्तता प्रदर्शित करने की भावना भी जैनियों को उनमें ईश्वरत्व स्थापित करने को बाध्य करती है। जिस तरह बुद्ध के अनुयायियों ने उन्हें आगे चलकर भगवान का स्वरूप माना उसी तरह कालान्तर में जैन धर्म में तीर्थंकरों में ईश्वरत्व का अभिधान किया गया। जैनधर्म के अनुसार "जो सर्व ज्ञाता है, सांसारिक प्रेम तथा असफलता से मुक्त है, तीनों लोकों में पूज्य है और अपनी आन्तरिक व्याख्या वास्तविक रूप में कर सकता है, वहीं धर्म के लिए महान् ईश्वर है।"[3]

४. जैन धर्म में कैवल्य की प्राप्ति अथवा आत्मा का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है। आत्मा और परमात्मा में कोई स्वरूप भेद नहीं है। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर आत्मा परमात्मरूप हो जाती है। साधक आत्मा के ज्ञान, भाव और संकल्प के तत्व ही मोक्ष की अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं।[4] इस तरह साधना पथ पर चल कर केवल ज्ञान को प्राप्त करने की प्रेरणा के पीछे भी ईश्वरत्व की अभिधारणा छिपी है।

५. धर्म और नैतिकता में गहरा सम्बन्ध है। नैतिकता की प्रबल मांग एक आदर्श की स्थापना है। जैन धर्म में इस आदर्श को तीर्थंकरों के रूप में दर्शाया गया है।

---

१. भारतीय दर्शन—राधाकृष्णन पृ० ३०३ तथा "ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी"—सी० डी० शर्मा पे० ६७।
२. भारतीय दर्शन—राधाकृष्णन—पृ० ३०३।
३. द्रष्टव्य—ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड रिलीजन्स, पृ० १०७।
४. धर्म का मर्म, पृ० २३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदर्श हमेशा निरपेक्ष एवं पूर्ण रूप होता है। आदर्श की स्थापना के लिए ही मानव-जीवन के आदर्श रूप में तीर्थंकरों को ईश्वर का रूप दे दिया गया है जिसकी प्रेरणा से कोई भी साधना पथ पर चलकर ईश्वरत्व की प्राप्ति कर सके। तीर्थंकर मार्ग प्रदर्शन के लिए आदर्श का काम करते हैं।[1]

IV

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म में ईश्वरवादियों की तरह स्रष्टा के रूप में ईश्वर को भले ही न माना गया है लेकिन तीर्थंकरों में ईश्वरत्व की स्थापना की गई है। ईश्वरोचित गुणों का अभिधान भी किया गया है। जैन धर्म में ईश्वरत्व की अवधारणा से निम्नलिखित तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—(१) मानव की शक्ति का विकास (२) धर्मवादिता (३) धैर्य एवं साधना का महत्व (४) आत्मा एवं परमात्मा का तादात्म्य सम्बन्ध (५) परम मानवीय मूल्यों की स्थापना (६) परमपुरुषार्थ रूप निर्वाण प्राप्ति की ओर ले जाने का प्रयास (७) मानव का ईश्वरीकरण करने की अवधारणा (८) मानववादी दृष्टिकोण (मानवतावाद की स्थापना)। निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म में ईश्वरत्व की स्थापना धर्म एवं नैतिकता दोनों की मांग है। अगर ईश्वरत्व की स्थापना को नकारा जाय तो फिर उपर्युक्त सिद्धान्तों की चरितार्थता को जैनमत सिद्ध नहीं कर सकता। धर्म के केन्द्र बिन्दु में मानव की स्थापना कर उसको उदातीकरण की प्रक्रिया से ईश्वरत्व प्रदान करना जैन धर्म की ही विशेषता हो सकती है। मानव भगवान हो सकता है। बशर्ते वह अपने स्व को पहचान ले। आत्मा और परमात्मा में कोई स्वरूप भेद नहीं हैं। मानवतावाद का सही चित्रण हमें जैनमत में प्राप्त होता है।

---

१. भारतीय दर्शन—दत्ता और चटर्जी पृ० ७४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनेत्तर दार्शनिक परम्पराओं में द्रव्य स्वरूप विमर्श

डॉ० विश्वनाथ चौधरी*

द्रव्य के स्वरूप की समस्या पर संसार के समस्त चिन्तकों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। पाश्चात्य दर्शन में ग्रीक दार्शनिक भी इसी समस्या का हल खोजते हुए प्रतीत होते हैं। भारतीय दर्शन में द्रव्य स्वरूप की समस्या उतनी जटिल रूप से दृष्टिगत नहीं होती है जितनी कि ज्ञानमीमांसा। मेरा ऐसा कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि भारतीय दर्शन में द्रव्यमीमांसा का कोई महत्त्व नहीं था, लेकिन यहाँ के चिन्तकों के सामने ज्ञानमीमांसा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। यदि हम ये कहें कि भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का विषय द्रव्य और ज्ञान मिश्रित रूप था, तो अनुचित नहीं होगा क्योंकि भारतीय दर्शन का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, जिसकी प्राप्ति के लिए तत्त्व ज्ञान भी एक प्रमुख साधन माना गया है। जहाँ तक हमारा अध्ययन है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि न्याय-वैशेषिक दार्शनिक परम्परा में द्रव्य का स्वरूप सर्वप्रथम प्रतिपादित किया गया है।

न्याय-वैशेषिक

न्याय-वैशेषिक परम्परा में सात पदार्थ बतलाये गये हैं, उसमें द्रव्य का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है।[1] महर्षि कणाद ने अपने 'वैशेषिक सूत्र' के प्रथम-अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य के लक्षण में निम्नलिखित बातें कही हैं—

(१) द्रव्य क्रिया और गुण से युक्त होता है।

(२) वह समवायीकरण होता है।[2]

द्रव्य की यह परिभाषा निर्दोष है या नहीं, इसका विवेचन नहीं करूँगा फिर भी इतना तो कह ही सकता हूँ कि उपरोक्त परिभाषा अधूरी प्रतीत होती है।

द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व नहीं है

'द्रव्यत्व जाति से जो युक्त हो' उसे द्रव्य कहते हैं। न्यायवैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित द्रव्य की यह परिभाषा युक्तिसंगत नहीं है। भट्टाकलंक देव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में प्रखर तर्कों

---

* व्याख्याता, प्राकृत, व० म०, म० पावापुरी, नालंदा।

१. (क) द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाया भावाः सप्तपदार्थाः।

—त० सं० (अन्नम भट्ट)।

(ख) वै० सू० (महर्षि कणाद) अ० १, आ० १, सूत्र ४।

२. "क्रियागुणवत समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" ॥ वै० सू० (महर्षि कणाद) अ० १, आ० १, सू० १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा इसकी समीक्षा करते हुए सदोष बतलाया है। उनका तर्क है कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य का स्वरूप तभी माना जा सकता है जब द्रव्यत्व नामक सामान्य पदार्थ के सम्बन्ध होने के पहले द्रव्य और द्रव्यत्व दोनों अलग सिद्ध हों। कहने का तात्पर्य यह है कि न्याय वैशेषिकों की उपर्युक्त द्रव्य की परिभाषा को स्वीकार करने के लिए यह मानना जरूरी है कि द्रव्यत्व और द्रव्य इन दोनों की सत्ता अनिवार्य एवं स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है। हम अपने इस कथन की पुष्टि उदाहरण द्वारा कर सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति दंडी इसलिए कहलाता है कि वह व्यक्ति और दंड स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहते हैं और उस व्यक्ति के सम्बन्ध से वह दण्डी कहलाने लगता है। उसी प्रकार से द्रव्य और द्रव्यत्व इन दोनों का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व होना अनिवार्य है और ऐसा मान लेने पर निम्नांकित कठिनाइयाँ आती हैं, जिनका निवारण होना सम्भव नहीं है।[1]

(क) यदि द्रव्य के सम्बन्ध होने के पूर्व द्रव्य और द्रव्यत्व इन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाय तो यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि जब द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान ही है तो द्रव्यत्व के सम्बन्ध की कल्पना करना कौन सी बुद्धिमानी है? अर्थात् व्यर्थ है। अब यदि इस दोष के बचाव के लिए यह कल्पना की जाय कि दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य कहना न्याय संगत नहीं है क्योंकि सम्बन्ध के पहले द्रव्य और द्रव्यत्व इन दोनों की सत्ता ही नहीं है, तब किसका सम्बन्ध किसके साथ होगा?

भट्टाकलंक देव कहते हैं कि यदि इन दोनों का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो भी द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्यत्व की कल्पना करना सम्भव नहीं है, क्योंकि जब उनमें पृथक्-पृथक् शक्ति नहीं है तो दोनों में मिलकर भी स्वप्रत्योत्पादन की शक्ति नहीं हो सकती। अपनी इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए एक उदाहरण भी दिया है। जिस प्रकार ऐसे दो अन्धे व्यक्तियों को, जो जन्म से अन्धे हैं, आपस में मिला देने पर उनमें देखने की शक्ति नहीं आती, उसी प्रकार जब द्रव्य और द्रव्यत्व इन दोनों में द्रव्य प्रत्यय और व्यवहार की शक्ति नहीं है तो इन दोनों के सम्बन्ध होने पर द्रव्य कैसे कहा जा सकता है?

यदि न्यायवैशेषिक के इस दोष को दूर करने के लिए ऐसी कल्पना करें कि द्रव्यत्व के संबंध होने के पहले भी द्रव्य 'द्रव्य' कहलाता था या उसमें द्रव्य कहलाने की शक्ति थी। तो इसके प्रत्युत्तर में भट्टाकलंकदेव का कहना है कि तब तो द्रव्य की कल्पना ही व्यर्थ है। अतः सिद्ध है कि द्रव्यत्व भी द्रव्य समवाय के पहले द्रव्य व्यवहार का कारण नहीं बन सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध में पहले द्रव्य का अस्तित्व होता तो द्रव्यत्व का सम्बन्ध मानना ठीक हो सकता था। लेकिन द्रव्य की स्वतः सत्ता मानी ही नहीं गयी है क्योंकि न्याय वैशेषिकों में सत्ता के समवाय से सत् सम्बन्ध से उसे 'सत्' कहा है। असत् में सत्ता समवाय माना जाय तो गदहे के सींग में भी सत्ता समवाय मानकर उसकी सत्ता माननी पड़ेगी जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

---

१. त० वा० (भट्टाकलंकदेव) ५।२।१३ पृ० ४३६–४३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरी बात यह है कि द्रव्यत्व सामान्य है और न्यायवैशेषिकों ने सामान्य को सर्वगत माना है।[1] यदि आतादात्म द्रव्य में वह सामान्य समवाय सम्बन्ध से रहता है तो उसी प्रकार गुण और कर्म में भी उसे रहना पड़ेगा। इस दोष से बचने के लिए न्यायवैशेषिकों का यह कथन उचित नहीं है कि द्रव्य तदात्मक होने से उसी में द्रव्यत्व का सम्बन्ध होता है, अन्य में नहीं क्योंकि द्रव्य को तदात्मक मानने पर उसमें समवायी की कल्पना करना व्यर्थ है।[2] द्रव्य के समवायीकरण मानकर उसमें द्रव्यत्व का समवाय मानना और गुण कर्म आदि में न मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यत्व सम्बन्ध के पहले द्रव्य का कोई स्वरूप ही नहीं माना गया है तब समवायी कारण मानना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य है कि गदहे के सींग की तरह असत् होने से या तो दोनों समवायीकरण नहीं हो सकते हैं अथवा दोनों होंगे। सिद्ध है कि द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व नाम का कोई सामान्य विशेष नहीं है।

भट्टाकलंक देव कहते हैं कि यदि यह मान भी लिया जाय कि द्रव्यत्व के योग से द्रव्य होता है तो उनके मत में द्रव्य है ऐसा कथन नहीं हो सकेगा क्योंकि जिस प्रकार दन्ड के सम्बन्ध से कोई पुरुष दन्डी कहलाता है उसी प्रकार द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्यत्व ही कहलायेगा न कि द्रव्य। द्रव्य और द्रव्यत्व को द्रव्यत्व का वाचक या द्रव्यत्व के समान मानना ठीक नहीं है अन्यथा द्रव्य को स्वतः मानना पड़ेगा। द्रव्यत्व के वाचक द्रव्यत्व और द्रव्य ये दो शब्द नहीं है। यदि इनको द्रव्यत्व का वाचक माना जाय तो द्रव्य की तरह द्रव्यत्व का कथन होना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता है। इसलिए द्रव्यत्व और द्रव्य इनको द्रव्यत्व का वाचक मानना ठीक नहीं है।

जिस प्रकार से दन्ड के सहयोग से दंडीमान ऐसा कथन होता है, उसी प्रकार द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्यमान ऐसा भी व्यवहार होना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता है। इसलिए सिद्ध होता है कि द्रव्य और द्रव्यत्व पुरुष और दन्ड की तरह भिन्न-भिन्न सत्ता नहीं है।

इस मत की समीक्षा में आचार्य ने यह दोष भी दिया है कि द्रव्यत्व एक ओर निरव्यय माना गया है। इसलिए यहाँ पर यह प्रश्न भी उठता है कि वह द्रव्यत्व अनेक पृथ्वी आदि में कैसे रह सकता है और यदि यह कहा जाय कि वह उनमें रहता है तो रूपादि की तरह उसे एक मानना पड़ेगा अनेक नहीं। एक प्रश्नोत्तर में भट्टाकलंकदेव का कहना है कि आकाश तो अनन्त प्रदेश वाली है। इसलिए उसका सभी पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। लेकिन द्रव्यत्व निरंश है। इसलिए उसका अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, काल, दिक्, तेज आत्मा और मन ये नौ द्रव्य माने गये हैं।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन दुःख निवृत्तिमूलक है और दुःख की निवृत्ति उसके मतानुसार ज्ञान से हो सकती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन ज्ञान प्रधान दर्शन है। यही कारण

---

१. नित्य सम्बन्धः समवायः ॥ त० सं०।

२. निव्यमेकमनेकानुगतः सामान्यम ॥ त० सं०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसके लिए 'सांख्यकारिका' में ईश्वर कृष्ण ने विस्तृत ऊहा-पोह किया है। इसी क्रम में उन्होंने प्रकृति और पुरुष सहित पच्चीस तत्त्वों के स्वरूप का विवेचन किया है।

मीमांसा दर्शन

'कुमारिलभट्ट' में छह पदार्थ माने गये हैं और प्रभाकर मत में आठ। लेकिन दोनों परम्पराओं में द्रव्य को भी एक पदार्थ माना गया है। यहाँ पर परिणाम के आश्रय को द्रव्य का स्वरूप कहा गया है। परिणाम को गुण माना गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुण के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य की परिभाषा जैन द्रव्य की परिभाषा से मिलती-जुलती है जिसका विवेचन आगे अपेक्षित है। यहाँ पर पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, काल, आत्मा, मन, दिक्, शब्द, तम ग्यारह द्रव्य माने गये हैं।

इस प्रकार दार्शनिक जगत् में द्रव्य की अवधारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। प्रारम्भ से ही भारतीय और यूरोपीय दार्शनिकों ने इस पर अपने-अपने दृष्टिकोण से गहराई-पूर्वक अनुचिन्तन किया है। यदि हम अपने कथन के क्षेत्र को थोड़ा और व्यापक करें तो हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिकों ने भी इसे अपनी गवेषणा का विषय बनाया है। परन्तु जैन धर्म दर्शन में प्रतिपादित द्रव्य का स्वरूप अन्य की अपेक्षा तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक व्यवहारिक एवं महत्त्वपूर्ण है। जैन चिन्तकों ने द्रव्य का विवेचन विस्तृत रूप से करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अशुद्ध द्रव्य हेय है तथा शुद्ध द्रव्य उपादेय। शुद्ध द्रव्य को अपना कर ही मोक्ष पाया जा सकता है जो जैनेत्तर भारतीय दार्शनिकों का भी यही लक्ष्य रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड (ख)

धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारत में जैन धर्म के विकास के मुख्य अवस्थान

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी*

जैन धर्म भारत के प्रमुख धर्मों में एक है। वह श्रमण-परंपरा का वाहक है, जिसकी जड़ें इस देश में आद्य-ऐतिहासिक युग में जम गयी थीं। प्राचीन समय से लेकर आधुनिककाल तक इस धर्म का प्रवाह विविध रूपों में द्रष्टव्य है।

भारतीय संस्कृति के विकास में जैन धर्म का उल्लेखनीय योगदान रहा है। प्रेय और श्रेय की उदात्त भावना को जैन धर्म ने व्यापक रूप से संवर्धित किया। सत्य, अहिंसा, त्याग और सेवा—ये हमारी संस्कृति के प्रमुख चार तत्त्व हैं। इनके विकास में जैन धर्म ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। इस धर्म ने साहित्य तथा कलाओं के माध्यम से सांस्कृतिक प्रसार किया। भारतीय इतिहास में जैन धर्म का यह योगदान विशेष महत्त्व रखता है।

अनेक भौगोलिक, जनपदीय विभिन्नताओं के होते हुए सांस्कृतिक दृष्टि से भारत देश एक रहा है। एक समन्वित संस्कृति के निर्माण में भारतीय धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं के आचार्यों का प्रभूत योगदान रहा है। जैन आचार्य-परंपरा ने अपनी कर्मठता से धर्म-दर्शन, भाषा-साहित्य, कला और लोकजीवन को समृद्ध बनाया।

हमारे मनीषी संस्कृति-निर्माताओं ने देश के विभिन्न भागों में विचरण कर सच्चे जीवन-दर्शन का संदेश फैलाया। धीरे-धीरे भारत और उसके बाहर अनेक संस्कृति-केन्द्रों की स्थापना हुई। इन केन्द्रों पर समय-समय पर विभिन्न मतावलंबी लोग मिलकर विचार-विमर्श करते थे। सांस्कृतिक विकास में इन केन्द्रों का विशेष योगदान था। भारत में मथुरा, कौशांबी, अयोध्या, श्रावस्ती, वाराणसी, राजगृह, विदिशा, उज्जैन, देवगढ़, वलभी, प्रतिष्ठान, कांची, श्रवणवेलगोल आदि अनेक सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित हुए।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हुआ। जिस भूमि पर वह स्तूप बनाया गया वह अब "कंकाली टीला" कहलाता है। इस टीले के एक बड़े भाग की खुदाई पिछली शताब्दी के अंतिम भाग में हुई थी, जिसके फलस्वरूप एक हजार से ऊपर विविध प्रकार की पाषाण मूर्तियाँ मिली थीं। उस उत्खनन में हिन्दू और बौद्ध-धर्म-संबंधी इनी-गिनी मूर्तियों को छोड़कर शेष सभी मूर्तियाँ जैन धर्म से संबंधित थीं। उनके निर्माण का समय ई० पूर्व प्रथम शती से लेकर लगभग ११०० ई० तक है। कंकाली टीला तथा ब्रज क्षेत्र के अन्य स्थानों में प्राप्त बहुसंख्यक जैन मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेष इस बात के सूचक हैं

---

* भू० पू० विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि वहाँ एक लंबे समय तक जैन धर्म का विकास होता रहा। इस धर्म ने व्रज क्षेत्र में समवाय की भावना के विकास में लगभग बारह शताब्दियों के दीर्घकाल में अपना योगदान दिया।

मथुरा, कौशांबी, अहिच्छत्रा, विदिशा, आदि केन्द्रों में जैन धर्म का प्रारम्भिक विकास हुआ। इन स्थलों में प्राप्त जैन अवशेषों को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है : तीर्थंकर प्रतिमाएँ, देवियों की मूर्तियाँ और आयागपट्ट। चौबीस तीर्थंकरों में से अधिकांश की मूर्तियाँ इन केन्द्रों में बनायी गयीं। तीर्थंकर मूर्तियों के साथ उसके यक्ष-यक्षियों की प्रतिमायें भी बनायी गयीं। ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी तथा नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उन पर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किये जाते थे। मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट है जिसे उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक एक गणिका की पुत्री वसु ने बनवाया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का अंकन है तथा वेदिकाओं सहित तोरणद्वार बना है। मथुरा कला के कई उत्कृष्ट आयागपट्ट लखनऊ संग्रहालय में हैं। रंगवल्ली का प्रारंभिक रूप इन आयागपट्टों में देखने को मिलता है। सज्जा-अलंकरण के रूप में रंगवल्ली का प्रसार भारत के अनेक क्षेत्रों में हुआ, जिसे प्राचीन वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला में देखा जा सकता है।

जैन धर्म के अन्य प्राचीन केन्द्रों—कौशांबी, अहिच्छत्रा, देवगढ़, चँदेरी, विदिशा, ग्वालियर आदि में भी दर्शन, साहित्य और कला का विकास हुआ। विदिशा में वैदिक-पौराणिक, जैन तथा बौद्ध धर्म साथ-साथ शताब्दियों तक विकसित होते रहे। विदिशा के समीप दुर्जनपुर नामक स्थान से हाल में तीन अभिलिखित तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं। उन पर लिखे हुए ब्राह्मी लेखों से ज्ञात हुआ है कि ई० चौथी शती के अंत में इस स्थल पर गुप्त वंश के शासक रामगुप्त के समय कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना करायी गयी। कुल प्रतिमाओं की संख्या चौबीस रही होगी। विदिशा नगर के निकट एक ओर उदयगिरि की पहाड़ी में वैष्णव धर्म का केन्द्र था, दूसरी ओर पास ही साँची में बौद्ध केन्द्र था। जैन धर्म के समताभाव का मालवा क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। बिना किसी द्वेष के सभी मुख्य धर्म यहाँ साथ-साथ संवर्धित होते रहे।

जैन धर्म की अहिंसा तथा अपरिग्रह भावना का प्रभाव भारत में व्यापक रूप से हुआ। प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य में हम इसे देख सकते हैं। कला के क्षेत्र में समन्वयात्मक भावना के मूर्त रूप को हम देश के अनेक कला केन्द्रों में पाते हैं। समन्वय के संवर्धन में जैन मुनियों, आचार्यों, व्यापारियों तथा जनसाधारण ने अपने प्रयास जारी रखे। इस प्रकार के उदाहरण कौशांबी, देवगढ़ (जिला ललितपुर, उत्तर प्रदेश), खजुराहो, मल्हार (जिला बिलासपुर, म० प्र०), एलोरा आदि में उपलब्ध हैं। दक्षिण भारत में बनवासी, कांची, मूडविद्री, धर्मस्थल, काड़क्ल आदि ऐसे बहुसंख्यक स्थानों में विभिन्न धर्मों के जो स्मारक विद्यमान हैं उनसे इस बात का पता चलता है कि समवाय तथा सहिष्णुता को हमारी विकासशील संस्कृति में प्रमुखता दी गयी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभिन्न धर्मों के आचार्यों ने समवाय भावना को विकसित तथा प्रचारित करने में उल्लेखनीय कार्य किये। जैन धर्म में आचार्य कालक, कुंदकुंद, समंतभद्र, हेमचंद्र, देवकीर्ति आदि ने इस दिशा में बड़े सफल प्रयत्न किये। जनसाधारण में ही नहीं, समृद्ध व्यवसायी वर्ग तथा राजवर्ग में इन तथा अन्य आचार्यों का प्रभूत प्रभाव था। पारस्परिक विवादों को दूर करने तथा राष्ट्रीय भावना के विकास में उनके कार्य स्मरणीय रहेंगे।

जैन धर्माचार्यों ने दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध राजवंशों—राष्ट्रकूट तथा गंग वंश—के तीव्र विवादों दूर कराकर उनमें मेल कराया। अनेक आचार्य मार्ग की कठिनाइयों की परवाह न कर दूर देशों में जाते थे। कालकाचार्य, कुमारजीव, दीपंकर, अतिशा आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत आदि दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में इन विद्वानों ने भारतीय संस्कृति का संदेश फैलाने में बड़ा कार्य किया। उनका संदेश समस्त जीवों के कल्याण हेतु था। दीपंकर के बारे में प्रसिद्ध है कि जब उन्हें ज्ञात हुआ कि भारत पर विदेशी आक्रमणों की घटा उमड़ने वाली है तब वे तिब्बत को (जहाँ वे उस समय थे) छोड़कर भारत आये। यहाँ वे बंगाल के पाल शासक नयपाल से मिले और फिर कलचुरि-शासक लक्ष्मीकर्ण के पास गये। इन दोनों प्रमुख भारतीय शासकों को उन्होंने समझाया कि आपसी झगड़े भूलकर दोनों शासक शत्रु का पूरी तरह मुकाबला करें, जिससे देश पर विदेशी अधिकार न होने पाये। इस यात्रा में आचार्य दीपंकर को लंबे मार्ग की अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परंतु राष्ट्र-हित के सामने ये सब कष्ट उनके लिए नगण्य थे।

कर्णाटक क्षेत्र में जैन धर्म ने समवाय भावना की वृद्धि में असाधारण योगदान दिया। वहाँ से लेकर धुर दक्षिण तक यह भावना फैलायी गयी। श्रवणबेलगोल के लेखों से ज्ञात हुआ है कि वहाँ विभिन्न कालों में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हुए। ये विद्वान् जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के शास्त्रों में भी प्रवीण थे। अन्य धर्माचार्यों के साथ उनके शास्त्रार्थ होते थे, परंतु वे कटुता और द्वेष की भावना से न होकर बौद्धिक स्तर के होते थे। कर्णाटक और आंध्र प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में साहित्य और कला का बड़े रूप में प्रसार हुआ। इसके अध्ययन से पता चलता है कि जैन आचार्यों ने समता और शांति की अभिवृद्धि में प्रभूत योगदान दिया।

गुप्तयुग के पश्चात् भारत में बौद्धधर्म का प्रभाव अत्यंत सीमित क्षेत्र पर रह गया। इसमें पूर्वी भारत तथा दक्षिण कोसल एवं उड़ीसा के ही कुछ भाग थे। दूसरी ओर जैन धर्म का व्यापक प्रसार प्रायः सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। वैष्णवों तथा शैवों ने अपने धर्मों में अन्य विचारधाराओं के कल्याणकारी तत्वों को सम्मिलित कर उदारता का परिचय दिया। मध्यकाल में उत्तर तथा दक्षिण भारत में वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रचार बढ़ा। जैन धर्मावलंबियों ने उनके उदार दृष्टिकोण के संवर्धन में सहयोग दिया। जैनाचार्यों ने अपने धर्म के अनेक कल्याणप्रद तत्वों को उन धर्मों में समन्वित करने का महत्वपूर्ण कार्य निष्पन्न किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए। अब वैदिक-पौराणिक धर्म ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। पशु बलि वाले यज्ञ तथा तत्संबंधी जटिल क्रियाकलाप प्रायः समाप्त कर दिये गये। वैदिक यज्ञों के स्थान पर अब नये स्मार्त्त धर्म ने देश-काल के अनुरूप धर्म-दर्शन के नये आयाम स्थापित किये। जैन धर्म के अहिंसा तथा समता भाव ने इन आयामों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया।

वर्णाश्रम एवं संस्कार-व्यवस्था, प्रशासन, अर्थनीति आदि की तत्कालीन प्रणाली का जैन धर्म ने विरोध नहीं किया, अन्यथा अनेक सामाजिक जटिलताएँ उपस्थित हो सकती थीं। जैन शासकों, व्यापारियों तथा अन्य जैन धर्मावलंबियों ने उन सभी कल्याणकारी परिवर्तनों को प्रेरणा दी तथा उनका निर्माण पूरा कराया जो राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक थे। भारत की व्यापक सार्वजनीन संस्कृति के निर्माण में जैन धर्म का निःसंदेह असाधारण योगदान है। यह इसी कारण संभव हो सका कि जैन मुनियों, आचार्यों, व्यावसायिक वर्गों आदि ने अत्यंत उदार भावना से कार्य किया। उन्होंने उन तत्वों को प्रोत्साहन दिया जो देश को एकता तथा धार्मिक सद्भावना के निर्माण में सहायक थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन धर्म में तप

रज्जन कुमार*

जैन धर्म अपनी साधना पद्धति के लिए विख्यात है। तप का जैन साधना पद्धति में एक अलग स्थान है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप ये चारों जैन साधना पद्धति के चार अंग हैं इनमें से सम्यक् तप का अपना विशिष्ट महत्त्व है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"आत्मा ज्ञान से जीवादि भेदों को जान लेता है, दर्शन से श्रद्धान् करता है, चारित्र से कर्मास्रव का निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है। समस्त दुःखों से मुक्त होने के लिए व्यक्ति संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"[1]

जैन परंपरा में तप का मुख्य लक्ष्य कर्मों का क्षय करना है। आचार्य वट्टकेर के अनुसार जिस प्रकार अग्नि हवा की सहायता से तृण और काष्ठादि को जलाती है उसी प्रकार ज्ञानरूपी हवा से युक्तशील, समाधि और संयम से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि संसाररूपी बीज को जलाती है, जिस प्रकार मिट्टी तथा अन्य इसी प्रकार की अशुद्धियों से युक्त स्वर्ण अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता है ठीक उसी प्रकार जीव तप के द्वारा कर्मों को जलाकर स्वर्ण की तरह ही शुद्ध हो जाता है।[2]

तप का स्वरूप

तप के स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—पंचेन्द्रिय विषय और चार कषायों (काम, क्रोध, मान और माया) का विनिग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मचिन्तन करना तप है।[3] अकलंकदेवभट्ट के अनुसार कर्मक्षय में जो साधना सहायक होती है वह तप है।[4] जयसेवाचार्य के अनुसार "रागादि समस्त भाव इच्छाओं के त्याग से स्वस्वरूप में प्रतपन-विजयन करना तप है।[5]

---

* शोध छात्र, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. उत्तराध्ययन सूत्र २८।३५, ३६।

२. मूलाचार ८।५६, ५७।

३. विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।। ७७।।

बारसअणुवेक्खा

४. कर्मक्षयार्थं तप्यन्त इति तपः। ९।६।१७, तत्त्वार्थवार्तिक।

५. समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपेप्रतपनं विजयनं तपः।

—प्रवचनसार, गाथा ७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह से हम देखते हैं कि तप के स्वरूप को लेकर विद्वानों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन इन सबों के विचार में एकरूपता भी है और वह है—तप के द्वारा मुक्ति व शांति की प्राप्ति। क्योंकि तप की सहायता से सभी प्रकार की अपवित्रता, सम्पूर्ण कषाय एवं समस्त प्रकार की अशांतियों को दूर किया जा सकता है।

तप के भेद

तप के द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्मा को शुद्ध किया जाता है। अगर तप की विधियों और प्रक्रियाओं पर दृष्टिपात किया जाए तो इसे मुख्य रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम बाह्य तप एवं द्वितीय अभ्यन्तर (आंतरिक तप)।[1]

(१) **बाह्य तप**—शारीरिक विकारों को नष्ट करने तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले तप को बाह्य तप कहा जाता है। इसके छह भेद हैं[2]—(i) अनशन, (ii) अवमौदर्य, (iii) वृत्तिपरिसंख्यान, (iv) रसपरित्याग, (v) विविक्तशय्यासन और (vi) कायक्लेश।

(२) **आभ्यन्तर तप**—कषाय, प्रमाद आदि आंतरिक विकारों को आभ्यन्तर तप की सहायता से क्षय किया जाता है। इसके भी छः भेद हैं[3]—(i) प्रायश्चित, (ii) विनय (iii) वैयावृत्य, (iv) स्वाध्याय, (v) ध्यान और (vi) व्युत्सर्ग।

(१) बाह्य तप

बाह्य द्रव्य के आलम्बन से दूसरों को देखने में आने वाले तप बाह्य तप कहलाते हैं।[4] अनागार-धर्मामृत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिस तप की साधना विशेष रूप से देह से सम्बन्धित है या जिसकी सहायता से देह को क्षीण किया जाता है वह तप बाह्य तप है।[5] 'भगवती आराधना' के अनुसार-बाह्यतप से सब प्रकार के सुख मूलक कारण छूट जाते हैं क्योंकि शरीर सुख-दुःख का कारण है। इसको छोड़ने का साधन है शरीर को कृश करना। ऐसा करने से आत्मा संवेग या संसारभीरूता नामक अवस्था में स्थिर हो जाती है।[6] इस तरह बाह्य तप की सहायता से व्यक्ति अपने तन और मन को सहिष्णु बना लेता है। इसके छह भेदों का संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है—

(i) **अनशन**—साधारणतः अनशन का अर्थ उपवास या आहार त्याग समझा जाता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है कि मन और इन्द्रियों को जीतकर इहलोक तथा परलोक

---

१. मूलाचार, ३४५।

२. अनशनअवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेश बाह्यं तपः ॥९।१९॥ तत्त्वार्थसूत्र।

३. प्रायश्चित विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्गध्यानान्युतरम् ॥९।२०॥ वही०।

४. सर्वार्थसिद्धि ९।१९।

५. अनागार धर्मामृत ७।८।

६. बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता।
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥ भगवती आराधना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के सुखों से अपेक्षारहित होकर आत्मध्यान और स्वाध्याय में लीन होकर कर्मक्षय के लिए काल परिमाण सहित सहज भाव से किया गया आहार त्याग अनशन तप है।[1] इसके दो भेद हैं—(क) इत्वारिक और (ख) यावज्जीवन।[2]

(क) **इत्वारिक अनशन**—इत्वारिक अनशन वह है जिसमें निर्धारित समय तक उपवास करने के बाद पुनः भोजन की आकांक्षा की जाती है।

(ख) **यावज्जीवन**—जीवन पर्यन्त किया गया आहार त्याग यावज्जीवन अनशन है। प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम की सिद्धि के लिए अनशन तप किया जाता है। क्योंकि दोनों ही प्रकार के असंयम का अविर्भाव भोजन के साथ ही देखा गया है।[3] आहार त्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व के भाव का त्याग हो जाता है। अर्थात् शरीर और प्राणों के प्रति आसक्ति का भाव खत्म हो जाता है।[4]

(ii) **अवमौदर्य तप**—अवमौदर्य का अर्थ है कम मात्रा में भोजन ग्रहण करना।[5] इसे अनोदरी तप भी कहा गया है।[6] जितनी भूख हो उससे कम खाना ही अवमौदर्य तप है।

अवमौदर्य तप संयम को जागृत रखने, दोषों को कम करने, संतोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि करने में सहायक होता है।[7]

(iii) **वृत्तिपरिसंख्यान**—भोजन, भाजन (पात्र), घर, मुहल्ला इन्हें वृत्ति कहा जाता है। इस वृत्ति का परित्याग अर्थात् परिमाण, नियन्त्रण ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।[8] मूलाचार के अनुसार आहारार्थ जाने से पूर्व भिक्षा से सम्बन्ध गोचर (गृह), प्रमाण, दाता, पात्र तथा अशन आदि विविध प्रकार के अभिग्रह या संकल्पपूर्वक वृत्ति करना वृत्ति-परिसंख्यान तप कहलाता है।[9]

---

१. जो मण-इंदिय-विजई इह-भव-पर-लोय-सोक्खं-णिरवेक्खो अप्पाणे विय णिवसइ सज्झाय-परायणो होदि ॥४४०॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

२. मूलाचार, गाथा ३४७।

३. धवला १३।५।४।२६।५५।३।

४. आहार पच्चक्खाणेणं जीविया संसप्पओगं वोच्छिन्दइ।
जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दत्त जीवे आहार मन्तरेणं न संकिलिस्सइ ॥२९।३६॥
उत्तराध्ययनसूत्र।

५. अवमोदरस्य भावः कर्म च अवमौदर्यमिति ॥२१४॥ भगवती आराधना।

६. उत्तराध्ययन सूत्र, ३०।१५।

७. संयम प्रजागरदोषप्रशमसन्तोषस्वाध्यायदिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम् ॥
९।१९॥ सर्वार्थसिद्धि

८. भोयन-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्तीणाम।
तिस्से वुत्तिए परिसंख्याणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम ॥
१३।५,४,२६।५७।४॥ धवला।

९. मूलाचार, गाथा ३५५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तप की सहायता से आशा, लोलुपता आदि का नाश होता है तथा धैर्य में वृद्धि होती है। धवला के अनुसार इन्द्रिय संयम तथा भोजनादि के प्रति रागवृति को सर्वथा दूर करने के लिए अवमौदर्य तप सहायक है।[1]

(iv) **रसपरित्याग तप**—समस्त प्रकार के रसों या सरस भोजन का त्याग करना रसपरित्याग तप है। मक्खन, घी, मिष्ठान्न आदि सरस आहार हैं। उमास्वाति के अनुसार मद्य, मांस मधु, मक्खन आदि रस विकृतियाँ हैं। उनका त्याग तथा विरस आहार को ग्रहण करना ही रस परित्याग तप है।[2] 'मूलाचार' में कहा गया है कि मक्खन तीव्र विषया अभिलाषा उत्पन्न करता है। मद्य पुनः पुनः स्त्री के साथ भोग कराता है। मांस दर्प पैदा करता है। मधु इन्द्रिय तथा प्राणि असंयम उत्पन्न करता है। अतः व्यक्ति को इन सबों का त्याग करना चाहिए क्योंकि उनके सेवन से अहिंसा और असंयम में वृद्धि उत्पन्न होती है जो कर्मबन्ध का कारण बनती है।[3]

यह तप प्राणिसंयम और इंद्रिय संयम की प्राप्ति में सहायक होती है। क्योंकि इससे स्वादेन्द्रिय एवं अन्य समस्त इंद्रियों का निरोध हो जाता है। इससे व्यक्ति को संयम पर नियन्त्रण में सहायता मिलती है।[4]

(v) **विविक्तशय्यासन तप**—बाधारहित एकान्त स्थान में निवास करना विविक्त-शय्यासन तप है। 'तत्वार्थवार्तिक' के अनुसार—बाधानिवारण, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि के लिए निर्जन, शून्य, एकान्त स्थान में रहना विविक्तशय्यासन तप कहलाता है।[5]

इस तप की सहायता से ब्रह्मचर्य की साधना, कष्टसहिष्णुता, निर्भयता तथा निर्ममत्व-भाव का अभ्यास किया जाता है। 'सूत्रकृतांग'[6] में कहा गया है कि इस तप का आचरण करने वाला व्यक्ति तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देवकृत उपसर्गों से विचलित नहीं होता है और वह सामयिक समाधि की साधना कर सकता है।

(vi) **कायक्लेश तप**—शरीर को क्षीण करने वाले तप को कायक्लेश तप कहा जाता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है कि कायक्लेश का अर्थ है विभिन्न प्रकार के आसन आदि के द्वारा शरीर को सुस्थिर करना।[7] इस तप साधना की पूर्णता के लिए कष्ट

---

१. धवला, १३।५, ४, २६।५६।६।

२. तत्त्वार्थसूत्र, ९।१९।

३. मूलाचार, ३५२, ३५३, ३५४।

४. धवला, १३।५, ४, २६।५७।१०।

५. आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्धयर्थंविविक्तशय्यासनम्।
॥ ९।१९।१२ ॥ तत्त्वार्थवार्तिक

६. उवणीयतरस्य ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाणं भए ण दंसए॥
॥ २।२।१७ ॥ सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध

७. उत्तराध्ययन सूत्र, ३०।२७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहिष्णुता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। साधक को कष्ट सहिष्णु होना चाहिए, जो साधक कष्ट सहिष्णु नहीं होता है, वह कष्टों से घिर जाने पर अपना धैर्य खो बैठता है। इस कारण वह अपने धर्म पथ से च्यूत हो जाता है। इसीलिए कहा भी गया है कि तितिक्षा साधक का परमधर्म है।[1] 'निशीथचूर्णि' के अनुसार साधक को अपने मन में धीरता, वीरता, साहस और सहिष्णुता की प्रवृत्ति को संजो कर रखना चाहिए, क्योंकि यही सभी तप की मूल धृति है।[2]

इस तप-साधना के अभ्यास से देह के प्रति अनासक्ति का भाव जागृत होता है। साधक का चिन्तन गतिमान् होने लगता है। वह सोचने लगता है कि यह शरीर क्षणभंगुर है, कष्ट से शरीर को पीड़ा होती है; आत्मा को नहीं। शरीर नाशवान् है आत्मा नहीं।[3] इस तरह शरीर और आत्मा की भिन्नता को जानकर व्यक्ति दुःख एवं क्लेशों को व्यास करने वाले देह के प्रति अपने ममत्व का त्याग कर देता है।

(२) आभ्यन्तर तप

मन के आन्तरिक विकारों, दूषित मनोवृत्तियों, कषायों, प्रमादों आदि को आभ्यन्तर तप की सहायता से दूर किया जाता है। 'भगवती आराधना' में कहा गया है कि आभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणाम रूप होते हैं। इनके विना बाह्य तप निर्जरा में समर्थ नहीं होता है।[4] अतः निर्जरा के लिए आभ्यन्तर तप की आवश्यकता होती है। इसके छह भेदों पर चर्चा की जा रही है—

(i) प्रायश्चित तप—अपने दोषों को जानकर उसके प्रति खेद व्यक्त करना ही प्रायश्चित तप कहलाता है। 'सर्वार्थसिद्धि'[5] में प्रायश्चित तप पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि किसी व्रत-नियम भंग होने पर उसमें लगे दोषों का परिहार करना या अपने आचार्य के पास चित्त शुद्धि के लिए अपने दोषों को प्रगट करना और उसके लिए प्रायश्चित करना ही प्रायश्चित तप है।

व्यक्ति इस तप की सहायता से अपने दोषों को ठीक करता है। मूलाचार में इसके दस भेद बताये गये हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान।[6]

---

१. तितिक्खं परमं णच्चा। सूत्रकृतांग १।८।२६।
२. तवस्स मूलं धिति। निशीथचूर्णि ८४।
३. नत्थि जीवस्स ना सुत्ति। उत्तराध्ययनसूत्र २।२७।
४. अब्भंतरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं।
अब्भंतरदोसेण हु कुणादि णरो बाहिरं दोसं ॥ १३४३ ॥ भगवती आराधना।
५. प्रमाद दोषः परिहारः प्रायश्चितम् ॥ ९।२० ॥ सर्वार्थसिद्धि।
६. मूलाचार, ३६२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ii) विनय तप—अपने से बड़े तथा गुरु एवं आचार्यों का आदर करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना विनय तप है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसके चार भेद बताये गये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार।[1]

तपों में विनय तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी सहायता से ज्ञान, संयम और तप सधते हैं। इनकी सहायता से मोक्ष की प्रासि की जा सकती है, क्योंकि ये सभी मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं।

(iii) वैयावृत्य तप—उचित व्यक्ति को उचित प्रकार से सेवा, आदर सत्कार करना ही वैयावृत्य तप कहलाता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में वैयावृत्य तप के बारे में कहा गया है कि जिस व्यक्ति को जिस प्रकार की आवश्यकता हो उसी प्रकार से उसका उचित आदर, सत्कार, सम्मान करना ही वैयावृत्य तप है।[2] मूलाचार के अनुसार आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर, नवदीक्षित बाल मुनियों, वृद्ध मुनियों की सामर्थ्य से जैसे—शय्या, आसन, उपाधि, प्रतिलेखना, शुद्ध आहार, औषधि, वाचना और वन्दना द्वारा सेवा करना वैयावृत्य तप है।[3]

इस तप की सहायता से व्यक्ति अपने मन में समाधि का भाव पैदा करके अपनी ग्लानि को दूर करता है तथा वह निःसहायता या निराधारता की अनुभूति नहीं करता है। आचार्य शिवार्य के अनुसार वैयावृत्य तप करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है। यही आज्ञा संयम है। इससे वैयावृत्य करने वाले का उपकार निर्दोष रत्नत्रय का दान तथा संयम में सहयोग प्राप्त होता है, विचिकित्सा (ग्लानि) दूर होती है। धर्म की प्रवाहना और कर्त्तव्य का निर्वाह होता है।[4]

(iv) स्वाध्याय तप—स्वाध्याय तप मन को निर्मल बनाने की एक प्रक्रिया है। 'उत्तराध्ययन' के अनुसार स्वाध्याय तप करने से सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा मिल जाता है।[5] 'आचार्य पूज्यपाद' के अनुसार आलस्य का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है।[6] पं० आशाधर के अनुसार गणधरों द्वारा रचे गये सूत्रों एवं ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।[7]

---

१. ज्ञानदर्शन चरित्रोपचाराः। ९।२३ ॥ तत्त्वार्थसूत्र।

२. ओसवपं जहाथामं वैयावच्चं तमाहियं ॥ ३०।३३ ॥ उत्तराध्ययनसूत्र।

३. मूलाचार, ३८९, ३९१।

४. भगवती आराधना, ३१०।

५. सज्झाएवा निउप्तेण सव्वदुक्ख विमोक्खणं ॥ २६।१० ॥ उत्तराध्ययनसूत्र।

६. ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः ॥ ९।२० ॥ सर्वार्थसिद्धि।

७. सूत्रं गणधरायुक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः स्वाध्यायः ॥ ९।४ ॥ अनागार धर्मामृत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वाध्याय तप का सभी तपों में विशेष स्थान है। इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए पं० आशाधरजी ने कहा है कि स्वाध्याय तप की सहायता से मुमुक्षु की तर्कशील बुद्धि का उत्कर्ष होता है। परमागम की परम्परा गतिशील होती है। मन, इन्द्रियाँ तथा चार संज्ञाओं (आहार, निद्रा, भय और मैथुन) की अभिलाषा का निरोध हो जाता है। संशय का छेदन तथा क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का भेदन हो जाता है। संवेग तथा तप में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। सभी प्रकार के अतिचार दूर हो जाते हैं। अन्यवादियों का भय खत्म हो जाता है।[1]

(v) **ध्यान तप**—अस्थिर मन को स्थिर करने के लिए जो तप किया जाता है वह ध्यान तप है। 'आवश्यक निर्युक्ति' में ध्यान पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि चंचल चित्त का किसी एक विषय में स्थिर हो जाना ध्यान है।[2] 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति को स्थिर करना ध्यान है।[3]

ध्यान तप की सहायता से व्यक्ति चित्त की चंचलता को रोककर एकाग्रता द्वारा आत्मिकशक्ति का विकास करके मुक्ति प्राप्त करने की ओर अग्रसर होता है। श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार, मोक्ष कर्मों के क्षय से प्राप्त होता है। कर्मों का क्षय आत्मज्ञान की सहायता से प्राप्त होता है। आत्मज्ञान आत्मध्यान (ध्यान तप) से होता है। इस प्रकार आत्मध्यान ही आत्मा के हित का साधक है।[4]

ध्यान तप मुख्य रूप से अप्रशस्त और प्रशस्त दो भागों में बँटा है। पुनः प्रशस्त ध्यान धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान तथा अप्रशस्त ध्यान आर्त्त एवं रौद्र ध्यान में बँटा हुआ है।[5]

अप्रशस्त ध्यान—यह अशुभ ध्यान है। इसे कुध्यान भी कहा जाता है।

प्रशस्त ध्यान—यह शुभ ध्यान है।

(vi) **व्युत्सर्ग तप**—'व्युत्सर्ग' का अर्थ त्यागना या छोड़ना है। इसमें सब पदार्थों यहाँ तक कि अपने शरीर व प्राण के प्रति भी मोह का त्याग किया जाता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है कि सोने, बैठने तथा खड़े होने में जो भिक्षु शरीर से व्यर्थ चेष्टा नहीं करता है

---

१. अनागार धर्मामृत ७।८९।

२. चित्त सेगगया हवइ आणं ॥ १४५९ ॥ आवश्यक निर्युक्ति।

३. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तमुहूर्तात् ॥ ९।२७-२८ ॥ तत्त्वार्थसूत्र

४. योगशास्त्र, ४।११३।

५. मूलाचार, ३९४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह शरीर का व्युत्सर्ग नामक छठा तप है।[1] भट्ट अकंलकदेव के अनुसार निःसंगता, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग तप है।[2] 'औपपातिक सूत्र' में लिखा गया है कि शरीर सहयोग-उपकरण और खान-पान का परित्याग, कषाय संसार का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।[3]

इस तरह से हम देखतें हैं कि उस तप के द्वारा समस्त परिग्रहों (शरीर और संसार) पर से ममत्व के भाव का त्याग उन परिग्रहों का त्याग करके किया जाता है। ममत्व त्याग करने से व्यक्ति अपनी आसक्ति का त्याग करता है। आसक्ति त्यागने से वह कर्मबन्धन को कमजोर करता है और मोक्ष या कैवल्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

१. समयणासण-ठाणे बा जे ऊ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्यो छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥ ३०।३६ ॥ उत्तराध्ययन सूत्र।

२. निःसंग निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थी व्युत्सर्गः ॥९।२६।१०॥ तत्त्वार्थवार्तिक।

३. औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकारः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिग्रह के दुष्परिणाम

डॉ० हुकमचन्द जैन*

यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसको अपने जीवन-यापन करने के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाज में रह कर विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करता है और आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करके अपने जीवन को सुचारु रूप से चलाता है। किन्तु मनुष्य में बुराई वहाँ से प्रारम्भ होती है जहाँ से वह अपनी इच्छाओं को संयमित करने के बजाय उनकी वृद्धि करता है और उनकी पूर्ति हेतु कुमार्ग पर चल पड़ता है। ये ही उसके जीवन का अन्धकारमय पक्ष है। इसी अन्धकारमय पक्ष के वशीभूत होकर वह वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह प्रारम्भ कर देता है और इस तरह से उसमें परिग्रह-वृत्ति जन्म ले लेती है। इसी परिग्रह-वृत्ति से मानसिक विकारों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। इन मानसिक विकारों की परम्परा के मूल में इच्छा-तृष्णा विद्यमान रहती है। उत्तराध्ययन में ठीक ही कहा है: 'यदि कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत हों फिर भी लोभी मनुष्य को उन पर्वतों से कुछ भी संतोष नहीं मिलता। निश्चय ही इच्छा आकाश के समान अनन्त है।'[1] मनुष्य की कुछ प्रवृत्ति ऐसी होती है कि लाभ होने के साथ लोभ की वृत्ति बढ़ जाती है और लोभ-वृत्ति ही परिग्रह वृत्ति को बढ़ाती है।[2] ये परिग्रह वृत्ति जब सीमा को लांघ जाती है तो व्यक्ति वस्तुओं की प्राप्ति के लिए हिंसा, चोरी, असत्य आदि का दास हो जाता है। जो व्यक्ति उसके परिग्रह वृत्ति के पोषण में सहायक होता है उनको ही वह अपना समझता है और जो व्यक्ति उसके परिग्रह-वृत्ति पर रोक लगाना चाहते हैं उनसे उनका वैर हो जाता है क्योंकि वह अपमानित अनुभव करता है। इस कारण से उसके जीवन में क्रोध प्रबल हो जाता है। जैसे उसके लिए क्रोध प्रबल हो जाता है वैसे अत्याचार करने में उसको कोई हिचकिचाहट नहीं होती। इसी परिग्रह-वृत्ति के कारण वह अनेक प्रकार के दुःखों से ग्रसित हो जाता है। वह सदैव एक मानसिक क्षोभ का अनुभव करता है। इसी मानसिक क्षोभ का उदाहरण नेमिचन्द्र सूरिकृत रयणचूडरायचरियं में देखा जा सकता है। हिण्डोला क्रीड़ा के समय मानसिक काम विकार की पूर्ति हेतु धन का आवश्यक संचय करने के लिये सोमप्रभ ब्राह्मण जंगल-जंगल भटक कर मानसिक दुःखों से पीड़ित रहता है।

परिग्रह-वृत्ति का प्रबलतम कारण में मनुष्य को आसक्तिमय मानसिक अवस्था है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति जीवन में अनावश्यक संग्रह को महत्व देने लगता है। यह संग्रह-वृत्ति एक ओर जहाँ व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है वहाँ दूसरी ओर सामाजिक जीवन को भी गड़बड़ा देती है। संग्रह-वृत्ति से बाजार में कृत्रिम अभाव पैदा हो जाता है। वस्तुओं के भावों में तेजी आने लगती है जिससे सामान्यजन कठिनाई का अनुभव करता है। इससे गरीब और अधिक गरीब हो जाता है। परिग्रहवृत्ति वाले अमीर और अधिक

---

* सहायक आचार्य, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

१. उत्तराध्ययन सूत्र, नमिपवज्जा अध्ययन, गा० नं० ४८।

२. समणसुत्त गा० नं० ९७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमीर हो जाते हैं। समाज में एक आर्थिक विषमता उत्पन्न हो जाती है। इससे शोषण फैलता है एवं भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है।

मनुष्य की सामान्य आवश्यकता है भोजन, वस्त्र और मकान। यदि ये वस्तुएँ सभी को सामान्य रूप से उपलब्ध हो जाय तो व्यक्ति का बहुत कुछ दुख कम हो सकता है। किन्तु परिग्रहवृत्ति वाले लोग समाज में कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर देते हैं और इन वस्तुएँ के दाम आसमान छूने लग जाते हैं जो सामान्य जन के दुःख का कारण होते हैं। इस तरह से समाज में कुछ ही परिग्रहवृत्ति वाले लोग अधिकांश लोगों को दुःखी करने में सफल हो सकते हैं।

परिग्रहवृत्ति का एक आयाम मुनाफाखोरी भी है। इसके वशीभूत होकर व्यक्ति अत्यधिक मुनाफा कमाने लग जाता है और उससे जनजीवन के सुख का कोई भान नहीं रहता है। इसका भी सबसे बड़ा कारण व्यक्ति की अपनी भोग-विलास की आकांक्षा की पूर्ति है। अत्यधिक इन्द्रीयजन्य आसक्ति के कारण जीवन में भोग-विलास की प्रवृत्ति बढ़ती है और व्यक्ति उस कारण से अत्यधिक मुनाफा कमा करके हर संचय की ओर अग्रसर हो जाता है।

परिग्रहवृत्ति से मानसिक क्षमता एवं शान्ति नष्ट हो जाती है। व्यक्ति में राग-द्वेष की वृत्ति बढ़ने से इसका सामाजिक समायोजन विकृत हो जाता है और समता के अभाव में मनुष्य आत्महित की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। जीवन में अशांति होने से मनुष्य में उच्च विचारों का ग्रहण कठिन हो जाता है। व्यसनों के मूल में भी परिग्रहवृत्ति ही उपस्थित रहती है।

यदि हम विभिन्न राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों की ओर ध्यान दें तो परिग्रहवृत्ति के कारण शक्ति संग्रह ही सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न करता है। शक्ति-संग्रह भी परिग्रहवृत्ति का एक उदाहरण है। विभिन्न राष्ट्र अपनी सीमा वृद्धि के लिए तथा वैचारिक मतभेद के कारण दूसरे राष्ट्रों को नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं और अपनी शक्ति-सम्वर्धन के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ युद्ध में उतर आते हैं। परमाणु बम, सेना, हथियार आदि सभी का संग्रह मनुष्य की परिग्रहवृत्ति से उत्पन्न कलुषित भावना का उदाहरण हैं। परिग्रहवृत्ति के कारण राष्ट्र अपने विज्ञान एवं वैज्ञानिकों का भी दुरुपयोग करता है। मानव कल्याण की भावना इनके लिये गौण होती है और अपने राष्ट्र को सर्वोपरि बनाना उनके लिए मुख्य होता है। जिस तरह से व्यक्तित्व का अहंकार दूसरे व्यक्तियों का शोषण करने में लगता है उसी प्रकार राष्ट्रों का अपना अहंकार भी दूसरे राष्ट्रों के शोषण में लग जाता है। यह शोषण राष्ट्रों के स्तर पर परिग्रहवृत्ति का ही परिणाम है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य की अधिकांश बुराई के मूल में परिग्रहवृत्ति ही उपस्थित रहती है। मानवीय विकास के लिए इस वृत्ति को नष्ट करना व्यक्तिगत एवं सामाजिक हित में है। जैन-दर्शन ने इस वृत्ति की भीषणता को समझा है और उसको समाप्त करने के लिए सम्यक् चरित्र का उपदेश दिया है। यह सम्यक् चरित्र, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान सहित होना चाहिये। गृहस्थ के लिए परिग्रह-परिमाण व्रत की व्याख्या की है, जिसका पालन करने से व्यक्तिगत शान्ति एवं सामाजिक विकास दोनों ही सम्भव है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 7

खण्ड (ग)

न्याय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बौद्धन्याय और गौतमीय न्याय में हेत्वाभासों का स्वरूप

उदयचन्द्र जैन*

भारतीय दर्शनों में तत्त्वों अथवा प्रयोगों की सिद्धि के लिए प्रमाण की सत्ता अनिवार्य है। प्रमाण के बिना किसी भी तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है। यही कारण है कि प्रत्येक दर्शन ने प्रमाण की सत्ता स्वीकार की है। 'मानाधीना हि मेयसिद्धिः' इत्यादि वचनों से प्रमाण की महत्ता का ज्ञान होता है। गौतमीय न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र में सर्वप्रथम प्रमाण शब्द का ही ग्रहण किया गया है। इसीलिये न्याय-दर्शन को प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं। प्रमाण के महत्त्व को लक्ष्य में रख कर ही बौद्धदर्शन में भी प्रमाणशास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। आचार्य दिग्नाग का प्रमाणसमुच्चय और धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु आदि ग्रन्थ प्रमाणशास्त्र के उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, जिनके द्वारा प्रमाण का स्वरूप, संख्या, विषय और फल के विषय में व्यापक विचार किया गया है।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य समस्त भारतीय दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है। क्योंकि अनेक परोक्ष अर्थों की प्रतिपत्ति अनुमान से ही होती है। अनुमान द्वारा परोक्ष अर्थ की सिद्धि करने के लिए साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध होना आवश्यक है। पर्वत में धूम से वह्नि की सिद्धि तभी हो सकती है जब पहले हमको धूम और वह्नि में व्याप्ति का ज्ञान हो जाय। अर्थात् 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है', और 'जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है', इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान होना आवश्यक है।

चार्वाक ने अनुमान को प्रमाण नहीं माना है किन्तु धर्मकीर्ति ने—

> प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
> प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥

इस श्लोक द्वारा चार्वाक के प्रति अनुमान प्रमाण की सिद्धि की है। 'प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान अप्रमाण है', 'दूसरे प्राणी में बुद्धि है', 'परलोक नहीं है', इन बातों की सिद्धि अनुमान प्रमाण के बिना नहीं हो सकती है। यहाँ क्रमशः स्वभावहेतुजन्य अनुमान, कार्यहेतुजन्य अनुमान और अनुपलब्धिहेतुजन्य अनुमान सिद्ध किया गया है। अतः चार्वाक को भी अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है। अनुमान के बिना उसका काम नहीं चल सकता है।

हेत्वाभास का स्वरूप

अनुमान की उत्पत्ति में हेतु का वही महत्त्व है जो प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियों का है। किन्तु सम्यक् हेतु से ही अनुमान की उत्पत्ति होती है, असम्यक् हेतु से नहीं। असम्यक्

---

*. भू० पू० प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, जैन दर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या असत् हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। इस निबन्ध में हेत्वाभासों के स्वरूप पर ही विचार करना है। 'हेतुवदाभासते इति हेत्वाभासः'—अर्थात् वास्तव में जो हेतु तो नहीं है किन्तु हेतु की तरह मालूम पड़ता है वह हेत्वाभास कहलाता है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्', इस अनुमान में धूमत्व हेतु है और 'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्' यहाँ प्रमेयत्व हेत्वाभास है, फिर भी पञ्चम्यन्त होने से वह हेतु जैसा मालूम पड़ता है।

प्रमाणवार्तिक में हेतु और हेतु का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥ ३। १

अर्थात् हेतु वह है जो पक्ष का धर्म हो और उसके सिसाधयिषित अंश अर्थात् साध्य से व्याप्त हो। धर्मी और धर्म के समुदाय को पक्ष कहते हैं। किन्तु उसका एकदेश होने से यहाँ धर्मी को पक्ष कहा गया है। धूम पक्ष (पर्वत) का धर्म है और साध्यधर्म वह्नि से व्याप्त है। यह व्याप्ति दो प्रकार से होती है[1]—व्यापक का धर्म होने से तथा व्याप्य का धर्म होने से। व्याप्य के होने पर व्यापक का अवश्य होना यह अन्वय व्याप्ति है तथा व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना अर्थात् व्यापक के अभाव में व्याप्य का नहीं होना यह व्यतिरेक व्याप्ति है।

यह हेतु स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धियों के भेद से तीन प्रकार का होता है। क्योंकि अविनाभाव का नियम त्रिविध हेतु में ही पाया जाता है, तथा अन्य संयोगी आदि हेतुओं में उसका अभाव रहता है। अविनाभाव का अर्थ है साध्य के साथ हेतु का व्यभिचार न होना। यही कारण है कि उक्त तीन प्रकार के हेतुओं से जो भिन्न है वह अविनाभाव से रहित होने के कारण हेत्वाभास है। अविनाभाव के होने पर ही हेतुपना होता है और अविनाभाव तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति से रहित है वह हेत्वाभास है। कहा भी है—

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ॥ प्रमाणवा० ३।३१।

अर्थात् अविनाभाव का नियम कार्यकारणभाव अथवा स्वभाव से होता है, हेतु का विपक्ष में अदर्शन से अथवा सपक्ष में दर्शन से नहीं।

हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव अवश्यंभावी होने के कारण हेतु के तीन रूपों का निश्चय आवश्यक है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व का निश्चय क्रमशः असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक का विपक्षी होता है। अर्थात् पक्षधर्मत्व के निश्चय से हेतु असिद्ध नहीं

---

१. द्विविधा चेयं व्याप्तिः व्यापकव्याप्यधर्मतया। तत्र व्याप्येसति व्यापकस्यावश्यंभावस्तस्य व्याप्तिः। व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावो नाम तस्य व्याप्तिः। आभ्यां यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुक्तौ। व्याप्यसद्भावे व्यापकस्य सत्त्वनियमस्यान्वयरूपत्वात्। व्यापकभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात्।

—प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दि टीका, पृ० २५७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है, सपक्षसत्त्व के निश्चय से वह विरुद्ध नहीं होता है और विपक्षासत्त्व के निश्चय से अनैकान्तिक का निराकरण हो जाता है। और जिन संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी आदि पराभिमत हेतुओं में तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप अविनाभाव नहीं है उनमें साध्य के साथ व्यभिचार संभव होने से वे हेतु नहीं हैं अर्थात् हेत्वाभास हैं। कहा भी है—

> हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निश्चयस्तेन वर्णितः ।
> असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥ प्रमाणवा० ३।१५
> संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः ।
> न ते हेतव इत्युक्तं व्यभिचारस्य संभवात् ॥ प्रमाणवा० ४।२०७

न्यायदर्शन में हेतु के पाँच रूप माने गये हैं, इसलिए वहाँ मूल में पाँच हेत्वाभास हैं। पाँच रूपों के नाम ये हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधित-विषयत्व। किन्तु बौद्धदर्शन में हेतु के तीन रूप माने गये हैं, इसलिए वहाँ मूल में ही तीन ही हेत्वाभास हैं।

न्यायप्रवेश में असिद्ध हेत्वाभास के चार भेद बतलाये गये हैं—१. उभयासिद्ध, २. अन्यतरासिद्ध, ३. संदिग्धासिद्ध और ४. आश्रयासिद्ध।

उभयासिद्ध—शब्द को अनित्य सिद्ध करने में चाक्षुषत्व हेतु उभयासिद्ध है। अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों ही शब्द को चाक्षुष नहीं मानते हैं।

अन्यतरासिद्ध—जो हेतुवादी और प्रतिवादी में से किसी एक को असिद्ध होता है वह अन्यतरासिद्ध है। जैसे किसी ने मीमांसक से कहा कि शब्द अनित्य है, कृतक होने से। यहाँ कृतकत्व हेतु प्रतिवादी मीमांसक को असिद्ध है, क्योंकि मीमांसक शब्द को अभिव्यक्ति मानता है, उत्पत्ति नहीं।

संदिग्धासिद्ध—जहाँ स्वयं हेतु के विषय में संदेह हो वहाँ वह हेतु संदिग्धासिद्ध कहलाता है।

आश्रयासिद्ध—जिस हेतु का आश्रय ही असिद्ध हो वह आश्रयासिद्ध कहलाता है। जैसे आकाश द्रव्य है, गुण का आश्रय होने से। यहाँ जो आकाश की सत्ता ही नहीं मानता है उसके लिए गुणाश्रयत्व हेतु आश्रयासिद्ध है।

विरुद्ध हेत्वाभास

जिस हेतु में सपक्षसत्त्व न हो अर्थात् जिस हेतु की व्याप्ति साध्य के साथ न होकर उसके विरुद्ध के साथ होती है वह विरुद्ध है। यह चार प्रकार का है—१. धर्मस्वरूपविपरीत साधन, २. धर्मविशेषविपरीतसाधन, ३. धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन और ४. धर्मिविशेषविपरीत-साधन।

धर्मस्वरूपविपरीतसाधन—शब्द नित्य है, कृतक होने से। यह धर्मस्वरूपविपरीतसाधन का उदाहरण है। यहाँ कृतकत्व हेतु से नित्यत्व की सिद्धि न होकर अनित्यत्व की ही सिद्धि होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मविशेषविपरीतसाधन—चक्षुरादि इन्द्रियाँ पर (आत्मा) के लिए हैं, संघात होने से, शयन, आसन आदि की तरह। यह धर्मविशेषविपरीतसाधन का उदाहरण है। यहाँ परार्थ धर्म का विशेष है—असंहतपरार्थ। किन्तु यह हेतु संहत परार्थ की ही सिद्धि करता है। यह हेतु जिस प्रकार चक्षुरादि में पारार्थ्य की सिद्धि करता है उसी प्रकार शयन, आसन आदि दृष्टान्त के बल से आत्मा में संहत्व की भी सिद्धि करता है। क्योंकि इस हेतु का परार्थ तथा संहतत्व दोनों के साथ अव्यभिचार है। तब ऐसा भी कहा जा सकता है—'संहतपरार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात्, शयनासनाद्यङ्गवत्। शयन, आसन आदि संहत (कर, चरण, उरु, ग्रीवादि वाले) शरीर का ही उपकार करते हैं, असंहत का नहीं। उसी प्रकार चक्षुरादि भी संहत पर (आत्मा) का ही उपकार करते हैं।

धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन का उदाहरण—न द्रव्यं न कर्म न गुणो भावः, एकद्रव्यवत्त्वात्, गुणकर्मसु च भावात्, सामान्यविशेषवदिति। भाव अर्थात् पर सामान्य (सत्ता) न द्रव्य है, न गुण है और न कर्म है, एक द्रव्य वाला होने से तथा गुण और कर्म में रहने से, द्रव्यत्व-गुणत्वकर्मत्वरूप सामान्यविशेष की तरह।

वैशेषिक मत में द्रव्य या तो अद्रव्यरूप होता है या द्रव्यरूप होता है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा और परमाणु अद्रव्य द्रव्य हैं। अर्थात् ये द्रव्य किसी के आश्रित नहीं हैं। द्वचणुक आदि स्कन्ध अनेक द्रव्य, द्रव्य हैं। किन्तु एक द्रव्य कोई द्रव्य नहीं है और भाव एक द्रव्यवाला है। अतः द्रव्य के लक्षण से विलक्षण होने के कारण यह द्रव्य नहीं है। गुण और कर्म में रहने के कारण भाव गुण और कर्म भी नहीं है। अतः इस हेतु से भाव में द्रव्यादि का प्रतिषेध सिद्ध होता है। किन्तु इस हेतु से जिस प्रकार भाव में द्रव्यादि का प्रतिषेध सिद्ध होता है उसी प्रकार अभाववत्त्व भी सिद्ध होता है। क्योंकि इस हेतु का दोनों के साथ अव्यभिचार है।

धर्मिविशेषविपरीतसाधन का उदाहरण—अयमेव हेतुरस्मिन्नेव पूर्वपक्षेऽस्यैव धर्मिणो यो विशेषः सत्प्रत्ययकर्तृत्वं नाम तद्विपरीतमसत्प्रत्ययकर्तृत्वमपि साधयति, उभयत्राव्यभिचारात्।

पूर्वोक्त उदाहरण में धर्मी का विशेष है सत्प्रत्ययकर्तृत्व, उसके विपरीत असत्प्रत्यय-कर्तृत्व को भी उक्त हेतु सिद्ध करता है। क्योंकि हेतु का दोनों के साथ अव्यभिचार है।

अनैकान्तिक

जिस हेतु में विपक्षव्यावृत्ति नहीं पायी जाती है वह अनैकान्तिक कहलाता है। इसके ६ भेद हैं—(१) साधारण, (२) असाधारण, (३) सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी, (४) विपक्षैक-देशवृत्तिसपक्षव्यापी, (५) उभयपक्षैकदेशवृत्ति और (६) विरुद्धाव्यभिचारी।

साधारण—जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है वह साधारण अनैकान्तिक है। जैसे शब्द नित्य है, प्रमेय होने से। यहाँ प्रमेयत्व हेतु अनित्य घट तथा नित्य आकाश में रहने के कारण संशय उत्पन्न करता है कि घट की तरह शब्द अनित्य है अथवा आकाश की तरह नित्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असाधारण—जो हेतु केवल पक्ष में रहता है, किन्तु सपक्ष और विपक्ष से व्यावृत्त होता है वह असाधारण अनैकान्तिक है। जैसे शब्द नित्य है, श्रावण होने से। यहाँ श्रावणत्व हेतु नित्य और अनित्य दोनों से व्यावृत्त है तथा नित्य और अनित्य को छोड़कर अन्य कोई वस्तु है नहीं। अतः यह संशय होता है कि श्रावणत्व नित्य का धर्म है या अनित्य का। अर्थात् श्रावणत्व हेतु से शब्द में न नित्यत्व की सिद्धि होती है और न अनित्यत्व की।

सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी—शब्द अप्रयत्नानन्तरीयक है, अनित्य होने से। यहाँ अप्रयत्नानन्तरीयक विद्युत्, आकाश आदि सपक्ष हैं और प्रयत्नानन्तरीयक घटादि विपक्ष हैं। अनित्यत्व हेतु सपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में रहता है, आकाश आदि में नहीं तथा घटादि सम्पूर्ण विपक्ष में रहता है। अतः यह संदेह होता है कि शब्द घट की तरह प्रयत्नानन्तरीयक है अथवा विद्युत् की तरह अप्रयत्नानन्तरीयक है।

विपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापी

शब्द प्रयत्नानन्तरीयक है, अनित्य होने से। यहाँ प्रयत्नानन्तरीयक घटादि सपक्ष हैं। अप्रयत्नानन्तरीयक विद्युत्, आकाशादि विपक्ष हैं। उक्त हेतु सम्पूर्ण सपक्ष में रहता है। साथ ही विपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में भी रहता है, आकाश आदि में नहीं। अतः यह सन्देह होता है कि शब्द घट की तरह प्रयत्नानन्तरीयक है अथवा विद्युत् की तरह अप्रयत्नानन्तरीयक है।

उभयपक्षैकदेशवृत्ति

यह हेतु सपक्ष और विपक्ष के एक देश में रहता है। जैसे शब्द नित्य है, अमूर्त होने से। यहाँ आकाश, परमाणु आदि सपक्ष हैं। अमूर्तत्व हेतु आकाशादि में रहता है, परमाणु आदि में नहीं। घट, सुखादि विपक्ष हैं। अमूर्तत्व हेतु सुखादि में रहता है, घटादि में नहीं। अतः यह सन्देह होता है कि शब्द आकाश की तरह नित्य है या सुख की तरह अनित्य है।

विरुद्धाव्यभिचारी

यहाँ एक नहीं किन्तु दो हेतु होते हैं। जैसे (१) शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घट की तरह। (२) शब्द नित्य है श्रावण होने से शब्दत्व की तरह। यहाँ यह संशय होता है कि कृतक होने से शब्द अनित्य है या श्रावण होने से वह नित्य है। ये दोनों हेतु मिल करके एक विरुद्धाव्यभिचारी नामक अनैकान्तिक होते हैं। यह हेतु सत्प्रतिपक्ष की तरह ही है। अर्थात् न्यायदर्शन में इसे सत्प्रतिपक्ष के नाम से ही कहा गया है। जो साधनान्तरसिद्ध धर्म के विरुद्ध धर्म को सिद्ध करता है तथा अपने साध्य का अव्यभिचारी है वह विरुद्धाव्यभिचारी कहलाता है।[1]

हेत्वाभासों के उक्त भेद न्यायप्रवेश के आधार पर बतलाये गये हैं। अब न्यायबिन्दु के आधार से हेत्वाभास का स्वरूप तथा भेद बतलाये जाते हैं।

---

१. विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनादव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचाराद्विरुद्धाव्यभिचारी। न्यायवि० पृ० ८६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेत्वाभास का स्वरूप

हेतु के तीन रूपों में से किसी एक रूप या दो रूपों के न कहने पर हेत्वाभास होता है। केवल हेतुरूपों के अकथन में ही हेत्वाभास नहीं होता किन्तु उनके कह देने पर भी असिद्धि या सन्देह होने पर भी हेत्वाभास होता है।[1]

असिद्ध हेत्वाभास

धर्मी से सम्बद्ध रूप अर्थात् पक्षधर्मत्व के असिद्ध होने पर अथवा उसमें सन्देह होने पर वादी और प्रतिवादी को असिद्ध हेत्वाभास होता है।[2] असिद्ध होने के कारण ही यह न तो साध्य की प्रतिपत्ति का कारण होता है, न विरुद्ध की प्रतिपत्ति का कारण होता है और न संशय का कारण होता है। इसके उभयासिद्ध, प्रतिवादि-असिद्ध, वादि-असिद्ध, संदिग्धासिद्ध, आश्रयणासिद्ध, धर्मि-असिद्ध आदि कई भेद होते हैं।

उभयासिद्ध—जो हेतुवादी और प्रतिवादी दोनों को असिद्ध होता है वह उभयासिद्ध है।[3] जैसे शब्द को अनित्य सिद्ध करने में चाक्षुषत्व हेतु उभयासिद्ध है। क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनों ही शब्द को चाक्षुष नहीं मानते हैं।

प्रतिवादि-असिद्ध—जो हेतु प्रतिवादी को असिद्ध होता है वह प्रतिवादि-असिद्ध है।[4] जैसे वृक्ष चेतन हैं क्योंकि उनकी त्वचा का अपहरण करने पर उनका मरण हो जाता है। यहाँ वादी दिगम्बर है और प्रतिवादी बौद्ध है। बौद्धों ने विज्ञान, इन्द्रिय और आयु के निरोध को मरण माना है और ऐसा मरण वृक्षों में असम्भव है।

वादी-असिद्ध—जो हेतुवादी को असिद्ध होता वह वादी-असिद्ध है।[5] जैसे यदि सांख्य ऐसा कहता है कि सुखादि अचेतन है, उत्पत्ति वाले होने से, अथवा अनित्य होने से, तो यहाँ उत्पत्तिमत्त्व अथवा अनित्यत्व हेतु स्वयं वादी सांख्य को असिद्ध है। पर के लिए हेतु दिया जाता है। बौद्ध के यहाँ असत् का उत्पाद उत्पत्तिमत्त्व है और सत् का निरन्वय विनाश अनित्यत्व है। किन्तु ये दोनों ही सांख्य को असिद्ध हैं। सांख्य तो आविर्भाव को उत्पत्ति और तिरोभाव को विनाश मानता है।

---

१. तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः। उक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा। साधनाभासः सदृशं साधनस्य न साधनमित्यर्थः। न्यायबि० पृ० ६७

२. एकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ संदेहे चासिद्धो हेत्वाभासः। न्यायबि पृ० ६७

३. अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम्। न्यायबि० पृ० ६८

४. चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात् तस्य च तरुष्वसंभवात्।
—न्यायबि० पृ० ६८

५. अचेतनाः सुखादय इति साध्ये उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम्। न्यायबि० पृ० ६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संदिग्धासिद्ध—जहाँ हेतु स्वयं असिद्ध हो अथवा उसके आश्रय में सन्देह हो वहाँ संदिग्धासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है।[1]

स्वयं संदिग्धासिद्ध—जहाँ धूम का वाष्पादिरूप से सन्देह होता है, अर्थात् यह धूम है अथवा वाष्प है ऐसा सन्देह होता है, वहाँ वह हेतु स्वयं संदिग्धासिद्ध कहलाता है।

संदिग्धासिद्ध—जहाँ हेतु के आश्रय के विषय में सन्देह हो, वहाँ आश्रय सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास होता है।[2] जैसे इस निकुंज में मयूर है। मयूर की ध्वनि होने से जहाँ निरन्तर बहुत निकुंज है वहाँ यह भ्रम उत्पन्न होता है कि उस निकुंज से मयूर ध्वनि आ रही है अथवा इस निकुंज से। ऐसे स्थल में आश्रय के विषय में सन्देह होने के कारण आश्रय सन्दिग्धासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

धर्मि-असिद्ध, अथवा आश्रयासिद्ध—जहाँ हेतु का आश्रय ही असिद्ध होता है वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होता है।[3] जैसे आत्मा सर्वगत है, क्योंकि उसके सुखादि गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होती है। यहाँ बौद्ध को आत्मा ही सिद्ध नहीं है तब सर्वत्र उसके गुणों की उपलब्धि कैसे सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार धर्मी से सम्बद्ध एकरूप (पक्षधर्मत्व) के असिद्ध होने पर अथवा उसमें सन्देह होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

विपक्षासत्त्व नामक एक रूप की असिद्धि होने पर अथवा उसमें सन्देह होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।[4] जिससे न साध्य का निश्चय होता है और न विपर्यय का, वह अनैकान्तिक है। जैसे शब्द में अनित्यत्वादि धर्म सिद्ध करने में प्रमेयत्वादि हेतु सपक्ष और विपक्ष में सर्वत्र अथवा एक देश में रहने के कारण अनैकान्तिक होते हैं।

धर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दु टीका में इसके चार भेद बतलाये गये हैं—१. सपक्षविपक्षव्यापी, २. सपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापी, ३. विपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापी और ४. उभयैकदेशवृत्ति।

---

१. यथा वाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः। न्यायबि० पृ० ७०

२. यथेह निकुंजे मयूरः केकायितादिति तदापातदेशविभ्रमे। न्यायबि० पृ० ७०।

३. धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धो यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्।
—न्यायबि० पृ० ७०

४. तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः। तथाऽस्यैव रूपस्य सन्देहेऽप्यनैकान्तिक एव। यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानः। न्यायबि० पृ० ७१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द को अनित्य सिद्ध करने में प्रमेयत्व हेतु सपक्ष घटादि में और विपक्ष आकाशादि में रहने के कारण सपक्षविपक्षव्यापी है। अन्य तीन के उदाहरण न्याय प्रवेश के समान ही हैं।

संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक—जिस हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति में सन्देह हो वह संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक अनैकान्तिक है। जैसे यह पुरुष असर्वज्ञ है अथवा रागादिमान् है ऐसा सिद्ध करने में वक्तृत्व हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है। क्योंकि विपक्ष अर्थात् सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष से वक्तृत्व की व्यावृत्ति संदिग्ध है। सर्वज्ञ और वीतराग में भी वक्तृत्व रह सकता है। वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व में कोई विरोध भी नहीं है। क्योंकि पदार्थों में दो प्रकार का विरोध देखा जाता है—सहानवस्थानलक्षणविरोध और परस्परपरिहारस्थितलक्षणविरोध। वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व में शीत और उष्ण स्पर्श की तरह न तो सहानवस्थानलक्षणविरोध है और न किसी वस्तु के भाव और अभाव की तरह परस्पर परिहारस्थितलक्षण विरोध है। इसी प्रकार वचन और रागादि में कार्यकारणभाव भी सिद्ध नहीं है, जिससे वचन के द्वारा रागादि का अनुमान किया जाय। अतः वक्तृत्वादि हेतु संदिग्धविपक्ष व्यावृत्तिक होने से किसी पुरुष में असर्वज्ञत्व अथवा रागादिमत्त्व की सिद्धि नहीं कर सकते हैं।

सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन दो रूपों में से एक के असिद्ध होने पर और दूसरे में सन्देह होने पर भी अनैकान्तिक दोष होता है।[1] जैसे यह पुरुष वीतराग अथवा सर्वज्ञ है, वक्ता होने से। यहाँ वक्तृत्व हेतु का व्यतिरेक असिद्ध है क्योंकि सरागी और असर्वज्ञ पुरुष में वक्तृत्व देखा जाता है और इस हेतु का अन्वय सन्दिग्ध है। क्योंकि सर्वज्ञ और वीतराग को अतीन्द्रिय होने से वहाँ वक्तृत्व का सत्त्व है या असत्त्व यह निश्चय करना कठिन है। अतः इस विषय में सन्देह बना रहता है कि वक्ता होने से कोई सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ।

उक्त दोनों रूपों के विषय में सन्देह होने पर भी अनैकान्तिक दोष होता है[2] जैसे जीव का शरीर सात्मक है, प्राणादिमान् होने से। यहाँ यह विचारणीय है कि सात्मक और निरात्मक से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है नहीं जहाँ प्राणादि रहता हो। और इन दोनों में से किसी एक में प्राणादि के रहने का निश्चय नहीं है। अतः सात्मक अथवा निरात्मक वस्तु में न तो प्राणादि का अन्वय सिद्ध होता है और न व्यतिरेक सिद्ध होता है। यही कारण है कि अन्वय और व्यतिरेक दोनों में सन्देह होने के कारण यह असाधारण अनैकान्तिक है।[3] जिस

---

१. द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च सन्देहेऽनैकान्तिकः। यथा वीतरागः कश्चित् सर्वज्ञो वा वक्तृत्वादिति। व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः। संदिग्धोऽन्वयः। सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। —न्यायबि० पृ० ८१।

२. अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः। यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति। —न्यायबि० पृ० ८१।

३. अत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः। साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्। —न्यायबि० पृ० ८५।

अनुमानविषयेऽसंभवात्। न हि संभवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः। न चान्योऽव्यभिचारी। —न्यायबि० पृ० ८६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेतु के अन्वय और व्यतिरेक दोनों संदिग्ध होते हैं उससे न साध्य का निश्चय होता है और न उसके विरुद्ध का।

इस प्रकार अनैकान्तिक हेत्वाभास के साधारण, असाधारण, संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक, संदिग्धान्वयासिद्धव्यतिरेक आदि भेद होते हैं।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि आचार्य दिग्नाग ने विरुद्धाव्यभिचारी को भी संशय का कारण कहा है, उसे धर्मकीर्ति ने क्यों नहीं कहा। इसका उत्तर यह है कि अनुमान के विषय में विरुद्धाव्यभिचारी संभव नहीं है। अनुमान का विषय प्रमाणसिद्ध त्रैरूप्य है और विरुद्धाव्यभिचारी का रूप प्रमाण सिद्ध नहीं है। क्योंकि कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि में विरुद्धता का संभव नहीं है और इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कोई अव्यभिचारी नहीं है।

तब प्रश्न यह है कि आचार्य दिग्नाग ने यह हेतु दोष कहाँ बतलाया है ? इसका उत्तर धर्मकीर्ति ने यह दिया है कि अवस्तुदर्शन के बल से प्रवृत्त आगमाश्रय अनुमान के द्वारा उस आगम के अतीन्द्रिय अर्थ सामान्य आदि के विचार के प्रकरण में विरुद्धाव्यभिचारी दोष कहा गया है।[1] अर्थात् वस्तु बलप्रवृत्त अनुमान में यह दोष नहीं हो सकता है।

विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण

कणाद के शिष्य पैलुक ने सामान्य को सर्वगत सिद्ध करने के लिए निम्न प्रकार से स्वभावहेतु का प्रयोग किया है।[2]

जो सर्वदेश में अवस्थित अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध होता है वह सर्वगत है, जैसे कि आकाश। सामान्य भी सर्वदेश में अवस्थित अपने सम्बन्धियों से युगपत् सम्बद्ध होता है। अतः वह सर्वगत है। कणाद महर्षि ने सामान्य को निष्क्रिय, दृश्य और एक कहा है और वह अपने सब सम्बन्धियों के साथ समवाय सम्बन्ध से एक साथ सम्बद्ध होता है। क्योंकि जो जहाँ नहीं है वह उस देश को अपने द्वारा व्याप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार उक्त हेतु द्वारा सामान्य को सर्वगत सिद्ध किया गया है। अर्थात् सामान्य व्यक्तियों में तो रहता ही है किन्तु व्यक्ति शून्य देश में भी रहता है।

उक्त स्वभाव हेतु के विरुद्ध सामान्य को असर्वगत सिद्ध करने के लिए अनुपलब्धि हेतु का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है।[3]

---

१. तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः।—न्यायबि० पृ० ८७।

२. तत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिः सम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाकाशम्। अभिसम्बध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत्सामान्यमिति। नहि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतुप्रयोगः।—न्यायबि० पृ० ८८।

३. द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति। तद्यथा क्वचिदविद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति।—न्यायबिन्दु पृ०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो दृश्य होकर के उपलब्ध नहीं होता है वह वहाँ नहीं है, जैसे कहीं पर अविद्यमान घट। व्यक्ति शून्य देश में दृश्य सामान्य भी उपलब्ध नहीं होता है। अर्थात् गोत्व सामान्य किसी गोव्यक्ति में दृश्य होकर भी अश्वादि व्यक्तियों में तथा व्यक्तिशून्य देश में उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए सामान्य सर्वगत नहीं है।

उक्त अनुपलम्भ प्रयोग और स्वभाव परस्पर में विरुद्ध अर्थ की सिद्धि करने के कारण एक वस्तु के विषय में संशय उत्पन्न करते हैं।[1] क्योंकि एक ही वस्तु परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली नहीं हो सकती है। एक हेतु के द्वारा सामान्य को सर्वगत और दूसरे के द्वारा असर्वगत सिद्ध किया गया है। किन्तु एक ही सामान्य में परस्पर विरुद्ध सर्वगतत्व और असर्वगतत्व धर्म नहीं रह सकते हैं। अतः आगमसिद्ध सामान्यविषयक सर्वगतत्व और असर्वगतत्व धर्मों को लेकर उक्त दोनों हेतु मिलकर विरुद्धाव्यभिचारी हो जाते हैं। इस प्रकार इस दोष का सम्भव अवस्तु दर्शन के बल से प्रवृत्त अनुमान में ही होता है, वस्तुविषयक अनुमान में नहीं।

विरुद्ध हेत्वाभास

सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन दो रूपों की विपर्यय सिद्धि में विरुद्धहेत्वाभास होता है। जैसे शब्द को नित्य सिद्ध करने में कृतकत्व अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि कृतकत्व अथवा प्रयत्ननान्तरीयकत्व सपक्ष (नित्य) में नहीं रहता है किन्तु विपक्ष (अनित्य) में रहता है। अतः साध्य (नित्य) से विपरीत (अनित्य) की सिद्धि करने के कारण कृतकत्व विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है।

आचार्य दिग्नाग ने इष्टविघातकृत् नामक एक पृथक् विरुद्ध हेत्वाभास माना है। किन्तु धर्मकीर्ति ने उसे पृथक् नहीं माना है।

इष्टविघातकृत का उदाहरण

चक्षुरादि इन्द्रियाँ पर (आत्मा) के लिए हैं, संघात होने से, शयन, आसन आदि की तरह। इस अनुमान से सांख्य ने आत्मा की सिद्धि की है। यहाँ उसे आत्मा में असंहतपारार्थ्य इष्ट है। किन्तु यह हेतु संहतपारार्थ्य की सिद्धि करता है। इन्द्रियाँ पर (आत्मा) के लिए हैं यह तो ठीक है किन्तु वह पर असंहत है या संहत (परमाणु संचयरूप)। सांख्य आत्मा को असंहत मानता है। किन्तु यह हेतु आत्मा में संहतत्व की सिद्धि करता है। क्योंकि जो जिसका उपकारक होता है वह उसका जनक होता है और जो जन्य है वह संहत होता है।

---

१. अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः।
—न्यायबि० पृ० ९०।

*, द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः। यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः। उभयोः सपक्षेऽसत्त्वमसपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः। एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाविरुद्धौ।—न्यायबि० पृ० ७८।
परार्थश्चक्षुरादयः संघातत्वात्। शयनासनाद्यङ्गवत्।—न्यायबि० पृ० ७९।
नहीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेषः।—न्यायबिन्दु पृ० ८०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मकीर्ति के अनुसार उक्त इष्टविघातकृत् पृथक् हेत्वाभास नहीं है। क्योंकि उक्त साध्य और इष्ट साध्य दोनों समान ही हैं। अतः चाहे साध्य वचन द्वारा उक्त हो अथवा इष्ट हो, यदि वहाँ साध्य विपर्यय की सिद्धि होती है तो वह सब विरुद्ध हेत्वाभास ही है। उसके पृथक् नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

गौतमीय न्याय में हेत्वाभास का स्वरूप तथा भेद

हेत्वाभास का स्वरूप

हेतु का लक्षण न पाये जाने के कारण जो अहेतु हैं किन्तु हेतु के समान होने के कारण हेतु जैसे मालूम पड़ते हैं वे हेत्वाभास कहलाते हैं।[१] अहेतुओं की हेतुओं के साथ समानता यह है कि जिस प्रकार हेतु प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार हेत्वाभास भी प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रयुक्त होते हैं।[२]

हेत्वाभास के भेद

न्यायदर्शन में हेत्वाभास के ५ भेद हैं[3]—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत।

सव्यभिचार—अनैकान्तिक को सव्यभिचार कहते हैं।[४] जिसमें व्यभिचार पाया जाय वह सव्यभिचार है। एक स्थान में अथवा एक धर्म में व्यवस्थित न होना व्यभिचार है। सव्यभिचार वह है जो ऐकान्तिक न होकर अनैकान्तिक होता है। नित्यत्व एक अन्त (धर्म) है और अनित्यत्व भी एक अन्त है। जो हेतु नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्मों के साथ रहता है वह अनैकान्तिक होने से सव्यभिचार है।

सव्यभिचार का उदाहरण—शब्द नित्य है, स्पर्शरहित होने से। जो नित्य नहीं है वह स्पर्शरहित भी नहीं है, जैसे घट। इस अनुमान से शब्द में नित्यत्व की सिद्धि की गई है। किन्तु यहाँ अस्पर्शत्व हेतु सव्यभिचार होने से नित्यत्व की सिद्धि नहीं कर सकता है क्योंकि अणु स्पर्शवान् होकर भी नित्य है। अतः अस्पर्शत्व हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी है। बुद्धि स्पर्शरहित होकर भी अनित्य है। इस प्रकार अणु और बुद्धि इन दोनों दृष्टान्तों में अस्पर्शत्व हेतु का नित्यत्व साध्य के साथ व्यभिचार पाये जाने के कारण अस्पर्शत्व और नित्यत्व में साध्यसाधन-भाव नहीं है। अतः यह हेतु सव्यभिचार है।

---

१. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। न्यायभा० पृ० १७५।

२. प्रतिज्ञानन्तरं प्रयोगः सामान्यम्। यथैव हि हेतवः प्रतिज्ञानन्तरं प्रयुज्यन्ते एवं ते हेत्वाभासा अपीत्येव सामान्यम्। —न्यायवार्तिक पृ० १६३।

३. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताहेत्वाभासाः। —न्यायसू० १।२।४।

४, अनैकान्तिकः सव्यभिचारः। —न्यायसू० १।२।५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरुद्ध—जो अपने सिद्धान्त का व्याघात करता है वह विरुद्ध है।[1] विरुद्ध का उदाहरण—यह महदादिविकार आत्मलाभ से च्युत हो जाता है क्योंकि वह नित्य नहीं है। किन्तु आत्मलाभ से च्युत होने पर भी उसका अस्तित्व बना रहता है, क्योंकि उसका विनाश नहीं होता है। यहाँ 'विकार नित्य नहीं है' इस हेतु का 'आत्मलाभ से च्युत होने पर भी उसका अस्तित्व बना रहता है' इस स्वसिद्धान्त के साथ विरोध है। यदि आत्मलाभ से प्रच्युत विकार का अस्तित्व है तो उसमें नित्यत्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है। तथा जो आत्मलाभ से प्रच्युत हो जाता है वह अनित्य देखा जाता है। अस्तित्व और आत्मलाभ से प्रच्युति ये दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं। अतः यह हेतु जिस सिद्धान्त को लेकर प्रवर्तित होता है उसी का व्याघात करने के कारण विरुद्ध है।[2]

न्यायदर्शन में विरुद्ध हेत्वाभास के विषय में प्राचीन और नवीन नैयायिकों में मतभेद है। जो हेतु किसी स्वीकृत सिद्धान्त का व्याघात करता है वह विरुद्ध है, ऐसा भाष्यकार का स्पष्ट मत है। किन्तु नवीन मत के अनुसार विरुद्ध वह है जो साध्य से विपरीत अर्थ की सिद्धि करता है। जैसे शब्द नित्य है, कृतक होने से। यहाँ कृतकत्व हेतु नित्यत्व की सिद्धि न करके अनित्यत्व की सिद्धि करता है। इसीलिए न्यायवार्तिककार ने सूत्र का भाष्योक्त व्याख्यान करके दूसरा व्याख्यान भी किया है कि प्रतिज्ञा और हेतु का जो विरोध है वह विरुद्ध हेत्वाभास है।[3]

प्रकरणसम—जिससे प्रकरण की चिन्ता होती है वह निर्णय के लिए कहा गया प्रकरणसम कहलाता है।[4] संशयापन्न और अनिर्णीत पक्ष-प्रतिपक्ष प्रकरण कहलाते हैं। उस प्रकरण की विमर्श से लेकर निर्णय के पहले तक जो समीक्षा की जाती है वह चिन्ता कहलाती है।[5]

कोई व्यक्ति किसी वस्तु में नित्यत्व के अविनाभावी नित्य धर्मों को उपलब्ध नहीं करता है तथा अनित्यत्व के अविनाभावी अनित्य धर्मों को भी उपलब्ध नहीं करता है। अब यदि वादी नित्यधर्मानुपलब्धि को अथवा अनित्यधर्मानुपलब्धि को निर्णय के लिए कहता है तो वह प्रकरणसम हेत्वाभास है। क्योंकि यहाँ उभय पक्ष में समानरूप से कहा जा सकता है। जैसे नित्यत्व पक्ष में अनित्यधर्मानुपलब्धि है, वैसे ही अनित्यत्व पक्ष में नित्यधर्मानुपलब्धि भी है।

---

१. स्वसिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। —न्यायसू० १।२।६।

२. सोऽयं विकारः व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिप्रतिषेधात्। अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। 'न नित्योविकार उपपद्यते' इत्येवं हेतुः 'व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्ति' इत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुद्धयते। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्तीति। —न्यायभाष्य० पृ० १७९।

३. प्रतिज्ञाहेत्वोर्वा विरोधविरुद्धोहेत्वाभासः। —न्यायवार्तिक पृ० १७२।

४. यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः। न्यायसू० १।२।७।

५. संशयाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनिर्णीतौ प्रकरणम्। तस्य प्रकरणस्य चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ् निर्णयात् यत्समीक्षणम्। —न्यायभाष्य पृ० १८१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरणसम का उदाहरण—शब्द अनित्य है, नित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से। जिसमें नित्य धर्म की अनुपलब्धि होती है वह अनित्य होता है, जैसे घटादि। उक्त हेतु के विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से।[1] जिस प्रकार शब्द में नित्य धर्म की अनुपलब्धि है, उसी प्रकार अनित्य धर्म की अनुपलब्धि भी है। इस प्रकार उभयपक्ष विशेष की अनुपलब्धि प्रकरण की चिन्ता प्रवर्तित करती है। अतः यह हेतु दोनों पक्षों को प्रवर्तित करते हुए किसी एक के निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता है। प्रकरणसम का ही दूसरा नाम सत्प्रतिपक्ष है।

साध्यसम हेत्वाभास

जो हेतु साध्य होने से साध्य के समान है वह साध्यसम कहलाता है।[2] साध्यसम का ही दूसरा नाम असिद्ध है।[3] साध्य असिद्ध होता है और उसकी सिद्धि के लिए हेतु दिया जाता है। यदि साध्य की तरह हेतु भी असिद्ध हो तो वह हेतु साध्यसम या असिद्ध कहलाता है।

साध्यसम का उदाहरण

छाया द्रव्य है, गतिमान् होने से। यहाँ छाया में द्रव्यत्व साध्य है तथा गतिमत्त्व हेतु है।[4] जिस प्रकार छाया में द्रव्यत्व साध्य है उसी प्रकार गतिमत्त्व भी साध्य है। यहाँ विचारणीय यह है कि क्या पुरुष के समान छाया भी गमन करती है। अथवा आवश्यक द्रव्य पुरुष के शरीर आदि के गमन करने पर प्रकाश के असन्निधान से विशिष्ट जो द्रव्य उपलब्ध होता है वही छाया है।

न्यायभाष्य में असिद्ध के कोई भेद नहीं बतलाये है—किन्तु न्यायवार्तिक में असिद्ध के तीन भेद बतलाये हैं। प्रज्ञापनीय धर्मसमान, आश्रया-सिद्ध और अन्यथासिद्ध।

कालातीत हेत्वाभास

काल का उल्लंघन करके जो हेतु कहा जाता है वह कालातीत कहलाता है।[5]

कालातीत का उदाहरण

---

१. सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति।
सोऽयं हेतुसमौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते।
व्युत्पत्तिमात्रं चैतत् प्रकरणसमस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तु सत्प्रतिपक्षत्वम्।
—न्यायभाष्य पृष्ठ १८२।

२. साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः। —न्यायसू० १।२।८

३. साध्यसम असिद्ध इति यावत्।

४. यथैव द्रव्यत्वं छायायाः साध्यं तथैव गतिमत्त्वमपि। साध्यं तावदेतत् किंपुरुषवत् छायापि गच्छति आहोस्वित् आवरकद्रव्ये पुरुषशरीरादौ संसर्पति तेजसोऽसन्निधि-विशिष्टं द्रव्यं यदुपलभ्यते तदेव छायेत्युच्यते। —न्यायवार्तिक पृ० १७५

५. कालात्ययापदिष्टः कालातीतः। —न्यायसू० १।२।९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द[1] नित्य है, संयोग से व्यङ्ग्य होने के कारण, रूप की तरह। यहाँ संयोग व्यंग्यत्व हेतु कालातीत है। क्योंकि प्रदीप और घट का संयोग होने पर रूप का ग्रहण होता है और संयोगी की निवृत्ति होने पर रूप का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु दास और परशु के संयोग की निवृत्ति हो जाने पर भी दूरस्थ व्यक्ति के द्वारा शब्द सुनाई पड़ता है। इस प्रकार शब्द की व्यक्ति (ग्रहण) संयोगकाल का उल्लंघन करके भी होती है। अतः वह व्यक्ति संयोगजन्य नहीं है।

इस हेत्वाभास के विषय में भी प्राचीन और नवीन नैयायिकों में मतभेद है।[2] भाष्यकार और वार्तिककार के अनुसार शब्द की उपलब्धिकाल में संयोग के अभाव में भी शब्द का ग्रहण होता है। अतः संयोगव्यंग्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

नवीन मत के अनुसार तो जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से विरोध या बाधा आती है वहाँ हेतु कालातीत होता है। अतः नवीन मत के अनुसार कालातीत का ही दूसरा नाम बाधित है। 'अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से', 'शब्द अश्रावण है, गुण होने से', 'नर के शिर का कपाल पवित्र है, प्राणी का अंग होने से'। इन हेतुओं का साध्य क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से बाधित होने के कारण ये कालात्ययापदिष्ट या बाधित हेत्वाभास हैं। यहाँ कालात्ययापदिष्ट शब्द की सार्थकता इस बात में है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से विपरीत निर्णय हो जाने के कारण संदेह विशिष्ट काल का उल्लंघन करके उक्त हेतुओं का प्रयोग किया जाता है।

नवीन मत के अनुसार तर्कसंग्रह में हेत्वाभासों के पांच नाम इस प्रकार हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

सव्यभिचार (अनैकान्तिक) के साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी के भेद से तीन भेद होते हैं। जो हेतु साध्याभाव में भी रहता है वह साधारणानैकान्तिक है। जैसे पर्वत वह्निमान् हैं, प्रमेय होने से। यहाँ प्रमेयत्वहेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहने के कारण साधारण अनैकान्तिक है। जो हेतु सपक्ष और विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में रहता है वह

---

१. यथा नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत्। सति प्रदीपघटसंयोगे रूपं गृह्यते, न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते। किन्तु निवृत्ते दासपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते। सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगजनिता भवति।

—न्यायभाष्य पृ० १८७

२. 'नित्यः शब्दः संयोगव्यंग्यत्वात्' इत्यत्र शब्दस्योपलब्धिकाले संयोगो नास्तीति भवत्ययं कालात्ययापदिष्ट इति भाष्यवार्तिकयोः स्पष्टम्। नवीनमतेन तु यत्र प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः—'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात्' 'अश्रावणः शब्दो गुणत्वात्', 'शुचिनरशिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वात्' इति च सर्वैः प्रमाणतो विपरीतनिर्णयेन सन्देहविशिष्टं कालमतिपततीति सोऽयं कालात्ययेनापदिश्यमानः कालातीत इति तात्पर्यं स्पष्टम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असाधारणा नैकान्तिक है। जैसे 'शब्द नित्य है, शब्द होने से', यहाँ शब्दत्व हेतु सब नित्य तथा अनित्य वस्तुओं में न रहकर केवल शब्द में ही रहता है। जिस हेतु का न कोई अन्वय दृष्टान्त है और न व्यतिरेक दृष्टान्त है वह सपक्ष-विपक्षरहित हेतु अनुपसंहारी कहलाता है। जैसे सब अनित्य है, प्रमेय होने से। यहाँ सबको ही पक्ष हो जाने से प्रमेयत्व हेतु का कोई दृष्टान्त शेष नहीं रहता है।

विरुद्ध—जिस हेतु की व्याप्ति साध्याभाव के साथ होती है वह विरुद्ध है। जैसे शब्द नित्य है, कृतक होने से। यहाँ कृतकत्व हेतु की व्याप्ति नित्यत्व के साथ न होकर अनित्यत्व के साथ है।

सत्प्रतिपक्ष—जिस हेतु के साध्याभाव का साधक कोई दूसरा हेतु पाया जाता है वह सत्प्रतिपक्ष है। जैसे शब्द नित्य है, श्रावण होने से। इस हेतु का प्रतिपक्ष यह है—शब्द अनित्य है, कार्य होने से। अतः श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष।

असिद्ध के तीन भेद हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध—जिस हेतु का आश्रय असिद्ध हो वह आश्रयासिद्ध कहलाता है। जैसे आकाश कमल सुगन्धित है, कमल होने से। यहाँ हेतु का आश्रय आकाश कमल असिद्ध है। अतः अरविन्दत्वहेतु आश्रयासिद्ध है।

स्वरूपासिद्ध—जिस हेतु का स्वरूप असिद्ध होता है वह स्वरूपासिद्ध है। जैसे शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने से। शब्द श्रावण है, चाक्षुष नहीं। अतः चाक्षुषत्व हेतु स्वरूप से ही असिद्ध होने के कारण स्वरूपासिद्ध है।

व्याप्यत्वासिद्ध—उपाधि सहित हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। जो साध्य का व्यापक होकर साधन का अव्यापक होता है वह उपाधि कहलाती है। जैसे पर्वत धूमवान् है, वह्निमान् होने से। यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। इस अनुमान में धूम साध्य और वह्नि साधन है। जहाँ धूम होता है वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग होता है जहाँ वह्नि होती है वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग नहीं होता है, जैसे अयोगोलक में। इस प्रकार आर्द्रेन्धन संयोग धूम का व्यापक है और वह्नि का अव्यापक है। अतः वह्निमत्व हेतु सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध है।

बाधित—जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाण से निश्चित होता है वह बाधित कहलाता है। जैसे वह्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से। यहाँ वह्नि में अनुष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्र-अद्वैतवाद : समीक्षात्मक विवेचन

डा० लालचन्द जैन*

बौद्धदर्शन के विज्ञानवादी दार्शनिक सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिक चित्र-अद्वैतवाद के पुरस्कर्ता हैं। चित्राद्वैत का अर्थ है कि जिस तरह चित्र अनेक रंगों से युक्त होता है उसी प्रकार ज्ञान भी अनेक आकार वाला होता है। चित्र-अद्वैतवादी ज्ञान-अद्वैतवाद में विश्वास नहीं करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि एकमात्र चित्र (आकार) वाले ज्ञान की ही सत्ता विद्यमान है। विभिन्न रंगों से युक्त चितकबरी गाय की तरह ज्ञान में वस्तु के नीलपीत आदि अनेक आकार होते हैं। विज्ञान-अद्वैतवादीबौद्ध ज्ञान में होने वाले नीलादि आकारों को असत्य मानता है और चित्राद्वैतवादी सत्य मानता है, यही दोनों में अन्तर है।

इस सिद्धान्त का उल्लेख धर्मकीर्ति, आ० विद्यानन्द वादिराज, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, यशोविजय आदि ने पूर्वपक्ष के रूप में किया है।[1] उक्त आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध चित्र-अद्वैत का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

चित्रकार ज्ञान की ही सत्ता है—चित्राद्वैतवादी कहते हैं कि नील, सुख आदि अनेक आकारों से युक्त चित्र-आकार वाला ज्ञान ही एकमात्र तत्त्व है। इसके अलावा अन्य कोई तत्त्व नहीं है।

बाह्यपदार्थ नहीं है—चित्राद्वैतवादी बाह्य पदार्थों के अस्तित्व का निराकरण करता है। इस विषय में उसका कहना है कि कोई भी प्रमाण बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता है, इसलिए बाह्य पदार्थों की सत्ता गदहे के सींग की तरह नहीं है। यह सभी दार्शनिक मानते हैं कि प्रमेय के अस्तित्व की सिद्धि प्रमाणों से होती है जिसके अस्तित्व को सिद्ध करने

---

*. प्रभारी निदेशक, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली।

१. (क) धर्मकीर्ति (६३५–६५०) : प्रमाणवार्तिक, द्वितीय परिच्छेद, पृ० १६३–१७२ कारिका २०८–२३८।

(ख) आ० विद्यानन्द (वि० सं० ९वीं शताब्दी) : १. तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक, पृ० ३५–३६, कारिका १५५–१६४।२ अष्टसहस्री, कारिका, ७, पृ० ७६–७९।

(ग) वादिराज (वि० ११वीं शती) : न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रथम प्रस्ताव, पृ० ३८३–३८९, कारिका ९३–९४।

(घ) आ० प्रभाचन्द्र (ई० सन् ९८०–१०६५) : १. न्यायकुमुदचन्द्र १।५, पृ० १२५–१३०, २. प्रमेय कमलमार्तण्ड, १।५ पं० ९५–९६।

(ङ) वादिदेवसूरि (वि० १२वीं शती): स्याद्वाद रत्नाकर, ज्ञा।१६ पृ० १७२-१७९।

(च) यशोविजय (३१८वीं शती) : शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाला प्रमाण नहीं होता है, उसका अस्तित्व भी नहीं होता है। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए चित्र-अद्वैतवादी तर्क करते हैं कि यदि बाह्य पदार्थ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण है तो बाह्य वस्तुवादियों को बतलाना होगा कि वह प्रमाण साकार है अथवा निराकार[1] ?

निराकार प्रमाण जड़पदार्थ का साधक नहीं है—निराकार प्रमाण बाह्य वस्तु की सत्ता को नहीं सिद्ध कर सकता है, क्योंकि वह निराकार प्रमाण सर्व समान रूप से रहेगा। इसलिए वह प्रत्येक कर्म की व्यवस्था का कारण नहीं हो सकता है।

साकार-प्रमाण से चित्राकार ज्ञान सिद्ध होता है—अब यदि यह माना जाय कि बाहरी पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने वाला प्रमाण आकार वाला है तो इससे नीलादि अनेक आकारों वाला एक चित्रज्ञान ही सिद्ध होता है। इस चित्रज्ञान से भिन्न जड़ पदार्थ की सिद्धि इस साकार प्रमाण से नहीं होती है, क्योंकि जड़ पदार्थ की व्यवस्था का कारण कुछ भी नहीं है।

आकार विशिष्टज्ञान बाहरी जड़-पदार्थ की व्यवस्था का कारण नहीं है[2]—चित्राद्वैतवादी अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आकार विशिष्ट ज्ञान को बाह्य पदार्थ की व्यवस्था का कारण नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वह अपने आकार के अनुभवमात्र से कृतकृत्य हो जाता है। प्रमाणवार्तिक[3] में धर्मकीर्ति ने कहा भी है—यदि ज्ञान (बुद्धि) नीलादि रूप से नहीं है तो बाह्य पदार्थ के होने में क्या कारण (प्रमाण) है और यदि बुद्धि नीलादि रूप से है तो बाह्य पदार्थ के होने में क्या प्रयोजन है ? कहने का तात्पर्य यह है कि यदि बुद्धि (ज्ञान) अनीलादि रूप है, तो उसके द्वारा नील आदि बाह्य पदार्थ की सिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि उसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। यदि ज्ञान नील आदि रूप है तो फिर बाह्य पदार्थों को मानने का कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् उन्हें मानना निरर्थक है। क्योंकि नील आदि बाह्य आकार सम्याज्ञान में पाया जाता है।

पूर्वभावी, उत्तरभावी एवं समकालभावी आकार विशिष्ट ज्ञान बाह्य पदार्थ की व्यवस्था नहीं कर सकता है ?—चित्राद्वैतवादी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए बाह्य पदार्थों की सत्ता मानने वालों से जानना चाहते हैं कि यदि आकार विशिष्ट ज्ञान पदार्थ की व्यवस्था करता है तो बतलाना होगा कि प्रमेय से पहले उत्पन्न होने वाला ज्ञान बाहरी पदार्थों की व्यवस्था करेगा या उत्तर काल में होने वाला ज्ञान अथवा समभावी ज्ञान[4] ?

---

१. (क) न्याय कुमुदचन्द्र पृ०–१२४।
   (ख) स्याद्वाद रत्नाकर पृ० १७२।
२. न चाकारविशिष्टज्ञानमेव तद्व्यवस्था हेतु, न्याय कुमुदचन्द्र, पृ०–१२४।
३. धियोऽनीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः।
   धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धन॥ २।४३३।
४. तथाहि तद्व्यवस्थापकं प्रमाणं किं—समकालभावी वा ?
   स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० १७२ (ख) न्या० कु० च०, १२५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमेय से पहले काल में होनेवाले ज्ञान को बाह्य पदार्थों का व्यवस्थापक मानना ठीक नहीं है। क्योंकि यह इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होगा। प्रमेय पदार्थों के होने पर ही ज्ञान का सन्निकर्ष हो सकता है, किन्तु प्रमेय से पूर्वभावी ज्ञान की उत्पत्ति प्रमेय के बिना ही की जाती है। जो ज्ञान प्रमेय के बिना ही उत्पन्न हो जाता है, वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता है। जैसे आकाश-कमल का ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थ के व्यवस्थापक के रूप में स्वीकार किया गया प्रमेय से पूर्वकाल भावी ज्ञान भी प्रमेय के बिना उत्पन्न हो जाता है, इसलिए वह सन्निकर्ष-जन्य नहीं होता है। अतः उससे बाह्य पदार्थों की व्यवस्था नहीं हो सकती है।

प्रमेय से उत्तरकाल में होने वाले ज्ञान को बाह्य पदार्थों का व्यवस्थापक मानने पर दो विकल्प होते हैं—प्रमाण से पहले प्रमेय की विद्यमानता है, इसे (पूर्वकालवृत्ति) किसी से जाना अथवा नहीं ?[1] यदि प्रमाण से पहले प्रमेय की विद्यमानता है, इसे नहीं जाना है, तो वह सत्य का विषय कैसे होगा ? क्योंकि यह नियम है कि जो सत् व्यवहार (सत्य) का विषय होता है, वह किसी से जाना जाता है। जो किसी से जाना नहीं जाता है, वह व्यवहार (सत्य) का विषय नहीं होता है। जैसे आकाश का कमल किसी से नहीं जाना गया इसलिए वह सत्य का विषय नहीं होता है। प्रमाण से प्रमेय की पूर्वकालवृत्ति है ऐसा भी किसी से नहीं जाना गया है। अतः प्रमेय से उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले ज्ञान को बाह्य पदार्थों का व्यवस्थापक नहीं माना जा सकता है।

अब यदि बाह्य पदार्थवादी यह माने कि प्रमाण से पूर्व प्रमेय की विद्यमानता है, इसे किसी से जाना गया है तो उन्हें बतलाना होगा कि वह किससे जाना गया है। स्वतः अथवा परतः ?[2] यदि स्वतः जाना गया है तो बाह्यार्थ और ज्ञान में भेद नहीं होगा। क्योंकि स्वतः प्रकाशमान होने से वह पूर्ववर्ती प्रमेय ज्ञान रूप हो जायेगा। यह नियम है कि जो स्वतः प्रसिद्ध है वह ज्ञान से भिन्न नहीं है, जैसे ज्ञान का स्वरूप। ज्ञान से पूर्व में होने वाला प्रमेय भी स्वतः प्रसिद्ध है। उस पूर्ववर्ती प्रमेय की जानकारी (प्रतिपत्ति) पर (अर्थात्—अपने भिन्न किसी अन्य) से नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रमाण से भिन्न दूसरा पदार्थ प्रमेय की व्यवस्था का कारण नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रमेय की पूर्वकालवृत्ति को उत्तरवर्ती प्रमाण प्रकाशित नहीं कर सकता है, क्योंकि प्रमेयकाल में प्रमाण नहीं रहता है। जो जिस काल में नहीं है वह उसका प्रकाशक नहीं होता है। जैसे अपनी उत्पत्ति से पूर्वकालवृत्ति पदार्थ के काल में नहीं होने वाला दीपक उसका प्रकाशक नहीं होता है। पूर्वकाल विशिष्ट प्रमेय के काल में ज्ञान भी नहीं होता है, इसलिए वह उसका प्रकाशक नहीं हो सकता है।

अब यदि प्रमाण (ज्ञान) और प्रमेय (ज्ञेय) को समकालीन माना जाय तो जिस प्रकार गाय के बायें और दाहिने सींग एक साथ उत्पन्न होने पर वे ग्राह्य-ग्राहक रूप

---

१. वही।

२. अथ प्रतिपन्नम् किं स्वतः परतो वा ? वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं होते हैं उसी प्रकार समान काल में उत्पन्न ज्ञान और ज्ञेय में भी ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं बनेगा।[1]

अब यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता मानने वाले ऐसा कहें कि बाह्य पदार्थों के बिना ज्ञान में नीलादि आकारों के अनुराग की प्रतीति नहीं हो सकती है इसलिए नीलादि आकारों का अनुरंजक बाह्य पदार्थ भी है। तो इसके उत्तर में चित्राद्वैतवादि कहते हैं कि उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न अवस्था में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी बाहरी पदार्थ के अनुराग की प्रतीति होती है। स्वप्न अवस्था में होने वाले हाथी, घोड़ा आदि सम्बन्धी ज्ञान में बाह्य पदार्थ अनुरंजक नहीं होता है। अन्यथा स्वप्नज्ञान और (प्रकाशित) जागृत ज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। इसलिए सिद्ध है कि अर्थ निरपेक्ष ज्ञान अपनी सामग्री से अनेक आकार वाला जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जागृत अवस्था में उत्पन्न होता है।

अनेक आकार वाले ज्ञान में एकत्व का विरोध नहीं है—यदि कोई, चित्राद्वैतवादी से ऐसा पूछे कि अनेक आकार रूप से प्रतिभासित होने वाली एक बुद्धि में एकत्व किस प्रकार सम्भव है? तो इसके उत्तर में चित्राद्वैतवादी कहते हैं कि बुद्धि (ज्ञान) में प्रतिभासित होने वाले अनेक आकारों का विवेचन (पृथक्करण) नहीं होने से, उसमें एकत्व का विरोध नहीं है।[2] अनेक आकारों से प्रतिभासित होने वाली बुद्धि (ज्ञान) एक ही है, अनेक रूप नहीं है। क्योंकि वह बाह्य आकारों (चित्रों) से विलक्षण होती है। बाह्य आकारों से वह विलक्षण इसलिए है कि बाह्य चित्र (नाना आकार) का पृथक्करण करना सम्भव है, किन्तु बुद्धि के नील-पीत आदि आकारों का पृथक्करण करना असम्भव है अर्थात् 'यह बुद्धि' (ज्ञान) है और 'ये नील, पीत आदि आकार' हैं। इस प्रकार पृथक्-पृथक् विभाजन बुद्धि में नहीं हो सकता है।[3]

चित्रपट आदि में चित्ररूपता की जो प्रतीति होती है, उसमें ज्ञानधर्मता कैसे संभव है? इसके उत्तर में चित्राद्वैतवादी कहता है कि उसमें अर्थधर्मता नहीं बन सकती है। इसके अलावा विकल्प होता है कि चित्रपट आदि एक अवयवी रूप निरंश वस्तु है अथवा उसके विपरीत अंश सहित?

चित्रपट आदि को निरंश वस्तु मानने में दोष[4]—चित्र-अद्वैतवादी कहता है कि यदि चित्रपट आदि को एक अवयवी रूप निरंश वस्तु माना जायेगा तो नील भाग के ग्रहण करने

---

१. समकालत्वे तु ज्ञानं ज्ञेययो······ग्राह्यग्राहकभावाभावः—
(क) न्यायकु० च० पृ० १२५, (ख) स्वा० र० पृ० १७२।
२. प्रमाणवार्तिक, २।२२० और भी देखें न्या० कु० च० पृ० १२५-१२६, स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० १७३।
३. (क) वही। (ख) प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ० ८५।
४. न्या० कु० च०, पृ० १२६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर पीत आदि भागों का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि उन पीत आदि भागों का उससे भेद हो जाएगा। यह एक नियम है कि जिसके ग्रहण करने पर जो गृहीत नहीं होता है, वह उससे भिन्न है। जैसे मेरु पर्वत के ग्रहण करने पर विन्ध्याचल गृहीत नहीं होता, इसलिए वे भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार नील भाग के ग्रहण करने पर पीत-आदि भागों का ग्रहण नहीं होता है। एक बात यह भी है कि विरुद्ध धर्मों की प्रतीति (अध्यास) होने के कारण अवयवी में भी एकरूपता नहीं बन सकती है। जिसमें विरुद्ध धर्मों का अध्यास होता है उसमें एकरूपता नहीं होती है, जैसे जल, अग्नि आदि। अवयवी में भी ग्रहण-अग्रहण रूप विरुद्ध धर्मों का अध्यास होता है, इसलिए उसमें भी एकरूपता नहीं है। यदि नील भाग, पीत आदि भाग रूप है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि पीत आदि के ग्रहण में नील आदि का भी अग्रहण होगा। क्योंकि जो जिस रूप होता है उसके अग्रहण में वह भी ग्रहीत नहीं होता है, जैसे पीत आदि के अग्रहण में उसके स्वरूप का भी ग्रहण नहीं होता है। नील भी पीत आदि रूप है, इसलिए पीत आदि के अग्रहण में नील आदि का भी ग्रहण नहीं होगा।

चित्रपट आदि को सांश एक वस्तु मानने में दोष—यदि चित्रपट आदि को निरंश एक वस्तु न मानकर उससे विपरीत सांश वस्तु माना जाय तो उसमें स्वयं चित्रता का अभाव विभिन्न आश्रयों में रहने वाले नील-पीत आदि की तरह सिद्ध हो जायेगा। इसलिए चित्रता अर्थ का धर्म नहीं है किन्तु ज्ञान का धर्म है।[१]

अपने कारण कलाप से उत्पन्न विज्ञान (बुद्धि) अनेक आकार युक्त (खचित) ही उत्पन्न होता है और अनुभव में आता है, इसलिए चित्राकार ज्ञान ही एक तत्व है। इस प्रकार चित्राद्वैत सिद्ध होता है।[२]

चित्र-अद्वैतवादी सांख्य दार्शनिकों के इस मत का निराकरण करता है कि सुखादि में ज्ञान स्वरूपता का अभाव होने से चित्रप्रतिभास वाला ज्ञान ही एक तत्व कैसे हो सकता है?

चित्राद्वैतवादी कहता है कि सुखादि भी ज्ञान के अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान रूप ही है। अतः सुखादि ज्ञानात्मक हैं। ज्ञान के अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण, ज्ञानान्तर की तरह। इसी बात को प्रमाणवार्तिक[3] में कहा भी है—"तदरूप पदार्थ तदरूप हेतुओं से उत्पन्न होते हैं और आतदंरूप पदार्थ आतदरूप हेतुओं से उत्पन्न होते हैं।" अतः विज्ञान (बुद्धि) से अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण सुखादि अज्ञानरूप कैसे हो सकते हैं।

१. वही।
२. (क) वही।
(ख) स्याद्वादरत्नाकर १।१६ कारिका १६५–१६६ पृ० १७४।
३. न्याय कुमुदचन्द्र पृ० १२६ पर उद्धृत।

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्राद्वैतवाद की मीमांसा

न्याय-वैशेषिक आदि भारतीय दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिक भट्ट अकलंक देव, आ० विद्यानन्द वादिराज, प्रभाचन्द्र वादिदेव सूरि यशोविजय आदि ने चित्राद्वैतवाद का तर्कपूर्ण निराकरण किया है।[1]

जैन दार्शनिक सर्वप्रथम चित्राद्वैतवादियों से यह कह रहे हैं कि बाह्य पदार्थ की सत्ता निराकार ज्ञान से सिद्ध होती है। जैन दर्शन में साकार ज्ञान को प्रमाण नहीं माना गया है। निराकार ज्ञान ही योग्यता के द्वारा प्रत्येक कार्य की व्यवस्था में हेतु होता है। इसलिए चित्राद्वैतवाद का यह कथन असत्य है कि निराकार ज्ञान सर्वत्र समान होने से प्रत्येक कर्म की व्यवस्था में हेतु नहीं हो सकता है।

एक बात यह भी है कि जो प्रकाशक होता है उसमें पूर्वभाव, उत्तरभाव और सहभाव का नियम नहीं होता है। उदाहरणार्थ कहीं पर पूर्व में विद्यमान आगे होने वाले पदार्थों का प्रकाशन होता है। जैसे सूर्य उत्पन्न होने वाले पदार्थों का प्रकाशक होता है। कहीं पर पूर्व में विद्यमान पदार्थों का आगे होने वाला प्रकाशक होता हैं। जेसे—मकान के अन्दर स्थित घट आदि पदार्थों का बाद में होने वाला दीपक प्रकाशक होता है। कहीं पर सहभावी भी पदार्थों का प्रकाशक होता है। जैसे कृतकत्वादि अनित्य आदि का प्रकाशक होते हैं। इसलिए प्रमाण पूर्वा पर-सहभाव नियम निरपेक्ष होकर वस्तु को प्रकाशित करता है, क्योंकि वह सूर्य की तरह प्रकाशक है। अतः चित्राद्वैत-वादियों का यह कथन ठीक नहीं है कि प्रमेय से पूर्वकाल में होने वाला ज्ञान बाह्य अर्थ का प्रकाशक है अथवा उत्तरकाल अथवा सहभावी।

अशक्य विवेचनत्व क्या है—आचार्य विद्यानन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि चित्र-अद्वैतवादियों से प्रश्न करते हैं कि आपने जो यह कहा है कि बुद्धि (ज्ञान) के आकारों का विवेचन (पृथक्करण) करना सम्भव नहीं है तो आप बतलायें कि ऐसा क्यों है? अर्थात् अशंक्य विवेचनत्व क्या है? क्या वे नीलादि आकार ज्ञान से अभिन्न हैं। अथवा ज्ञान के साथ उत्पन्न नील आदि का ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) को छोड़कर उसी ज्ञान से अनुभव होना है अथवा भेदपूर्वक (भेद करके) विवेचन के अभाव मात्र का होना अशक्य विवेचनत्व है[2]? उपर्युक्त तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प-नील आदि आकार ज्ञान से अभिन्न होने के कारण

---

१. (क) आ० विद्यानन्द तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, १।१ पृ० ३६-३८।
 (ख) प्रमा० च० प्रमेय कमलमार्तण्ड, १।५ पृ० ९५-९८।
 (ग) न्याय कुमुदचन्द्र १।५ पृ० १२२-१३०।
 (घ) वादिदेव सूरि : स्याद्वाद रत्नाकर १।१६ पृ० १७४-१७९।
 (ङ) वादिराजसूरि : न्या० विनिश्चय-विवरण प्र० प्रत्यक्ष प्रस्ताव १।९६, पृ० ३७३-३७४।

२. (क) प्रमेय कमलमार्तण्ड, १।५, पृ० ९५।
 (ख) न्याय कुमुदचन्द्र, १।५ पृ० १२७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें ज्ञान से अलग करना असम्भव है ऐसा मानने पर, हेतु साध्य के समान असिद्ध है। क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि नील आदि ज्ञान से अभिन्न हैं, क्योंकि वे उससे अभिन्न है। यहाँ पर साध्य ज्ञान से अभिन्नपना को ही हेतु बनाया गया है।[1] अतः यह असिद्ध हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। इसलिए इससे अशक्य विवेचनत्व सिद्ध नहीं होता है।

सहोत्पन्न नील आदि का ज्ञानान्तर को छोड़कर उसी ज्ञान से अनुभव होना अशक्य विवेचनत्व है, ऐसा माना जाय तो अनैकान्तिक है। जो हेतु पक्ष-सपक्ष की तरह विपक्ष में रहता है, वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।[2] चित्र-अद्वैतवादियों द्वारा दिया गया अशक्य विवेचनत्व हेतु इसलिए अनैकान्तिक है कि सम्पूर्ण (जगत्) सुगत के ज्ञान के साथ उत्पन्न हुआ है और ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) का परिहार अर्थात्—दूसरे ज्ञान को छोड़ कर के उसी सुगत के ज्ञान से ग्राह्य भी है किन्तु उस सम्पूर्ण संसार के ज्ञान के साथ सुगत ज्ञान का एकत्व नहीं है। अतः जो बुद्धि में प्रतिभासित होता है वह उससे अभिन्न है, यह कथन अनैकान्तिक दोष से दूषित है।

दूसरी बात यह है कि यदि सुगत के साथ सम्पूर्ण संसार को एकत्व (एकपना) माना जाय तो सुगत (बुद्ध) संसारीरूप हो जायेगा एवं सम्पूर्ण संसारी प्राणियों में सुगतपना (सुगत्व) हो जायेगा। इस प्रकार सुगत को संसारी रूप और असंसारी रूपसुगत को मानने पर ब्रह्मवाद मानना पड़ेगा।[3]

चित्राद्वैतवादी यह नहीं कह सकता है कि सुगत के साथ कोई उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए सुगत के संसारी होने या संसारी प्राणियों का सुगत रूप होने का दोष नहीं आ सकता है, क्योंकि प्रमाणवार्तिक में कहा गया है कि जिनकी महती कृपा होती है वे सुगत के अधीन होते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि सुगत के सत्ताकाल में सर्वत्र प्राणी वर्तमान थे अन्यथा सुगत की कृपा किस पर होती ? इसी प्रकार विनयी शिष्य आदि प्राणियों के अभाव में मोक्ष-मार्ग का उपदेश देना भी निरर्थक होगा। इसके अलावा एक बात यह भी है कि सुगत का उपदेश सुनकर कोई सुगत की तरह सुगति (निर्वाण) प्राप्त भी नहीं कर सकता, क्योंकि आपके कथनानुसार सुगत के समय अन्य किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और वह सुगत अंतरहित (अत्यान्तिक) है।[4]

अब यदि अशक्य विवेचन को ज्ञानान्तर का परिहार करके सुगत-ज्ञान के अनुभव में आना माना जाय तो यह कथन भी असिद्ध हो जायेगा, क्योंकि नील-पीत आदि पदार्थ अन्य

---

१. असत्सतानिश्चयो सिद्धः। अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला, ६।२२।
२. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।
३. (क) न्याय कुमुदचन्द्र, १।५ पृ० १२७।
   (ख) पृ० क० म०, पृ० ९५।
   (ग) प्रमेय कमलमार्तण्ड, १।५ पृ० ९५–९६।
४. वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानों से भी जाने जाते हैं (अनुभव में आते हैं)। यदि नील आदि पदार्थ को ज्ञान रूप माना जाय तो अन्योन्याश्रय[1] नामक दोष आता है। क्योंकि नील आदि पदार्थों में ज्ञानरूपता (ज्ञान रूप है) सिद्ध होने पर ही नील आदि पदार्थों में अन्य ज्ञान का परिहार करके उसी के ज्ञान से अनुभव में आना सिद्ध हो और अनुभव की सिद्धि होने पर पदार्थों में ज्ञानरूपता की सिद्धि हो।

अब यदि यह तीसरा विकल्प स्वीकार किया जाय कि भेद से विवेचन नहीं कर सकना अशक्य विवेचन है, तो यह भी असिद्ध है क्योंकि नील आदि पदार्थ बाहर स्थित हैं और उनके ज्ञान अन्तरंग में स्थित है, इसलिए उनमें पृथक्करण की सिद्धि होती है। इस प्रकार विवेच्यमान एवं पृथक्क्रीयमान इन दोनों में विवेचन का अनुभव मानना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार मानने में समस्त पदार्थों के उपाय (अभाव) का निश्चय होने से सकल शून्यता सिद्ध हो जायेगी, जो चित्राद्वैतवादियों को मान्य नहीं है।[2]

चित्रज्ञान की तरह बाह्य पदार्थ भी एक रूप है—एक बात यह भी है कि अनेक आकारों से व्याप्त अन्तस्तत्व (ज्ञान) अशक्य विवेचन (पृथक्करण न कर सकने) होने से यदि उसे एकत्व का अविरोधी मानते हों तो अवयवी आदि बाहर के तत्वों में एकत्व का अविरोध मानना पड़ेगा क्योंकि दोनों में समानता है। बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा उसके स्वरूप का विवेचन करने का कथन तो अन्यत्र भी समान है। चित्रज्ञान में भी नील आदि आकारों का अन्योन्यादेश का परिहार करके स्थित होना समान है। नील आदि आकारों का एक देश मानने पर एक आकार में ही अन्य समस्त आकारों का प्रवेश हो जाने से उनमें विलक्षण (भेद) का अभाव हो जायेगा और ऐसा होने पर चित्रता (नाना आकार) का विरोध हो जायेगा। यह एक नियम है कि जिसका एक देश होता है अर्थात् जो एक ही आधार में रहते हैं उनके आकार में विलक्षणता नहीं होती है। जैसे एक नीलाकार चित्रा-ज्ञान में नील आदि आकार भी एक देश वाले हैं, इसलिए उनमें भी विलक्षणता नहीं है। उसी प्रकार जहाँ आकारों में अविभिन्नता होती है वहाँ चित्ररूपता नहीं होती है, जैसे एक नीलज्ञान में स्वीकृत (अभिमत) नील आदि आकारों में भी आकारों की अविचित्रता।

आकार चित्रज्ञान से सम्बद्ध है या असम्बद्ध—आचार्य प्रभाचन्द्र एवं वादिदेव सूरि चित्राद्वैतवादियों से प्रश्न करते हैं कि नील आदि अनेक आकार चित्रज्ञान से सम्बद्ध होकर चित्रज्ञान के कथन में हेतु होते हैं अथवा असम्बद्ध होकर ही उसमें हेतु (कारण)?[3] असम्बद्ध होकर तो वे आकार चित्रज्ञान के कथन के कारण नहीं हो सकते हैं, नहीं तो अति प्रसंग हो जायेगा क्योंकि कोई किसी से असम्बद्ध होकर किसी के कथन के हेतु हो जायेगा।

१. दो पदार्थों के अस्तित्व की सिद्धि एक दूसरे पर आश्रित होना अन्योन्याश्रय दोष कहलाता है।
२. न्याय कुमुदचन्द्र, १।५ पृ० १२८।
३. (क) किंच एते आकाराः चित्रज्ञाने सम्बद्धाः सन्तास्तद्व्यपदेशहेतवः असम्बद्धा वा, न्या० कु० च० पृ० १२८।
(ख) स्याद्वादरत्नाकर १।१६, पृ० १७७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब यदि माना जाय कि अनेक आकार चित्रज्ञान से सम्बद्ध होकर चित्रज्ञान के कथन करने में हेतु हैं तो बतलाना होगा कि किस सम्बन्ध से वे आकार चित्रज्ञान में सम्बद्ध होकर चित्रज्ञान के कथन में कारण हैं? तादात्म्य सम्बन्ध से वे सम्बद्ध हैं अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध से?[1] उन आकारों को चित्रज्ञान में तदुत्पत्ति सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि समान कालीन पदार्थों में सम्बद्धता असम्भव है। तादात्म्य सम्बद्ध से भी चित्रज्ञान में आकारों की सम्बद्धता नहीं बनती है, क्योंकि अनेक आकारों से अभिन्न (अव्यतिरिच्यमान) होने के कारण ज्ञान में एकरूपता के अभाव का प्रसंग आयेगा। अर्थात् ज्ञान एकरूप नहीं रहेगा वह भी आकारों की तरह अनेक रूप हो जायेगा। क्योंकि जो अनेक आकारों से अभिन्न स्वरूप हैं, वह अनेक हैं। जैसे अनेक आकारों का स्वरूप चित्रज्ञान भी अनेक आकारों से अभिन्न है, इसलिए वह ज्ञान भी अनेक है। अतः उन आकारों में तादात्म्य नहीं हो सकती है। एक बात यह भी है कि अनेक आकारों में भी एक ज्ञान स्वरूप से अभिन्न (अव्यतिरेक) होने पर अनेकत्व नहीं बन सकता है। क्योंकि जो एक से अव्यतिरेक (अभिन्न) हैं वह अनेक नहीं है, जैसे उसी ज्ञान का स्वरूप। अनेक रूप से माने गये नील आदि आकार भी एक ज्ञान स्वरूप से अभिन्न हैं, इसलिए यह अनेक नहीं है।

चित्रता अर्थ (पदार्थ) का धर्म है—चित्र अद्वैतवादियों का एक अभ्यास हाने से चित्रता पदार्थ (अर्थ) का धर्म नहीं है।[2] अप्रत्यक्ष से विरोध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है। अबाधित प्रत्यक्ष ज्ञान में चित्र के आकार बाहरी पदार्थों के धर्मरूप से प्रतिभासित होते हैं। अतः उनमें ज्ञानधर्मता मानना ठीक नहीं है। जो जिस धर्म से प्रतीत होता है, वह उससे अन्य धर्म वाला नहीं है, जैसे अग्नि के धर्मरूप से प्रतीत होने वाली उष्णता जल का धर्म है। चित्रता भी बाह्यार्थ के धर्मरूप प्रतीत होती है, इसलिए वह अभी ज्ञान धर्मरूप नहीं है। यदि कोई यह प्रश्न पूछे कि चित्रता को बाह्य पदार्थ का धर्म मानने पर ग्रहण और अग्रहण की उत्पत्ति कैसे बनेगी? तो जैन तर्कशास्त्री इसके उत्तर में कहते हैं कि चित्रज्ञान (प्रतिपत्ति) में अनेक वर्णों की प्रति पंक्ति कारण होती है। नील भाग के ज्ञान होने पर भी पीत आदि भाग से अप्रतिपत्ति में चित्रता का ज्ञान न होना सिद्ध है।

चित्रता को ज्ञान का धर्म मानने पर भी विरोध समान ही है। क्योंकि यहाँ प्रश्न होता है कि एक ज्ञान अनेक आकार वाला है उससे विपरीत?[3] एक चित्र ज्ञान को अनेक आकार वाला मानना ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर में विरुद्ध अथवा भिन्न (व्यावृत्त) अनेक आकारों का एक अनंश ज्ञान में रहना (वृत्ति) संभव नहीं है। जिनकी परस्पर में भिन्नता होती है उनकी अनंश एक वस्तु में वृत्ति (अस्तित्व) या सत्ता नहीं होती है। जैसे गाय, घोड़े

---

१. अथ सम्बद्धान्, किं तादात्म्येन तदुत्पत्त्या वा? न्याय कुमुदचन्द्र, पृ० १२८।

२. ग्रहणाऽग्रहण लक्षणविरुद्धधर्माध्यासान्नार्थधर्मश्चित्रता इति, तदप्यसुन्दरम्, वही।

३. तथाहि ज्ञान मेकमनेकाकारम् तद्विपरीत वा?
   (क) न्याय कुमुदचन्द्र, पृ० १२८।
   (ख) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० १७७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि परस्पर में भिन्न हैं, इसलिए उनकी एक वस्तु में सत्ता नहीं होती है। इसी प्रकार नील-पीत आदि आकारों की भी परस्पर विरुद्धता या भिन्नता है, इसलिए वे भी एक ज्ञान में नहीं रह सकते हैं।

प्रभाचन्द्र एवं वादिदेव सूरि यह भी कहते हैं कि एक अनंश ज्ञान का परस्पर विरुद्ध आकारों के साथ तादात्म्य (अभेद सम्बन्ध) भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक अनंश का परस्पर विरुद्ध आकारों के साथ अभेद सम्बन्ध मानने पर ज्ञान में भी भेद का प्रसंग प्राप्त होगा। उदाहरणार्थ—जो एक और अनंश है, उसका परस्पर विरुद्ध आकारों के साथ तादाम्य (अभिन्न) सम्बन्ध नहीं है। जैसे उत्पन्न क्षण का उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से अथवा सत्त्व और विनाश से तादाम्य सम्बन्ध नहीं होता है। चित्र अद्वैतवादियों ने चित्रज्ञान को एक और अनंश माना है। अतः आकारों का ज्ञान तादाम्य सम्बन्ध मानने पर भेद कहना भी संभव नहीं हो सकेगा तब चित्रता कैसे बनेगी अर्थात् नहीं बनेगी।[1]

यदि चित्र-अद्वैतवादी यह माने कि नील, पीत आदि आकारों की तरह वह ज्ञान भी अनेक है तो प्रश्न होता है कि वह ज्ञान कथंचित अनेक है अथवा सर्वथा अनेक है।[2] चित्रज्ञान सर्वथा अनेक मानने पर नील आदि आकारों के ज्ञानों में परस्पर में अत्यन्त भेद होने के कारण चित्रता का ज्ञान अथवा बोध (प्रतिपत्ति) स्वप्न में भी नहीं होगा। क्योंकि यह नियम है कि जिनमें परस्पर में अत्यन्त भेद है उनमें चित्रता का बोध नहीं होता है। जैसे सन्तानान्तर के विभिन्न ज्ञानों में आकारों की तरह उनके ज्ञानों में भी परस्पर अत्यन्त भेद है इसलिए चित्रता संभव नहीं है।[3]

ज्ञान को कथंचित अनेक मानने पर तो ज्ञान की तरह बाह्य अर्थ में भी चित्र स्वभावता मान लेना चाहिए अर्थात् बाह्य पदार्थों को भी चित्रस्वभाव आदि प्रमाणों से तरह-तरह के आकारों से तादाम्य का अनुभव होता है। बाह्य चित्रता और अन्तःकरणों की चित्रता में आक्षेप और समाधान सामान है।[4] प्रमेय कमलमार्तण्ड में कहा भी है कि जिस तरह एक ज्ञान में अक्रम से नील-पीत आदि अनेक आकार व्याप्त होकर रहते हैं, इसी प्रकार क्रम से भी सुख-दुःख अनेक आकार उसमें व्याप्त होकर रहते हैं, ऐसा भी मानना चाहिए। अतः नील आदि अनेक अर्थों का व्यवस्थापक प्रमाता (आत्मा) है और वह कथंचित अक्षणिक ऐसा सिद्ध होता है। अतः प्रमाता और प्रमेय ऐसे दो तत्व सिद्ध हो जाने से चित्र-अद्वैत ही तत्त्व है ऐसा सिद्ध नहीं होता है।[5]

---

१. वही।
२. (क) न्या० कु० च० पृ० १२९।
   (ख) स्या० र० पृ० १७८।
३. वही।
४. वही।
५. क्रमेणाप्यनेकसुखाद्याकर……दत्तोजलाञ्जलिः १।५ पृ० ९६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य विद्यानन्द ने भी कहा है कि जिस प्रकार चित्रज्ञान में अनेक आकार होने पर भी ज्ञान की अपेक्षा से चित्रज्ञान एक रूप है। उसी प्रकार ज्ञान-दर्शन, सुख आदि की अपेक्षा से आत्मा अनेक रूप है और आत्म-द्रव्य की अपेक्षा एक रूप है। यदि सुख रूप आत्मा से ज्ञान रूप आत्मा को चित्र-अद्वैतवादी, भिन्न मानकर उसे एक नहीं मानेगा तो नील रूप आकार से पीत रूप आकार से भिन्न होने के कारण चित्रज्ञान भी अनेक रूप सिद्ध नहीं होगा। एक बात यह भी है कि आत्मा को एक रूप मात्र मानने पर चित्रज्ञान को भी एक ही रूप मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर उसे चित्रज्ञान कहना असंगत हो जायेगा।[1] धर्मकीर्ति ने भी चित्रज्ञान में अनेक आकारों का निराकरण करते हुए कहा है कि क्या एक ज्ञान में अनेक आकार (चित्रता) हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। किन्तु ज्ञान को अनेक आकार अच्छे लगते हैं तो इस विषय में हम क्या कर सकते हैं।"[2] दूसरे शब्दों में ज्ञान में चित्रता नहीं है फिर भी कहा गया है कि चित्रता मानने वालों को कोई क्या कर सकता है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि चित्रज्ञान में एकाकारता भी सिद्ध नहीं होती है। अतः चित्रज्ञान में कथंचित-एकाकारता और कथंचित अनेकाकारता सिद्ध होती है। इसी प्रकार आत्मा आदि तत्व भी कथंचित एकरूप और कथंचित अनेक रूप हैं।

सुख आदि ज्ञान रूप नहीं है—चित्र अद्वैतवादी मानते हैं कि सुख आदि ज्ञान रूप हैं, किन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि सुख आदि की उत्पत्ति एकांत रूप से (सर्वथा) उसी सामग्री (कारणों) से नहीं होती है जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। सुख की उत्पत्ति सातावेदनीय नामक कर्म के उदय से होती है और ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम से होती है। इस प्रकार दोनों के कारण भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी सुख आदि की तरह ज्ञान भी अत्मारूप है अर्थात् ज्ञान और सुख आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के अलावा अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं। अतः ज्ञान और सुख आदि में कथंचित भिन्नता और कथंचित अभिन्नता होने पर भी यदि उन दोनों में एकता मानी जायेगी तो रूप, आलंक आदि को भी ज्ञान रूप मानना पड़ेगा। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि ज्ञान और सुख आदि सर्वथा एक नहीं है। आत्मा की अपेक्षा से वे एक हैं और अपने कार्य स्वरूप आदि की अपेक्षा अनेक भी हैं।[3]

प्रभाचन्द्र वादिदेव सूरि आदि तर्कशास्त्री कहते भी हैं कि चित्र-अद्वैतवादियों ने सुख आदि को ज्ञानस्वरूप मानने में जो यह हेतु दिया था कि सुख आदि ज्ञान उत्पन्न करने वाले अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होता है, तो इस विषय में प्रश्न होता है कि सुख आदि में ज्ञान के

---

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, पृ० ३५, १।१५५–१५८।

२. प्रमाणवार्तिक, ३।२१०।

३. (क) अष्टसहस्त्री, पृ० ७८।

(ख) न्यायकुमुदचन्द्र, १।५ पृ० १२९।

(ग) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० १७८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिन्न हेतु से उत्पन्नत्व सर्वथा स्वीकार है अथवा कथंचित ?[1] यदि हेतु को सर्वथा माना जाय तो वह असिद्ध दोष से दूषित हो जायेगा। क्योंकि सुख आदि साता, असाता वेदनीय के उदय होने से माला, वनिता आदि निमित्तों से होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञानाकारण के क्षयोपशम होने आदि से होता है। दूसरी बात यह है कि सुख आदि का स्वरूप ज्ञान के स्वरूप से विभिन्न है। अतः विभिन्न हेतु से उत्पन्न होने के कारण यह हेतु असिद्ध सिद्ध होता है। जिनका विभिन्न स्वरूप होता है उनमें हेतुजन्यता नहीं होती है जैसे जल, अग्नि आदि। ज्ञान और सुख आदि में भी विभिन्न स्वरूप पाया जाता है। सुख आदि आनन्द आदि रूप होता है और ज्ञान प्रमेय के अनुभव स्वरूप होता है। इसलिये वे भी एक अभिन्न कारण से नहीं है। अतः विभिन्न स्वरूप वाले पदार्थों का अभिन्न उपादान कारण मानने पर सभी चीजें सभी पदार्थों के उपादान कारण हो जायेंगे। अतः सिद्ध है कि ज्ञान सुख आदि रूप नहीं है।[2]

अब यदि माना जाय कि ज्ञान अभिन्न हेतु से उत्पन्न होने के कारण उक्त हेतु कथंचित है तो रूप, आलोक आदि के द्वारा हेतु विपक्ष में चले जाने से अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास से वह हेतु दूषित हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार रूप, आलोक आदि से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार रूपक्षणान्तर एवं आलोकक्षणान्तर की भी उत्पत्ति होती है। अतः सुख आदि ज्ञान रूप नहीं है, यह सिद्ध हुआ।[3]

एक बात यह भी है कि आपने सुख आदि से ज्ञान से अभिन्न हेतु से उत्पन्न होने के कारण ऐसा हेतु किस अपेक्षा से कहा है उपादान्त कारण की अपेक्षा अथवा सहकारी कारण की अपेक्षा से ? उपादान कारण की अपेक्षा मानने पर यह भी विचारणीय है कि इसका उपादान क्या है ? आत्म-द्रव्य अथवा ज्ञानक्षण ? आत्म-द्रव्य को बौद्धों ने नहीं माना है इसलिए वह उपादान हो नहीं सकता है। आत्म-द्रव्य मानने पर प्रश्न होता है कि सुखादि में उपादान की अपेक्षा से अभेद सिद्ध करते हैं अथवा स्वरूप की अपेक्षा।[4] यदि चित्र-अद्वैतवादी सुखादि में उपादान की अपेक्षा अभेद सिद्ध करते हैं। इस विकल्प को स्वीकार करते हैं तो इसमें सिद्ध साधन नामक दोष आता है क्योंकि जैन दर्शन ने भी चेतन द्रव्य की अपेक्षा सुख आदि में अभेद माना है और सुख, ज्ञान आदि प्रतिनियत (पूर्वनिर्धारित) पर्याय की अपेक्षा से इनमें परस्पर में भेद भी माना हैं। अब यदि यह माना जाय कि स्वरूप की अपेक्षा सुख आदि में अभेद हैं तो घट, घटी शराब आदि के द्वारा अनैकान्तिक दोष होता है। क्योंकि अभिन्न उपादान वाले घट, घटी आदि में स्वरूप से अभेद नहीं है।[5]

---

१. (क) न्याय कुमुदचन्द्र, पृ० १२० (ख) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० १७८।
२. (क) न्या कु० च०, पृ० १२९ (ख) स्या० र० पृ० १७८।
३. (क) वही, पृ० १३० (ख) वही, पृ० १७८।
४. (क) वही, पृ० १३० (ख) वही, १७८-१७९।
५. वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब यदि ज्ञान क्षण को उपादान मान कर विज्ञान से अभिन्न हेतु जन्य सिद्ध करना चाहते हैं तो यह भी असिद्ध है, क्योंकि आत्मद्रव्य ही सुख आदि में उपादान होता है। पर्यायों का दूसरी पर्यायों की उत्पत्ति में उपादानत्व कभी भी नहीं देखा गया है। अन्तरंग अथवा बाह्य द्रव्य में ही उपादानत्व बनता हैं। कहा भी है—"जो द्रव्य पूर्व और उत्तर पर्यायों में तीनों कालों में वर्तमान रहता है, वही द्रव्य माना गया है। आत्मा पूर्वोत्तर पर्यायों और तीनों कालों में रहने के कारण द्रव्य है।"[1]

अब यदि माना जाय कि सुखादि में ज्ञान-अभिन्न हेतुजन्य सहकारी कारण की अपेक्षा से है तो यह भी कथन मात्र है। यहाँ चक्षु आदि के द्वारा अनेकान्तिक दोष का प्रतिपादन होता है। यदि सुख आदि ज्ञान से सर्वथा अभिन्न हैं तो ज्ञान की तरह सुख आदि को भी अर्थ का प्रकाशक होना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं है। ज्ञान तो स्व पर प्रकाशक होता है और सुख आदि अपने प्रकाश में ही नियत (निश्चित) हैं ऐसा सभी को अनुभव होता है। अतः विरुद्ध धर्मों को अध्यास होने से इनमें अभेद कैसे हो सकता है? जहाँ विरुद्ध धर्मों का अध्यास हैं वहीं अभेद नहीं हैं। जैसे जल, अग्नि। ज्ञान, सुख आदि में भी विरुद्ध धर्मों का अध्यास हैं इसलिए उनमें भी अभेद नहीं है। इस प्रकार सुख आदि में ज्ञानस्वरूप सिद्ध नहीं होता हैं।[2]

अतः सिद्ध हैं कि चित्र-अद्वैतवाद नामक सिद्धान्त भी तर्कतंगत नहीं है।

●

१. (क) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १३० (ख) स्याद्वादरत्नाकर पृ० १७९।
२. (क) वही।
(ख) बाहिश्चित्रं रूपं तविदमधुना सिद्धि सदनं
समारोपि प्रौढस्फुरदतुयुचितव्यतिकरात्।
धियं चित्रमेकां तत् इह कथं बाह्यविरहे
प्रवद्येत्वे यूयं प्रमितिरहितं भोक्तुगतयः॥ स्या० र० पृ० १७९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 7

खण्ड (घ)

साहित्य-इतिहास-संस्कृति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

HINDUISM IN TRINIDAD

Professor J. C. JHA*

Hinduism is perhaps the oldest religion of the world. It may be called a commonwealth of religions. One may wonder whether it is just a name covering a multitude of different faiths. However, after looking at the spiritual life, devotion and effort lying behind the creeds one may realise "the unity, the indefinable self-identity" of Hinduism which is not static at all.[1] In the course of about five thousand years this religion has developed in such a way that it has assimilated so many liberal, democratic and other trends. On the one hand it has a high philosophy and ethics, on the other it has retained innumerable rituals and popular beliefs. It describes the Supreme as many-sided and comprehensive and comprehends all the relations existing between man and God.[2]

In the religion of the Indus people (c. 2500-1500 B. C.) both "iconic and aniconic cults existed side by side, and were just as compatible five thousand years ago as they are in the Hinduism of today."[3] There is ample evidence of the worship of the Mother Goddess and of Shiva among the Harappans. Animal and tree worship also existed. Amulets and charms were common and Yoga was playing an important part.

The Vedic religion developed roughly between 1500 B. C. to 700 B. C. was at first different from the earlier religion but later it assimilated some of the ideas from the Harappan (Indus) religion. The chief objects of worship were the *devas* but there were some goddesses also. Indra, Varuna, Maruts, Surya, Rudra, Agni (the firegod) and others are mentioned, but there is undercurrent of monotheism.

---

* Professor & Head, Department of History, Patna University, (India).

1. S. Radhakrishnan, "Hinduism" in G. T. Garratt (ed.), *The Legacy of India*, Oxford, first published 1937, reprint 1938, p. 256.
2. S. Radhakrishnan, Introduction to *The Cultural Heritage of India* (*Sri Ramakrishna Centenary Volume*), Vol. I, Calcutta, p. XXIV.
3. John Marshall, "Mahenjo Daro and the Indus Civilisation" in B. N. Pandey (ed.), *A Book of India*, Indian edition, New Delhi, 1977 p. 297.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The origins of varnashram dharma, the doctrine of *karma* (deed), *samsara* (the cycle of birth and death), etc. can be found here. The early upanishads of the seventh century present a variety of speculations and theories on the origins of the universe, the nature of the soul (*atma*) and other matters[4].

The two epics, the Ramayan and the Mahabharat including the *Shreemadbhagvadgeeta*, the Puranas, the compositions of the Bhakti poets like Kabirdas and Tulsidas in the medieval period and the neo-vedanta of Swami Vivekananda, S. Radhakrishnan and others of the modern period have all contributed to the evolution of Hinduism.

A vast majority of the 143,000 indentured Indian immigrants who were brought to the British colony of Trinidad from British India between 1845 and 1917 A. D. were Hindus. Between 1845 and 1891 only 11,885 out of the 88,501 Indian immigrants got repatriated. With the grant of the crown land in lieu of the back passage to India the Indians started settling and recreating their villages in an alien environment. Each census since 1891 showed a small downward trend in the relative importance of this religious group even though its actual numbers went on increasing. But settlements like Delhi, Chandernagar, Fyzabad and Barrackpur were coming up.

By 1946 the Hindus constituted 22.64 per cent of the total population of Trinidad. There were 126,345 Hindus—65,448 males and 60,897 females. Many of them were born in the island but their parents were homesick and told them stories from the Ramayan and Mahabharat. In the counties of Caroni, Victoria and St. Patrick the Hindus were the most important group. In the wards of Cunupia and Montserrat they outnumbered all other groups put together. In the wards of Chaguanas, Couva, Ortoire, Point-a-Pierre, Savana Grande, Cedros, Siparia and Charuma they were the largest single group.[5]

The vast majority of the Hindu immigrants were from the Gangetic plains of North India. But some of them were from South India, Tamil, Telugu and Malayam speaking people, commonly called the Madrasis whose manners, customs and rituals were different from the northerners.

Moreover, there were many sects and sub-sects of Hinduism among the immigrants, the largest group being that of the Sanatanists. Among them were the Ramanandis, the followers of Swami Ramanand of medi-

---

4. A. L. Basham, *The Wonder that was India*, Indian edition, Calcutta, 1963, p. 249.
5. *West Indian Census : Trinidad and Tobago*, 1946, p. XI.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

eval India. D. W. D. Comins mentioned this group in his report published in 1893, besides the Kabirpanthis, Augharpanthis and Shivanarayanis.[6] Later the reforming sect of Arya Samaj founded in India by Swami Dayanand Saraswati in 1875 was made familiar to the Hindus of Trinidad by Bhai Parmanand of the Sangathan Movement of India around 1910. Much later the insignificant sub-sects like the Vedic Aryans wer developed.

From the very beginning the Hindu immigrants were looked down upon as Christianity was the only religion known to the Trinidadians so far. John Morton, the famous prestyterian missionary who came to preach among the Indian immigrants in Trinidad in 1868 thought like the Utilitarians of England that Hinduism was a 'sinister', 'unclean' faith which could bring in degraded morality. The Trinidad press owned by the Christians often criticised Hindu manners and customs and attacked idolatry, castesystem, etc. The Hindus were jeered at not only in Trinidad but in Jamaica and Guyana for their dress, daily bath, offer of water to the sungod and so on.

Moreover, there was a great pressure for conversion to Christianity.[7] Some did get converted for the sake of jobs, social prestige, etc, but the vast majority of the Hindus retained their intellectual, metaphysical and ritualistic traditions. They did not want to be swamped by the western influences and even avoided the educational institutions for fear of conversion. In any event they wanted to retain their identity.

That the Hindus of Trinidad, like their counterparts in Guyana and Surinam, Fiji and Mauritius, could retain their religion was surprising. The main reason for the retention of religious practices was the increasing number of the immigrants and their offsprings. Secondly, the fundamentals of their religion had a certain vitality and their rituals and festivals gave it a popular base.

Hinduism had already survived innumerable challenges like foreign invasions in the Indian subcontinent. In Trinidad the Hindus were

6. D. W. D. Comins, *Note on Emigration from India to Trinidad*, Calcutta, 1893, Diary, p. 11 : The number of Kabirpanthis in Trinidad who believed in one God was 150. A *Sadhu* (ascetic) told Comins that the Augharpanthis and Shivanarayanis ate and drank everything.
7. "The clergy of Trinidad considered the non-Christians as simple targets for conversion...." D. Wood, *Trinidad in Transition*, London, 1968, p. 39.

15

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

atleast getting protection from the plantation system. Indeed, they were segregated from the non-Indians[8] in the plantations and later in the Indian settlements.

While the Hindus preserved their identity they also got a moral support from the Muslims who constituted about 13 per cent of the total Indian population in 1891.[9] The two communities lived in harmony and faced the onslaughts from the non-Indians boldly. Some Hindus participated in the *Tazia* (Husain or Hosay) procession at the end of Muharram from the 1850s which became the "annual demonstration of Indian feeling". In October 1884 one Balgopaul Singh was prosecuted by the Trinidad police for taking a leading part in the Hosay riots.[10]

Religion had a powerful role in helping indentured Indians to rebuild their way of life and the Hindus retained their respect for Brahman and Kshatriya castes.[11] Moreover, the Hindus were fortunate in the leadership provided by the Brahmans who "resumed their priestly functions and enjoyed much the same reverence as in India"[12]. Even in the early days of the indenture the priest would loudly read the epic the Ramayan, specially the *Ramacharitamanas* of Tulsidas in the evening for the benefit of the Hindus of his area and the lower caste Hindus would take care of his task in the field. Later the priests like Bhagoutie (Bhagawati) born in the Basti zila (district) of U. P. in North India who knew Sanskrit, Hindi and English, Ramjattan Pandit from the Bihar province of India,[13] Pandit Capildeo of Chaguanas who had come from the Gorakhpur district and Pandit Janaki Prasad Sharma born in 1893 in U. P. (India) who later became the dharmacharya of the Sanatanists in Trinidad and a great expounder of Shrimadbhagwatgeeta, helped the growth of Hinduism.

Moreover, several prominent Hindus born in Trinidad worked for the consolidation of the Hindu society. For example, Simbhoonath

8. F. E. M. Hosein's paper on "East Indians in Trinidad", *Port of Spain Gazette* (Henceforth *Pos Gazette*), 5 May 1913.
9. J. C. Jha, "The Indian Heritage in Trinidad" in J. G. La Guerre (ed.), *Calcutta to Caroni*, Longman Caribbean, Port of Spain, 1974, p. 5.
10. *Pos Gazette*, 22 Nov. 1884.
11. P. M. Sherlock, *West Indies*, 1966, p. 124.
12. B. Brerton, *A History of Modern Trinidad, 1783-1962*, Port of Spain, 1981, p. 105.
13. M. J. Kirpalani et al (ed.), *Indian Centenary Review : 100 Years of Progress : Trinidad, 1845-1945*, Pos, 1945, p. 159.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Capildeo, a solicitor of Chaguanas later settled in Port of Spain, Goberdhan Pandit born in Couva in 1892 and later settled in Siparia Road, Fyzabad who was the president of the Sanatan Dharma Association since 1933, the founder of the Nirdhan Daya-Upkar East Indian Friendly Society, and President of the Vidvat Parishad (scholar's group), Ganga Bisoon Maharaj (born in 1905), Dr. Deonarayan Umah Maharaj (Tiwari) who later became the President of the Hindu Mahasabha of Trinidad; Lakshmi Narayan Parray (born in 1907) who knew Sanskrit and Hindi and founded the Sanatan Dharma Sudhar Sabha of San Juan; Lakshmi Prasad Sharma (born in 1908) who founded the Sanatan Dharma Swayam Sevak Dal and Krishna Mandir and many others.

The Hindu missionaries from India also helped the consolidation of Hinduism in Trinidad. They invariably brought the messages of the greatness of this religion and its glorious tradition. As noted earlier, the Kabirpanthi and Shivanarayani *mahanths* (priests) came at the turn of the last century. After the first decade of the twentieth century Bhai Parmanand was followed by the Arya Samajist preacher Bhai Tiwari in 1914. Later came Hari Prasad of Guyana who concentrated on the Gaoparillo-Maralulla area.

Jaimini Mehta's visit to Trinidad in 1929[14] and particularly his brilliant lectures on the Vedas and and the Upanishads brought about a new awakening among the Hindus. Later Ayodhya Prasad[15] furthered the cause of the Arya Samaj movement in Trinidad. In 1936 a *mandir* was erected at Chaguanas and efforts were made to stop the image worship and caste considerations. Then came Satya Charan Shastri, Bhaskaranand, Narayan Dutta and his wife Janaki. In 1940 the Arya Pratinidhi Sabha was founded and in 1943 it was incorporated under the law. Since then the Arya Pratinidhi Sabha did much to solve the educational and social problems of its members.

Meanwhile a *sadhu* (ascetic) J. Krishnanand of South India lectured in San Fernando, Fyzabad and several other villages of Trinidad in 1933[16], asking the Hindus to organise themselves. The Sanatanists, unlike the Arya Samajists had been less organised. But by early 1930s they had two main organisations : the Sanatan Dharma Association of Couva under the leadership of Goberdhan Pandit and the patronage of an eminent legislator Sarran Teelucksingh of Couva and the Sanatan Dharma Board of Control

---

14. *Trinidad Guardian*, 23 oct. 1929, p. 8.
15. *Trinidad Guardian*, 18 Nov. 1934.
16. *POS Gazette*, 20 Dec. 1933, p. 7.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

under Dina Nath Tiwari of Tenapuna and C. H. Buddhu of port of Spain. These were incorporated under the Trustee ordinance. There were smaller Sanatanist organisations too : the Sanatan Dharma Sabha of Debe under the leadership of L. P. Sharma, the Sanatan Dharma Sabha of Sangre Grande under Shiva Narayan Tiwari and the Sudhar Sabha of San Juan.

In 1937 the Sanatan Dharma Board of Control sent Dina Nath Tiwari to the Sanatan Dharma Pratinidhi Sabha of Lahore (India) to discuss the problems of the Hindus of Trinidad. As a result of this effort Parashuram Sharma came to Trinidad early in 1938. During his stay here and later in Guyana and Surianam Sharma gave excellent lectures on Hinduism at various places, explaining the essentials of Hinduism. He also created some controversies between the two major sanatanist organisations of Trinidad. However, his efforts to solve the problems of the local Hindus with regard to the legalisation of their marriage and the cremation of their dead ultimately succeeded.[17]

By the closing years of the nineteenth century the Hindus with a sizeable population had the courage to claim that the image of La Davina Pastora in Siparia (South Trinidad) was actually their own Mother Goddess. They participated in large numbers in the Good Friday celebrations of this church and offered gold and silver watches, chains, rings and coins to the deity.[18] They paid special homage to this "Goddess Kali" with their own devotional songs. Even now they get the first hair-cutting (*mundan*) of their children done here.

Initially the Hindus had lived rather modestly and defensively but by 1897 they boldly converted a few non-Hindus to their own faith.[19] This was partly because of their own numerical strength and partly due to the arrival of some missionaries from India.

In 1888 J. H. Collens in his *Guide to Trinidad* referred to the mythological, philosophical and theological works which the Hindus of Trinidad respected. The Ramayan was the most popular religious book but the Bhagavat Purana, the Mahabharat, etc. were also read. As the Hindus were becoming rich they spent more and more on community *Kathas* like Satya Narayan Katha, Ramakatha, etc. No wonder the Colonial

17. P. Sharma to Goberdhan Pandit, 18 Oct. 1938, Goberdhan papers, Siparia, Trinidad. Also, *Trinidad Guardian*, 31 Jan. 1939, p. 13.
18. *San Fernando Gazette and Trinidad News*, 22 April, 1896.
19. *POS Gazette*, 12 Aug. 1897.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Secretary of England remarked in early 1903 that the British West Indies happened to be "the paradise of the Hindoo Coolie."[20]

Meanwhile Hindu temples (*mandir* in general or *Shivala*) were coming up in the various Indian settlements of Trinidad. For the less developed minds the images of the deities and congregations (*satsangs*) in temples became necessary. Only a few pandits could understand the vedas, the upanishads and the Geeta. For others the outer manifestation of their religion in the form of temples and congregations was more important than meditation for the salvation (*mukti* or *moksha*) of the individual soul.

The first temple was built around 1860.[21] Architecturally the Shivala of Tunapuna was the best at the turn of the last century. The emblem of Shiva imported from India was of white marble, about 18 inches tall and 36 inches in girth. The images of Shiva's consort Parvati and his son, the elephant faced god Ganesh and the masonry impages of Vishnu and his *avataras* (incarnations)– Rama, Krishna and Narsingh-were also installed.[22] The smaller temples built mostly by the Brahman priests in the country of Caroni and in South Trinidad had ordinary decorations because, as S. Naipaul, an Indian journalist of Trinidad noted, the priests were more interested in giving expression to their religion than to art and architecture.[23] At present St. James Krishna temple, the Shivalas of Tunapuna (noted above), the Penal temple and the one on the Green Street are wellknown. There are a few Hanuman temples also.

The tradition of *Sadhu* (ascetic) and *sadhuayin* (women *sadhus*) has been retained. In 1930 Dr. Vincent Tothill met a 'magnificent Hindu' Yogi who surprised him by his physical feats and miracles. One Kolahal Das (formerly Dayaram, born in India around 1900 A. D.), a mystic saint in Caroni, was famous for his *sadhana* (meditation) and *Siddhi* (spiritual achievement).[24]

The Hindu view of life has been essentially sacramental. Since the man is believed to be born with a purpose his life from the birth to the

---

20. *POS Gazette*, 26 May 1903. One Ram Sal who had initially been a pauper left an estate worth a million dollars on his death.
21. D. Wood, *op. cit.* p. 150.
22. S. Naipaul in the *Sunday Guardian Pictorial Christmas Supplement*, 9 Dec. 1934.
23. Ibid.
24. J. C. Jha, *op. cit.*, p. 17.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

death is prescribed in terms of *samskaras* (sacraments). The tendencies marking each of the clear phases of a man's life is preceded by a symbolic sacrifice (*homa*).

In Trinidad all the sixteen *samskaras* are not celebrated, but one can see the sacred thread ceremony (*upanayan*, *yojnopavita* or *janeo*) ceremony in some Brahman families. Except perhaps the priests no body wears the sacred thread, a cotton thread of three strands in duplicate running from the left shoulder across the body to the right hip,[25] even if given by the *guru*. In the *upanayan* the great Vedic *mantra* the Gayatri is imparted to the boy—a prayer for the light of wisdom being granted by the Sun God.

The *samskaras* like the *garbhadhan* (conception), *Pumsavana* (conducted in the third month of conception for a male child), etc. have disappeared from Trinidad. But *chura karma* or *Mundan* (hair cutting ceremony) is performed between six months to three years after the birth of a child. The hair is thrown in a pond or river or in the sea. A prayer is offered to the God of the water by the father or the mother for the welfare of the child.[26]

A few smaller sacraments have been retained in the rural areas. When the baby is born a *thariya* (brass-plate) in which the infant is bathed, is given to the mid-wife. On the sixth day the *chhathi* ceremony is held. The exact auspicious moment for the ceremony is fixed by the priest according to the planetary position. The placenta and the clothes worn by the women delivering the child are burnt and the ashes buried. In the chhathi various Indian delicacies (*sohari*, *halua*, mango pickle and Indian sweets) are prepared and served. The birth of a son is celebrated with more rejoicing than the birth of a girl. At the actual *chhathi* ceremony the mother sits with the baby in her arms and the baby's eyes are covered while a *deeya* (wick) is lighted and put out five or seven times. Then the baby's face is uncovered.

---

25. H. Zimmer, *Myths and Symbols in Indian Art and Civilization*, J. Campbell (ed.) New York, 4th print, 1963, p. 183, fn. According to the Jabal upanishad the sacred thread is the symbol of Thread-spirit on which the individual existences in the universe are strung and by which all are inseparably linked to their source.
26. Based on the author's personal observations and interviews in Trinidad (1970-76).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The sample of all the food prepared along with the betel leaf, betel-nut, *ghee* (clarified butter), incense and *Sindur* (vermilion) are offered to *Dihamai* (mother earth), Kali mai, Durga mai and all the Bhiaravis for the protection of the newly born baby. Alcohol is offered to Dharati mai; vermilion is smeared on the betel leaf and a cutlass is there to ward off the evils. The women sing the sohar, a song with various ideas relating to the child birth,[27] *nachari* (in the praise of Shiva) and other sacred songs. The drum, dand-tal (*dandal*), a forty inches long bronze stick held in one hand and beaten with another small curved stick, and other musical instruments are used.

Twelve days after the childbirth the *barahi* is celebrated. The mother gets a thorough bath and once again delicious Indian dishes are prepared. One of the *barahi* songs is connected with the birth of Lord Krishna in a jail, describing how he was saved.[28]

The father of the baby consults a pandit who casts the baby's horoscope and suggests the possible initial letter of the child's name. The name given by the pandit (planetary name) is kept secret by the family and another name is given for normal use.

Among the Madrasi Hindus however, when a baby is born there is sorrow other than joy for the sufferings he wiil undergo in later life. There is no singing or feasting.

However, at present the rituals connected with the birth can be seen mainly in the rural areas. Even now the old custom of having the first baby at the girl's parents' place is retained in some Hindu homes in the rural areas of Trinidad and Guyana. Hospitalisation is preferred only in complicated cases. The midwife (chamain), the family barber and the priest are given gifts—*seedha* (provisions), *gamchha* (towel), *dhoti* (loin cloth), etc. Thus the traditional *yajmani* (*jajmani*) system is retained.

The concept of exogamous marriage was almost forgotten before the Indian settlements appeared in Trinidad. But new ideas of brotherhood appeared and matrimonials between *jahaji bhais* (brothers) or *bahins* (sisters) or between the co-villagers was prohibited, child marriage and the dowry system existed among the Hindus of Trinidad.[29] Every facet

---

27. U. Arya, *Ritual Songs and Folksongs of the Hindus of Surinam*, Leiden, 1968, p. 16. A Sohar cannot be sung at a wedding.
28. Based on an interview with Mrs G. Goberdhan of Pasea village near Tunapuna, Trinidad, 1973.
29. *San Fernando and Trinidad News*, 22 April, 1986.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of the Hindu wedding-the *Chheka* (engagement), *matkor* (ritual digging of the soil), *kanyadan* (the formal giving away of the bride to the bridegroom) could be seen even now.

Even so, the Hindu wedding was not recognised by the local law before 1946. Under the Heathan Marriage Ordinance of 1860 some Hindu marriages were registered in British Guiana. Under the consolidated Immigration Ordinance no. 25 of 1891 which included the Marriage Law, provision was made for legalising under certain conditions the marriages celebrated according to the Indian rites in British Guiana. In Trinidad Ordinance no. 6 of 1881 provided for the registration of non-Christian marriages among new immigrants which had taken place prior to their arrival in Trinidad. Later in 1899 and again in 1904 the Indian Immigration Marriage and Divorce Ordinance was passed.[30] But the Hindus by and large refused to get their marriage registered.

For the Hindus marriage was sacrament, it was permanent with divorce or remarriage not allowed in the higher castes. So the grand Hindu weddings continued with *vedis* (sanctorums) having manifold mystical signs on the *marao* or *marwa* (bamboo tent) where the knot was tied. Big *barats* (marriage processions) in motor, lorries and cars were taken with drumming, etc. In some cases cows and calves were given to the bridegroom and jewelry (gold *manohari*, silbandhi, silver hasulis and silver and gold necklaces) was presented to the bride.[31] By the 1930s the bride was dressed in Indian *sari* and the bridegroom in the traditional 'jora-jama'.[32]

The officiating pandits got good *dakshina* (*dachhina*) or fee. No wonder it was reported in April-June 1920 that the pandits reaped a good harvest. Some of them conducted more than a score of such ceremonies and in each case got a gift of a cow from the bride's parents and a lot of silver coins from the bridegroom's side.[33] Naturally, the pandits generally opposed the Hindu Marriage Bill before it became an Act in 1946.

---

30. J. C. Jha, "The Background of the Legalisation of Non-Christian Marriages in Trinidad and Tobago", in *East Indians in the Caribbean : Colonialism and The Struggle for Identity*, London, New York, 1982, p. 119.
31. *The Mirror*, 11 May 1914.
32. *Trinidad Guardian*, 1 March 1936.
33. *Trinidad Guardian*, 4 May 1920.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Some Hindu priests also opposed day wedding. Ramyatna pandit refused to sit in a *panchayat* organised by Sahdeo pandit on this issue. The former was right in asserting that the Hindu wedding could be held in the night or day according to the proper conjunction of stars (auspicious *lagna* or *muhurta*)[34]. Some others, however, thought otherwise.[35]

Another problem was the cremation of the dead bodies of the Hindus. Even when the Hindu dead bodies were buried as the Trinidad law did not permit cremation, the Hindus like the Muslims and the Christians had separate burial grounds in the cemeteries in the Indian areas. But since the Hindus in India preferred cremations Parashuram Sharma and Goberdhan Pandit represented to the Trinidad governor in August 1938 that the pyre system of cremation should be introduced here.[36]

Much later the cremation system was introduced. But at present it is largely confined to the rich people. In the funerals large number of people, preferably in a black dress, participate. The conch and gharighanta are sounded, the *Garud Purana* and the *Ramayan* are read by the pandit and a *bhandara* (feast) is arranged. A special type of priest called 'Kantaha' is also engaged. However, the creole influence can be seen in the 'wake' in which the relatives and friends keep awake at night in the memory of the dead.

The customary inhibition regarding keeping away from the lower caste people, not taking the cooked food with them, was given up by the high Hindus. But an attitude of a derision towards the 'chamar' (actually a cobbler but in Trinidad any untouchable) was maintained. Some pandits did not want to eat with the Muslims and Christians. Thus in April 1922 when a delegation from India was given a reception at Couva Permanand pandit, the President of the East Indian National Congress of Trinidad and V. N. Tiwary, the Secretary of the Indian government sponsored group, were at the head of the "Hindoo table", while Roop Meah sat at the head of the "Mohammadan table"[37] and Baboolal Singh catered to the Hindu guests.

The Hindu families have their *puja* at home on special occasions and they put up small flags (*Jhandis*) of special colours in a bamboo pole in front of their house. A red flag is hung in honour of the monkey-

---

34. Ramyatna to Goberdhan, 14 Feb. 1936, Goberdhan Papers.
35. *POS Gagette*, 15 Oct. 1939.
36. P. Sharma to G. Pandit, 25 Oct. 1938, Goberdhan Papers.
37. *Trinidad Guardian*, 14 April 1922, p. 5.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

faced God Hanuman (Mahavira), a yellow one in honour of Goddess Lakshmi (the goddess of wealth), and sometimes Durga or Krishna. A white flag is hung in honour of Satyanarayan (Satyadeo), the god of truth. His *puja* is the most popular in Trinidad. As in Bihar (North east India) the story of this god and the girl Leelavati who was ultimately blessed by the lord, is told.[38]

A *puja* is an individual affair in which the hymns from religous texts are chanted. It may be a community affair in a temple or a *pandal* (marquee), associated with the reading of the Bhagawat or Shiva Purana in Sanskrit with the commentary in Hindi and English. The god Hanuman is worshipped to ward off some danger and his special *puja* is called 'Hanuman Rota'. Thn *Hanuman-chalisa* is also read to prevent the ghosts and spirits from harassing somebody. For good education Goddess Saraswati is worshipped and the Sun god is appeased for preventing the eye and other diseases. The *puja* of Kali involves goat sacrifice and is confined to a small section of Hindus.[39]

The Hindus of Trinidad observe religious festivals throughout the year.[40] In some areas the Durga Puja (*dashahara*) is observed for ten days in the second half of *Ashwin* around October. But in most parts of the island, as in U. P. (India), it is celebrated as Lord Rama's victory over the demon Rawan. Selected portions of the Ramayan are read loudly and the scenes are enacted.[41] The first Ramaleela was organised in 1890 by a priest Rajnath Kanwar Maharaj in central Trinidad.[42] In 1895 one Goberdhan as Ram hit one of the eyes of the person who was enacting the role of Dasharath.[43] On 15 October 1898 the *Hindustani Kohinoor Akhbar* mentioned that two Indian villages of Trinidad organised the Ramaleela. In October 1901 the Indians of Chaguanas had a grand Ramaleela show in which drums, dances and magic added to the grandeur. In 1913 and 1916 Capildeo pandit arranged the show in Woodford square, Port of Spain and Lal Mathura pandit, Bhagan Maharaj and Rishi Maharaj played the main roles. In 1916 a *sadhu*

38. J. C. Jha, "The Indian Heritage....", *op. cit.*, p. 9.
39. S. S. morton (ed.), *John Morton of Trinidad*, Toronto, 1916, p. 23.
40. Arthur and Juanita Niehoff, *East Indians in the West Indies*, Milwaukee, 1960, p 123.
41. Morton Klass, *East Indians in Trinidad*, New York-London, 1961, p. 159.
42. *POS Gazette*, 10 Oct. 1901, p. 6.
43. J. C. Jha "The Tradition of Ramaleela in Trinidad," *Navaneet* (Readers Digest in Hindi) Bombay, Jan. 1979, p. 29.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

remained standing on one leg near the Ramaleela ground. The *Mirror* of Trinidad criticised those who called god Ramachandra a "Coolie God" and Hanuman a "Monkey God".[44]

The shows became grander in 1919, 1921, 1924, 1928, 1929, 1930 and 1931.[45] In the last few decades the Ramaleela has not attracted so much attention due to the advent of Hindi films, specially the religious movies like Ramarajya and Sampurna Ramayana. The political differences among the Indian groups has also led to the cessation of the pageant in some areas.[46]

Krishnastami (Janmastami), the birth day of Lord Krishna, has been celebrated every year around August at San Juan in the North and Penal and some other villages in South Trinidad. In some places Krishnaleela depicting the main episodes of the life of Krishna is also arranged.

The most popular festival of the Hindu in Trinidad is *Divali*, the festival of lights, observed around November. It commemorates the home-coming of Rama and his brother and wife to Ayodhya after fourteen years of exile. In 1895 a newspaper called it the 'Dehwarri-Ahamawas' (*Diwari amawas*), a Hindu 'feast' when all the houses and business places were "illuminated with tiny tapers or *chirag*" (little earthenware bowls filled with coconut oil and lighted cotton wicks), and plantain trees were used in the decorations, the lights being suspended from the leaves.[47] In almost every home lights were fixed on the arches and the Shivala of Tunapuna was skilfully decorated. To depict this festival in a bad light the Trinidad Guardian referred to the murder of a girl by an Indian male during this festival.

During the last four decades the Divali has become more a community affair than an individual affair. Besides illuminating the homes organised illuminations are arranged in the savannahs. In 1946 bamboo stands and scaffoldings were put up at the Barataria savannah.[48]

---

44. *The Mirror*, 9 October 1916, p. 9.
45. *POS Gazette*, 14 April 1921, *Port of Spain Gazette*, 23 Jan. 1931, p. 5. *Trinidad Guardian*, 10 August 1935.
46. Klass, *op. cit.*, p. 159.
47. *POS Gazette*, 27 Oct. 1897; Also see *Trinidad Guardian*, 11 Nov. 1934.
48. *Trinidad Guardian*, 19 Oct. 1946, p. 3.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

In recent years the celebrations are more lavish. It is now a national holiday and a grand occasion for the exchange of Indian sweets and visits.

Lakshmi *Puja* is the main item on the occasion of Divali. The image of the godess is washed in milk or water, *prasad* (offering) is distributed and *bhajans* (devotional songs) are sung in her honour. The lighting of a *yam-diya* (big clay wick in honour of Yama, the god of death) at the entrance of the house to ward off the evil spirits can be seen in some rural areas.

In the nineteenth century the Tamil (Madrasi) Hindu fire-pass festival was so popular that in the early 1880s the government of Trinidad tried to curb it. Even so, it remained a popular festival. At the Boissiere village near Maraval this festival started in early July 1921 with the hoisting of a sacred flag.[49] There were south Indian dances and music for the whole night. A Madrasi climbed a pole and offered coconut and limes to the gods and then walked on fire.[50]

The Madrasis also celebrated the Munsah festival in the late nineteenth century. Five idols of baked clay, about 3 feet high (3 gods and 2 goddesses) were placed in a group on a cleared patch of ground in the Indian settlement at Tacarigua. Three goats were sacrificed by the Madrasi priest and hibiscus and other flowers were offered by welldressed girls. Drumming went on and later the clay figures were broken and buried.[51]

In recent years these Madrasi festivals have almost disappeared. In fact, the Madrasis (Mandrajis) participate in the North Indian festivals in greater number. The North Indian festival *holi* (*phagwa* or *hori*) was brought to Trinidad by the early immigrants who used to play with dirt and water on the first day and on the final day (on the fullmoon day of the month of Phagun around February-March of the Hindu calendar) with dry abir and coloured water. They used to visit the Indians in various plantations and later in Indian settlements. In recent years it has become a national holiday. The *Hori* or *Kabira* songs are sung to the accompaniment of *dholak* (small drum), *jhal* or *majira* and harmonium. The *chowtal* singing conpetitions are held in Aranguez and other open places and dry coloured powder or even talcum powder is thrown at one another. The ceremonial burning of the demoness Holika who tried to kill Lord Krishna, is repeated every

49. *Trinidad Guardian*, 6 July 1921, p. 6 and 26 July, 1921 p. 7).
50. *Trinidad Guardian*, 10 Sept 1921, p. 6.
51. *POS Gazette*, 6 Aug. 1897,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

year.[52] *Abir* is played in the villages with "Joking" relations like sister-in-law, brother in law, etc. and there is great fun.[53]

A festival like Makar Sankranti was celebrated around January upto the early sixties with ritual bathing, *mela* (fair) and bazar, but now it has disappeared. However, Ramanavami, the birth day of Rama, in March-April has survived. In 1940 the Sanatan Dharma Sudhar Sabha organised this festival on a grand scale.[54] Now it is usually confined to individual homes and temples.

Shivaratri was also a big festival in the past. The Sanatan Dharma Sudhar Sabha of San Juan organised it in all the Shivalas of Trinidad in February 1939[55], but now it is confined to a few temples only. The younger generation of Indians know little about the significance of this day.

Katik-ke-nahan, the ceremonial bathing in the sea on the last day of the month of Kartik (Katik), is still retained by the Hindus. *Pitri Paksha* (*Pitar pakh*) is the fortnight around August-September when the departed souls of the ancestors are offered oblations. Lord Ganesh is worshipped on special occasions. The ceremonial reading of the Ramayan or the Bhagawat Puran for a week or ten days has always been popular in Trinidad.[56] In some areas the Ramayan Satsang is arranged every Thursday or Saturday night, the Hanuman *puja* on Saturdays and the Suryanarayan *puja* every Sunday morning.

---

52. See N. K. Bose, "The spring Festival of India" in *Culture and Society in India*, London, 1967, pp. 36-85.
53. Klass, *op. cit.*, pp. 166-168.
54. *POS Gazette*, 21 April 1940, p. 16.
55. *POS Gazette*, 12 Feb. 1939; *Trinidad Guardian*, 10 Oct. 1946; *POS Gazette*, 8 Feb. 1947 : Thousands of Hindus from all over Trinidad assembled at the Springville temple. The Shiva Purana was read, a sacred drama was staged and *chowtal* singing was arranged.
56. A and J. Niehoff (op. cit. p. 123 (confuses the Bhagwat Purana with the Bhagwadgeeta. These are two of the most important Hindi scriptures. The Bhagwat Purana says that Vishnu is the sole sustainer and controller of the world. He appears in this world as an *avatar* (manifestation or incarnation) in a crisis. This idea is also contained in the Shrimadbhagwadgeeta popularly called Geeta or Gita.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The cow, the *tulasi* (basil) plant or leaf, the *peepal* and *bel* leaves and trees, *aak* and *dhatura* flowers for Shiva worship-these are sacred for the Hindus of Trinidad. These can be found in the backyards of many Hindus. Among the Sanatanists the *vedi* (altar) is made for certain ceremonies, a *kalsa* (pot) with water and mango twig is placed in the centre and *guru puja* (worship of the priest-teacher) is done with due devotion. The priest is sometimes called the god father as among the Christians.

The Arya Pratinidhi Sabha celebrates the Rishibodh-utsava (the enlightenment of Swami Dayanand Saraswati in India in the nineteenth century) and *Rishi-nirvana diwas*[57] (the death anniversary of this *Swami*) every year.

The Kabirpanthis and Shivanarayanis also celebrate their festivals and ceremonies under the guidance of their priests with due solemnity. However, there are no augharpanthis in the island. The new groups like the Divine Life Society and Satsai Baba are also gaining followers.

In the earlier days some Hindus who suffered from an inferiority complex, changed their names. Thus Hari became Harry. But in recent years there is a tendency to give the traditional Hindu names to their children. Thus the names connected with Rama, Vishnu, Shiva, Krishna, etc, are very common. So also the female names like Sita (Siya), Lakshmi (Lachmi), Rukmini (Rukminiya), Gomati, Gangadeyi, Yamuna, etc, are preferred.

Thus Hinduism has survived in Trinidad in the face of many onslaughts. Even as late as the 1950s the Hindus of the rural areas were unaffected by the creolising process. They refused to give up their traditional norms and values. This was the time when the Peoples National Movement of Eric Williams attacked the Hindu Mahasabha of Trinidad as a communal organisation. He also tried to win over the Hindus of the towns and some Arya Samajists in the name of secularism and inter racial unity.

---

57. *POS Gazette*, 17 July 1938, p. 16. A. C. Rienzi, an eminent leftist labour leader of Trinidad, Dayanand Pyarelal Pandit of Surinam, Ranjit Kumar, an Engineer from India working in Trinidad, Chanka Maharaj, a wrestler turned legislator, C. B. Mathura and others subscribed to the programme and policy of the Arya Pratinidhi Sabha : to attack the caste system, unnecessary rituals, idol worship and superstitions.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

But the leaders like Bhadase Maharaj, Simbhoonath Capildeo, Omah Maharaj and the priests were not impressed. True, the infighting has continued specially after the death of Bhadase Maharaj and Rudranath Capildeo and for sometime in the late 1970s there was a vigilantes pressure group in the south.

Today the Hindu of Trinidad has got a new self-confidence. Almost every Hindu family has a favourite god and/or goddess to worship, a priest as a philosopher and guide and a *kirtan* or *bhajan mandali* to bank upon in times of need. Perhaps V. S. Naipaul was wrong in describing the Indians of Trinidad as peasant-minded, money-minded and spiritually static because they had been cut off from their roots. It is true that there has been some acculturation here and there and a young Hindu finds himself in a dilemma between tradition and modernity, but it is not proper to say that Hindu rites have no philosophy behind them or that popular Hinduism is no good compared to the fundamentals of this religion. Uudoubtedly Hinduism in Trinidad has a bright future.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिभद्रसूरिकृत अष्टक-प्रकरण : एक मूल्यांकन

डा० प्रेम सुमन जैन*

आचार्य हरिभद्रसूरि जैनाचार्यों की परम्परा में कथाकार, दार्शनिक एवं व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने उनका समय ७३० ई० से ८३० ई० के बीच माना है।[१] अतः आठवीं शताब्दी के एक समर्थ जैनाचार्य के रूप में आचार्य हरिभद्रसूरि को स्मरण किया जाता है। इनके जीवन में दर्शन, साहित्य और धर्म की त्रिवेणी समायी हुई है। इनके कुछ ग्रन्थों में जो प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं उनसे ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधर गच्छ के साधु थे। उनके दीक्षा गुरु का नाम जिनदत्त एवं धर्ममाता का नाम साध्वी याकिनी महत्तरा था।[२] उनका कार्यक्षेत्र राजस्थान और गुजरात था। उन्होंने चित्तौड़गढ़ को अपना प्रमुख कार्यक्षेत्र बनाया था।

आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों की अंतिम गाथा या श्लोक में 'भवविरह' अथवा 'विरहांक कवि' शब्दों का प्रयोग मिलता है। अतः विद्वानों ने इन शब्दों को कवि के नाम के साथ जोड़कर उनकी उपाधि के रूप में प्रसिद्ध किया है।[3] प्रस्तुत 'अष्टक-प्रकरण' नामक रचना इसी "विरह" शब्द के कारण हरिभद्रसूरि के साथ जुड़ी हुई मानी जाती है।[४] इस तथ्य को ग्रन्थ के टीकाकारों—जिनेश्वरसूरि एवं अभयदेवसूरि ने भी स्वीकार किया है। हरिभद्रसूरि के दार्शनिक ग्रन्थों में अष्टक-प्रकरण को गिना जाता है। इस ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं कोई टीका आदि नहीं लिखी है।

अष्टक-प्रकरण संस्कृत भाषा में लिखा गया है। इसमें आठ-आठ श्लोकों के ३२ प्रकरण हैं। प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा में इसे आदि प्रकरण कह सकते हैं। क्योंकि हरिभद्र के पूर्व इस विधा की रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं। न्याय एवं दर्शन के क्षेत्र में अवश्य कुछ द्वात्रिंशिकाएँ लिखी गयी हैं। हरिभद्र ने इस रचना में धर्म, दर्शन, चरित्र सभी को मिला दिया है। फुटकर विषय होने के कारण इन अष्टकों को प्रकरण कहा गया है। यद्यपि सूक्ष्मता से देखने पर सभी अष्टक एक-दूसरे से जुड़े हुए भी हैं।

---

* विभागाध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

१. मुनि जिन विजय, (क) 'हरिभद्राचार्यस्य समय-निर्णयः' नामक निबन्ध। (ख) सिद्धिविनिश्चयटीका (पं० महेन्द्रकुमार) की प्रस्तावना, पृ० ५२-५४।

२. आवश्यकसूत्रटीका प्रशस्ति, पीटर्सन रिपोर्ट (थर्ड), पृ० २०२।

३. शास्त्री, नेमिचन्द्र; हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४९-५०।

४. अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम्।
विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः॥ (३२·१०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिभद्र अष्टक-प्रकरण का कई स्थानों से प्रकाशन हुआ है। अब तक निम्न संस्करणों की जानकारी मिली है :—[1]

१. यशोविजय के अष्टक-प्रकरण के साथ आगमोदय समिति, सूरत से १९१८ में मूल प्रकाशित।

२. भीमसी मानेक द्वारा गुजराती व्याख्या के साथ बम्बई से १९०० में प्रकाशित।

३. मनसुख भागु भाई द्वारा जिनेश्वरसूरि की संस्कृत व्याख्या के साथ अहमदाबाद से सं० १९६८ में प्रकाशित।

४. जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से सं० १९६८ में मूल ग्रन्थ प्रकाशित (ग्रन्थांक १५)।

५. अभयदेवसूरि की संस्कृतिवृत्ति एवं जिनेश्वरसूरि की संस्कृत व्याख्या के साथ जैन ग्रन्थ प्रकाशिक समिति, राजनगर से सन् १९३७ में प्रकाशित।[2]

६. हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय के साथ सूरत से १९१८ में प्रकाशित।[3]

७. हरिभद्र ग्रन्थ-संग्रह के साथ १९३८ में राजनगर से प्रकाशित।

अष्टक-प्रकरण के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी मिलती है।[4] इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु एवं विभिन्न अष्टकों के अनुवाद व टीका आदि के सम्बन्ध में हिन्दी या अंग्रेजी में कोई मूल्यांकन देखने को नहीं मिला। इस ग्रन्थ के टीकाकार जिनेश्वरसूरि ने सं० १०८० में जो प्रकरण के श्लोकों की संस्कृत टीका की है, वह विषय को पूर्णतया स्पष्ट करने वाली है। इस टीका में जो प्राकृत उद्धरण दिये गये हैं, उनका संस्कृत अनुवाद अभयदेवसूरि ने अपनी वृत्ति के साथ कर दिया है। इस टीका पर विचार करने के पूर्व अष्टक-प्रकरण के ३२ प्रकरणों की संक्षिप्त विषयवस्तु को यहाँ देना उपयुक्त होगा।

विषय वस्तु

१. महादेव अष्टक

जिसके संक्लेश को उत्पन्न करने वाला राग सर्वथा नष्ट हो गया है, प्राणियों में अग्नि की भांति (तापदायक) द्वेष नहीं है। सम्यग्ज्ञान को नष्ट करनेवाला एवं

---

१. वेलणकर, एच० डी०, जिनरत्नकोश, पृष्ठ १८।

२. बी० एल० इन्स्टीट्यूट आफ इण्डालाजी, दिल्ली के पुस्तकालय में उपलब्ध।

३. विन्टरनित्ज; हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, पार्ट द्वितीय, पृ० ५६१, ५८३।

४. (क) अभिधान राजेन्द्र कोष, प्रथम भाग, अहमदाबाद, १९८६, पृ० २४० (पुनर्मुद्रण)।

(ख) जैन, हीरालाल; भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ९१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशुद्धवृत्ति को प्रकट करने वाला मोह नहीं है वह तीनों लोकों में प्रसिद्ध महिमा वाला महादेव कहलाता है।[1]

जो वीतरागी, सर्वज्ञ, शाश्वतसुख का धारक, कर्मों से सर्वथा रहित एवं पवित्र है। वही सभी देवताओं का पूज्य, सभी योगियों का ध्येय एवं सभी नीतियों का जनक महादेव है।

ऐसे सद्वृत्ति वाले उस परम ज्योति के धारक को शान्ति के लिये मैं भक्तिपूर्वक नमन करता हूँ।

२. स्नान अष्टक

द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार का स्नान कहा गया है। एक बाह्य स्नान है एवं दूसरा आध्यात्मिक स्नान है। शरीर-भाग को जल आदि से जो शुद्ध किया जाता है उसे द्रव्य स्नान कहते हैं। जो व्यक्ति देवता, अतिथि की पूजा करता है, भावशुद्धि के लिये धर्माचरण करता है तथा ध्यानरूपी जल से इस जीव को कर्म-मलों से शुद्ध करता है, वह भाव-स्नान करता है।

इसीलिए परम ऋषियों के द्वारा हिंसा आदि दोषों से निवृत्ति, व्रत-शील आदि की वृद्धि करने वाले कार्यों को परम-भाव-स्नान कहा है। इस स्नान के द्वारा जीव पुनः कर्मों के मल में लिप्त नहीं होता, इसीलिए उसे पारमार्थिक रूप से 'स्नातक' कहा जाता है।

३. पूजा अष्टक

तत्वार्थ को जानने वालों ने दो प्रकार की पूजा कही है—द्रव्य एवं भाव पूजा। शुद्ध आगम मार्ग की विधि से चमेली आदि पुष्पों के द्वारा आठ कर्मों की मुक्ति के लिये जो देवता की पूजा की जाती है वह शुद्ध पूजा है, जो स्वर्ग प्रदान करने वाली है। द्रव्यों से युक्त होने से इसे द्रव्य-पूजा भी कहा जाता है। इससे पुण्य-बन्धन होता है।

किन्तु भावरूप पुष्पों के द्वारा शास्त्रोक्त गुणों सहित अहिंसा आदि पाँच व्रतों एवं गुरुभक्ति, तप, ज्ञान, इन आठ पुष्पों से जो पूजा की जाती है, वह भावपूजा है।[2] उससे कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

४. अग्निकारक अष्टक

कर्म-इंधन को सद्भाव की दृढ़ आहुति द्वारा धर्म-ध्यान की अग्नि में होम करना वास्तविक यज्ञ करना है। यह भाव अग्निकारक ज्ञान-ध्यान फल को देने वाला और मोक्षप्रदायी है।

---

१. यस्य संक्लेशजननी, रागो नास्त्येव सर्वथा।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु, शमेन्धनदवानलः॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञान च्छादनोऽशुद्धवत्तकृत्।
त्रिलोकख्यातमहिमा, महादेवः स उच्यते॥ (१. १–२)

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यंमसंगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥ (३.६)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजा आदि से विपुल राज्य मिल सकता है, लौकिक यज्ञ करने से सम्पत्ति आदि प्राप्त हो सकती है, किन्तु ये सब क्षणिक उपलब्धियाँ हैं। इन कीचड़ को पानी से धोने के स्थान पर उसका स्पर्श न करना ही ठीक है। अतः सकाम अग्नि-कार्य को न करके निःकाम अग्नि-कार्य करना चाहिये।

५. भिक्षा अष्टक

तत्वज्ञों ने तीन प्रकार की भिक्षा कही है—(१) सभी सम्पत्तियों को देने वाली, (२) पौरुष को नष्ट करने वाली एवं (३) वृत्ति-भिक्षा। ध्यान आदि से युक्त साधु अपने गुरु की आज्ञा से अनारम्भी होता हुआ जो भिक्षा ग्रहण करता है वह सर्व सम्पत्करी भिक्षा कही गयी है। शुभ आशय से अपरिग्रह की वृद्धि के लिए भ्रमर-वृत्ति के अनुसार गृही और शरीर के उपकार के लिए प्रव्रज्या-प्राप्त व्यक्ति इस भिक्षा को ग्रहण करता है।

धर्मरहित, मूढ एवं दीनता से क्षीण शरीर वाला व्यक्ति जब उदर-पूर्ति हेतु भिक्षा ग्रहण करता है तो वह भिक्षा उसके पौरुष को हीन करने वाली होती है। इसीलिए उसे पौरुषघ्नी भिक्षा कहते हैं। तथा शक्ति से रहित अन्धे, लूले, लंगड़े आदि को जीवन-दान देने के लिए जो भिक्षा दी जाती है वह वृत्ति-भिक्षा कही जाती है।

६. पिण्डविशुद्ध अष्टक

जो भोजन न स्वयं बनाया गया हो, न किसी से बनवाया गया हो और जिसमें रसों की भावना न की गयी हो वही भोजन साधुओं के लिए विशुद्ध है। साधु को दिये जाने वाले भोजन पूर्व-संकल्पित नहीं होना चाहिये। अपने भोग्य में आने वाली वस्तु में ही यथावसर भोजनदान करना चाहिये। शुभ भावना से दिया गया भोजन ही ग्राह्य होता है। इसीलिए आप्ततासिद्धि में यतिधर्म को अति दुष्कर कहा गया है।

७. प्रच्छन्न भोजन अष्टक

सर्व परिग्रह से रहित, आत्मध्यानी मुमुक्षु के लिए पुण्य आदि के परिहार हेतु विशुद्ध भोजन ही देय कहा गया है। दीन, भूखे लोगों को अनुकम्पा-पूर्वक भोजन देना पुण्यबन्ध का कारण है। अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से भोजन-दान करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। दीन आदि भूखे जनों को भोजन न देने से अप्रीति, शासनद्वेष एवं कुगति में जाने की परम्परा पैदा होती है।[1] पापबन्धन होता है। अतः प्रयत्नपूर्वक यथाशक्ति हमेशा भोजन दान करना चाहिये।

८. प्रत्याख्यान अष्टक

प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा है—द्रव्य एवं भाव प्रत्याख्यान। जैसे लोक में बिना विधि के विद्या आदि ग्रहण नहीं की जाती है कि कहीं उसका विपरीत फल न मिले, इसी प्रकार

१. अदानेऽपि च दीनादेरप्रीतिर्जायते ध्रुवम्।
ततोऽपि शासनद्वेषस्ततः कुगतिसन्ततिः॥ (७.५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपशम एवं त्याग के परिणाम आदि होने पर ही भक्ति-पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये। वीर्यभाव के न होने पर, क्लिष्ट कर्मों के उदय होने पर भी द्रव्य प्रत्याख्यान किया जा सकता है। किन्तु भाव-प्रत्याख्यान तो जिन भक्ति-पूर्वक एवं वैराग्य भाव से ही ग्रहण करना चाहिये। तभी वह सम्यकचरित्र का साधक एवं मुक्ति का साधन हो सकता है।

९. ज्ञान अष्टक

महर्षियों ने उसे ज्ञान कहा है जो विषय को प्रतिभासित करता है, आत्म-स्वभाव को जानता है एवं तत्व की अनुभूति करता है।[1] ऐसे सम्यक् ज्ञान से विष, कण्टक, रत्न आदि विभिन्न पदार्थों के स्वरूप को जानकर आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति की जा सकती है। तत्व के संवेदन से ज्ञानावरण कर्म में क्षीणता आती है। अतः श्रद्धापूर्वक ज्ञान की आराधना करनी चाहिये।

१०. वैराग्य अष्टक

वैराग्य तीन प्रकार का कहा गया है—आर्तध्यान, मोहगर्भ तथा सद्ज्ञानसंगत। आर्त-ध्यान नामक वैराग्य प्रायः अनिष्ट वियोग के कारण से होता है। इससे उद्वेग, आत्मघात आदि की प्राप्ति होती है। अतः ऐसे वैराग्य से बचना चाहिये। आत्मा एक है, नित्य है, सर्वथा बद्ध है इत्यादि एकान्तिक मतों के मोह से जो वैराग्य होता है वह मोहगर्भ वैराग्य है। ऐसे वैराग्य से आत्मा जन्मान्तरों में अनेक कष्ट भोगता रहता है। तत्वों के यथार्थ दर्शन से जो वैराग्य होता है वह सद्ज्ञानसंगत वैराग्य है। वही सिद्धि का परम साधन है।

११. तपोविचार अष्टक

कुछ लोग कहते हैं कि तप दुःखात्मक ही होता है, उनका ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि दुःख आदि तो कर्मों के अधीन हैं, तप के कारण नहीं। जिस तप में मन-इन्द्रिय आदि पर विजय पायी जाय वह तप आत्मा का अपकारी नहीं हो सकता। यद्यपि अनशन परीषह-सहन आदि की शरीरपीड़ा तपश्चर्या में होती है किन्तु उससे आत्मा में निर्मलता आती है। अतः विशिष्ट ज्ञान, वैराग्य एवं समता व शमन भाव जहाँ होता है वह तप क्षायोपशमिक होता है और निर्बाध सुख को देने वाला होता है।

१२. वाद-अष्टक

परम ऋषियों ने शुष्कवाद, विवाद एवं धर्मवाद के भेद से तीन प्रकार के वाद कहे हैं। घमण्डी, क्रूर, मूढ़ एवं धर्म के द्वेषी व्यक्ति शुष्कवाद करते हैं। ऐसे अनर्थ को बढ़ाने वाले शुष्कवाद से बचना चाहिये। ख्याति को चाहने वाले कुछ व्यक्ति छल, जाति आदि तर्कों के द्वारा जो वाद करते हैं, उसे विवाद कहते हैं। ऐसे विवाद को नीतिपूर्वक शान्त करना चाहिये। बुद्धिशाली अपने शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता लोग परलोक की प्रधानता से माध्यस्थ भाव-

---

१. विषयप्रतिभासं चात्मपरिणतिमत्तथा।
तत्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः॥ (९.१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वक जो वाद करते हैं, वह धर्मवाद है।[1] ऐसे धर्मवाद से मोह का नाश होता है और धर्म की प्राप्ति होती है।

१३. धर्मवाद-अष्टक

सभी धार्मिक व्यक्तियों के लिये पाँच पवित्र धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (त्याग) हैं। विभिन्न प्रमाणों के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना ही धर्म है। राग से रहित धर्म को जानने वालों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक इष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाले धर्म का आचरण करना चाहिये।

१४. नित्यवाद अष्टक

आत्मा नित्य ही है ऐसा जिनका एकान्तिक दर्शन है उनके हिंसा आदि वृत्तियाँ कैसे जुड़ेंगी ? यदि वह आत्मा निष्क्रिय है तो मरने वाला और मारने वाला अथवा जन्म लेने वाला आदि क्रियाएँ कैसे जुड़ेंगी। इस सबके अभाव में अहिंसा एवं सत्य आदि का सद्भाव नहीं हो सकेगा। इसी तरह आत्मा सर्वगत है, धर्म से ऊर्ध्वगति होती है, अधर्म से अधोगति होती है, ज्ञान से मोक्ष होता है, आदि वचन सब औपचारिक हैं। निष्क्रिय के भोग आदि भी नहीं हो सकते हैं। अतः क्रिया भी आवश्यक है।

१५. क्षणिकवाद अष्टक

यदि क्षणिकज्ञान की संतति मानी जाय तो आत्मा के विषय में असंशय उत्पन्न होता है। स्वसिद्धान्त के विरोध से हिंसा आदि कार्य भी घटित नहीं होते। और न ही हिंसा से विरतभाव हो सकता है। अतः क्षणिकवाद या अनित्यता का सिद्धान्त भी वस्तु के सही स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाता।

१६. नित्यानित्यपक्ष-मण्डन या अनेकान्तवाद अष्टक

हिंसा आदि कार्यों में विरोध उत्पन्न होने के कारण आत्मा में नित्य-अनित्य, देह से भिन्न-अभिन्न ये दोनों स्थितियाँ घटित होती हैं। ऐसा अनेकान्तवाद मानने से हिंसक के जीवन में सदुपदेश आदि से शुभभावों का बन्ध एवं अहिंसा की प्रतिष्ठा हो सकती है। अहिंसा स्वर्ग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाली है। इसके संरक्षण के लिये सत्य आदि का पालन किया जाता है।[2] अनेकान्तवाद में ही सभी प्रमाणों एवं नयों की प्रतिष्ठा है। अतः अन्तरात्मा का साक्षात्कार करना चाहिये।

---

१. परलोक प्रधानेन; मध्यस्थेन तु धीमता।
स्वशास्त्रज्ञाततत्वेन, धर्मवाद उदाहृतः ॥ (१२.६)

२. अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ (१६.५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७. मांस-भक्षण दूषण अष्टक

कुछ तार्किक कहते हैं कि भात आदि की तरह मांस भी प्राणियों के लिये भक्षणीय है। किन्तु भक्ष्य, अभक्ष्य की व्यवस्था शास्त्र और लोक में की गयी है। गाय का दूध भक्ष्य है, रुधिर भक्ष्य नहीं है। स्त्रीपना माता और पत्नी में समान होने पर भी दोनों एक व्यक्ति की भोग्या नहीं होती। अतः शास्त्र और लोक के व्यवहार को देखकर बुद्धिमान लोग हमेशा मांस-भक्षण का निषेध करते हैं। इतना विवेक न हो तो मांस-भक्षी पागल की तरह व्यवहार करता है।

१८. मांस-भक्षक मत-दूषण अष्टक

मांस-भक्षण के पक्ष में जो तर्क एवं शब्दार्थ कुछ लोग प्रस्तुत करते हैं, उनके मत में ही पूर्वापर विरोध होता है। कभी वे कहते हैं कि इस जन्म में दोष है तो कभी कहते हैं कि शास्त्रों से बाह्य है—मांसभक्षण में दोष। अतः ऐसे अनिश्चित मत वालों के कहने से मांस-भक्षण को निर्दोष नहीं मानना चाहिये। मांस-भक्षक अनेक जन्मों तक पशु-योनि पाकर दुखी होता है।

१९. मद्यपान-दूषण अष्टक

मद्यपान में बेहोशी के दोष के साथ-साथ जीवों के नाश का भी प्रत्यक्ष दोष है। मद्य-पान में प्रत्यक्ष दोष दिखाई देते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भी इसके कई दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। सुना जाता है कि महातपस्वी, ज्ञानी कोई ऋषि स्वर्ग की अप्सरा की प्रेरणा से मद्यपान करके मृत्यु को प्राप्त हुआ। मद्यपान के द्वारा कोई ऋषि अपने तप से भ्रष्ट होकर हिंसा, अब्रह्म आदि का सेवनकर नरक में गया। अतः मद्य को सभी दोषों की खान मानकर त्यागना चाहिये।

२०. मैथुन-दूषण अष्टक

राग से ही मैथुन-दोष में व्यक्ति लगता है। अतः शास्त्र में मैथुन-निषेध की बात कही गई है। धर्म, अर्थ एवं पुत्र की कामना से स्व-पत्नी के साथ उचित समय में समागम करने में दोष नहीं है। किन्तु इसके अतिरिक्त सर्वत्र मैथुन का निषेध किया गया है। इसे अधर्म का मूल और संसार-भ्रमण का कारण कहा गया है। अतः बार-बार मृत्यु को न चाहने वाले को विषयुक्त भोजन की तरह मैथुन को त्याग देना चाहिये।[1] राग से उत्पन्न होने वाली हिंसा जैसे दोषयुक्त है, उसी प्रकार राग से उत्पन्न मैथुन भी दोषयुक्त है। अतः त्याज्य है।

२१. सूक्ष्म बुद्धि-आश्रय अष्टक

सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा हमेशा धर्म को जानकर धार्मिक व्यक्ति आचरण करें। अन्यथा धर्म-बुद्धि ही उनकी विघातक बन सकती है। जैसे रोगी सही औषधि से ही निरोग हो सकता

---

१. मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम्।
तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं मृत्युमनिच्छता॥ (२०.८)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है उसी प्रकार सूक्ष्मबुद्धि से ही तत्व का ज्ञान हो सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ध्यान में रखकर धर्म के कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये।

२२. भावशुद्धि-विचार अष्टक

भाव-शुद्धि शास्त्रवत फल को देने वाली है। राग, द्वेष, मोह आदि कषाय भावों को मलीन करने वाले हैं। मोह होने से व्यक्ति आग्रही बन जाता है, जिससे वह परमार्थ को नहीं जान पाता। अतः आत्मा-साक्षात्कार के इच्छुक व्यक्ति को दीक्षा, दान आदि सभी कार्यों में भावशुद्धि को महत्व देना चाहिये। भावशुद्धि से स्व-पर का विवेक जागृत होता है, दुराग्रह का नाश होता है।

२३. शासन-मालिन्य निषेध अष्टक

जो व्यक्ति अपने धर्म-शासन में मलीनता लाता है वह दूसरे प्राणियों में भी मिथ्यात्व फैलाने में कारण बनता है। शासन-मालिन्य से सब प्रकार के अनर्थ होते हैं। अतः प्रयत्नपूर्वक पाप के साधनभूत शासन-मालिन्य को दूर करना चाहिये।

२४. पुण्यापुण्य-विचार अष्टक

जैसे मनुष्य एक घर से दूसरे घर में क्रमशः अधिक सजावट करता है, वैसे ही अच्छे धर्म से एक जन्म से दूसरा जन्म अधिक सुघरा हुआ होता है। किन्तु महापापों से यही उल्टा होता है। अतः पुण्य-कर्मों को ही करना चाहिए जो सब सम्पदाओं को देने वाले हैं। जीवों पर दया, विधिवत् गुरू-पूजन, विशुद्ध शील आचरण एवं वैराग्यवृत्ति पुण्य-कर्मों को बाँधने वाले कार्य हैं।[1]

२५. पुण्य-फल अष्टक

पुण्य-फल उचित प्रवृत्तियों से प्राप्त होते हैं। जैसे व्यक्ति गृहस्थ जीवन में माता-पिता की सेवा कर उन्हें सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक को अपने गुरु की सेवा कर उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये। गुरु-सेवा करने वाला व्यक्ति लोक में कृतज्ञ, पुण्यवान, धर्म-पूजक आदि कहा जाता है।

२६. तीर्थ-दान अष्टक

तीर्थंकर को जगत्गुरु कहा गया है। उनके द्वारा दिया गया दान महादान है। इसकी महिमा करोड़ो सूत्रों में कही गयी है। किन्तु कुछ लोग जो इसमें शंका करते हैं, वह ठीक नहीं है।

२७. तीर्थंकृद्दान शंकापरिहार अष्टक

कुछ लोग यह कहते हैं कि जो जन्म से ही मोक्षगामी निश्चित हैं, उन्हें दान देने की क्या आवश्यकता है? किन्तु तीर्थंकर तो सबके प्रति अनुकम्पा और शुभ आशय से दान में प्रवृत्त होते हैं। जैसे भगवान् महावीर ने देवदूष्य का आधा भाग दान किया था।

---

१. दया भूतेषु वैराग्यं विधिवद् गुरुपूजनम्।
विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः॥ (२४.८)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२८. तीर्थंकृतां राज्यादिदान परिहार अष्टक

तीर्थंकरों द्वारा अपने गृहस्थ जीवन के राज्य आदि को त्यागना या दान दे देना दोष-युक्त नहीं है। क्योंकि यह लौकिक व्यवस्था है। इससे जीवों की रक्षा में सहयोग होता है।

२९. सामायिक अष्टक

सामायिक मोक्ष का अंग है। सर्वज्ञ के द्वारा इसे वासीचन्दन की तरह की तरह सर्व-श्रेष्ठ कहा गया है। सामायिक दोषमुक्त और सभी योगों को शुद्ध करने वाली है। लोकदृष्टि से सामायिक चित्त को प्रसन्न बनाती है और मोह को दूर कर सद्बुद्धि प्रदान करती है। बौद्ध-परम्परा में जो कुशलचित्त को निर्वाण का अंग कहा है, उसमें जो दोष है उसकी ओर भी यहाँ संकेत किया गया है।

३०. केवलज्ञान अष्टक

सामायिक से विशुद्ध, घातिया कर्मों से रहित आत्मा लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त करती है।[1] आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा रत्न की तरह स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो केवलज्ञान में न झलकती हो। यहाँ विभिन्न प्रकार से केवलज्ञान का स्वरूप कहा गया है।

३१. तीर्थंकर देशना अष्टक

तीर्थंकर नामकर्म के उदय से वीतराग प्रभु धर्मदर्शन में प्रवृत्त होते हैं। वे संसार के अज्ञानी जीवों को सद्धर्म में लगाते हैं। उनका एक-एक वचन हितकारी होता है। यदि कोई अभव्य उनकी देशना से लाभान्वित न हो तो इसमें भगवान् का दोष नहीं है। जैसे सूर्य प्रकाशित होकर सबका अन्धकार दूर करता है, किन्तु उल्लू सूर्य के प्रकाश को नहीं देख पाता। अतः तीर्थ-देशना जीवों के लिये आज भी आनन्ददायक है।

३२. मोक्षस्वरूप अष्टक

मोक्ष जन्म-मृत्यु से रहित, सभी बाधाओं से मुक्त, पूर्णतः सुखकारी एवं सर्वथा कर्मों से रहित अवस्था है। यहाँ पर न कोई दुःख है, न कोई अभिलाषा है, न कोई हीनता है, अतः वह परमपद है। कुछ लोग मोक्ष के सुख की लौकिक-सुख के साथ तुलना करके अनेक तर्क देते हैं; वह ठीक नहीं है। मोक्ष का सुख तो योगियों के द्वारा ही संवेद्य है। उसको व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

मूल्यांकन

अष्टक-प्रकरण की उपयुक्त विषयवस्तु को देखने से ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ने अपने समय में धार्मिक जीवन में उपस्थित होने वाले सभी प्रश्नों को इसमें समेट लिया है।

---

१. सामायिक विशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ॥ (३०.१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धार्मिक आचरण के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि हम किसकी आराधना करें ? हमारा जो आराध्य हो वह देव कैसा हो ? इसीलिए आचार्य ने सर्वप्रथम महादेव अष्टक लिखा। फिर उसकी पूजा-विधि बतलाई। पूजा करने वालों की सार्थकता यह है कि वह अपने आराध्य जैसा बनने का प्रयत्न करें। अतः इसके लिये साधु-जीवन की श्रेष्ठता की बात कही गयी और उसकी चर्या में भोजन-विवेक एवं प्रत्याख्यान आदि का निरूपण किया गया।[1] भक्ति, श्रद्धा, दर्शन आदि के अन्तर्गत समाहित होने वाले विषय प्रथम आठ अष्टकों में वर्णित हैं।

इसके बाद के आठ अष्टकों में ज्ञान-मीमांसा का निरूपण है। ज्ञान, वैराग्य, तप आदि के निरूपण के बाद विभिन्न मत-मतान्तरों की चर्चा इसमें की गयी है। एकान्त नित्यवाद, क्षणिकवाद, वाद, विवाद, धर्मवाद आदि के स्वरूप स्पष्ट कर अन्त में अनेकान्तवाद की व्याख्या की गयी है। अनेकान्तवाद ज्ञान-मीमांसा की पराकाष्ठा है। यहाँ तक प्राप्त वैचारिक उदारता चारित्र में उतारनी चाहिये।

सत्रह से २४वें अष्टक तक आचार्य हरिभद्रसूरि ने चारित्र धर्म की व्याख्या की है। अहिंसा आदि पाँच व्रतों के परिपालन के प्रसंग में मांस-भक्षण के दोष, मद्यपान से हानि, मैथुन-सेवन से मर्यादा का अतिक्रमण आदि का विवेचन व्यक्ति के चरित्र को निर्दोष बनाने के लिये हैं। यह सब ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से आ सकता है। इसमें भावों की शुद्धता का होना आवश्यक है। इस प्रकार के चरित्र से ही जिन शासन का मालिन्य दूर हो सकता है।

पच्चीसवें से अन्तिम बत्तीसवें अष्टक में आचार्य ने कुछ सम-सामयिक चर्चाओं को उठाया है। किन कर्मों से पुण्य का अर्जन होता है, किन से पाप का, इसकी भेद रेखा खींची गयी है। पुण्य कर्मों का ही फल है कि तीर्थंकर बनने का सुअवसर मनुष्य को मिलता है। इस प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने भगवान महावीर के जीवन के कुछ प्रसंगों को उपस्थित किया है। उनके द्वारा किये गये महादान-सम्बन्धी प्रश्नों का यहाँ समाधान किया गया है। फिर सामायिक के माध्यम से केवल ज्ञान की प्राप्ति, धर्मदेशना एवं मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने इस छोटी सी रचना में सम्पूर्ण रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को उपस्थित कर इनके समन्वित प्रयत्न के रूप में मोक्ष का विवेचन कर दिया है।[2] ग्रन्थ के अन्त में कवि ने अपने स्वार्थ की कोई बात नहीं कही। वह लोक-कल्याण की ही कामना करता है। कवि की भावना है कि "पाप के विरह से अष्ट-प्रकरण को रचकर जो पुण्य अर्जित किया गया है उसके द्वारा जगत के लोग सुखी हों"—

अष्टकाख्यं प्रकरणं कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम्।
विरहात्तेन पापस्य भवन्तु सुखिनो जनाः॥

१. एतद्विपर्ययाद् भाव-प्रत्याख्यानं जिनोदितम्।
सम्यक्चारित्ररूपत्वान् नियमान्मुक्तिसाधनम्॥ (८.७)

१. कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो, जन्ममृत्य्वादिवर्जितः।
सर्वबाधाविनिर्मुक्त, एकान्तसुखसंगतः॥ (३२.१)

१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस श्लोक में प्रयुक्त "विरहात्" शब्द के श्लेष द्वारा कवि ने अपनी "विरहांक" उपाधि की ओर भी संकेत कर दिया है। यद्यपि जिनेश्वरसूरि की मूल टीका में इस श्लोक के न पाये जाने का उल्लेख अभयदेवसूरि ने किया है। इससे हरिभद्र की रचनाओं में अष्टकप्रकरण को जोड़ने में प्रश्नचिन्ह तो लगता है।

टीका का वैशिष्ट्य

अष्टक प्रकरण पर जो जिनेश्वरसूरि की संस्कृत टीका है, वह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। हरिभद्रसूरि के इस २५६ श्लोकों वाले ग्रन्थ पर जिनेश्वरसूरि ने जो टीका लिखी है वह ३३ सौ श्लोक-प्रमाण है। श्री विजयोदयसूरि ने इसका सम्पादन कर २११ पृष्ठों में पत्राकार में इसे प्रकाशित किया है। इस टीका में जिनेश्वरसूरि का पाण्डित्य स्पष्ट झलकता है। यह टीका स्वयं स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। इसकी कतिपय विशेषताओं का यहाँ ध्यातव्य हैं।

१. इस टीका में दशवेंकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, व्यवहारचूर्णि, उपदेशमाला, ऋग्वेद, महाभारत आदि ग्रन्थों के नाम देकर उनसे उद्धरण दिये गये हैं। किन्तु बिना सन्दर्भ दिये कई महत्वपूर्ण उद्धरण-अंश भी इसमें उपलब्ध हैं।

२. टीकाकार ने अपनी व्याख्या के समर्थन में १५२ प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं। इनके स्रोतों को खोजने से कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं।[1]

३. इन सब प्राकृत गाथाओं एवं गद्यांशों का संस्कृत अनुवाद अभयदेवसूरि ने प्रस्तुत किया है। यह सामग्री संस्कृत-छाया के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

४. इस टीका में विभिन्न प्रसंगों में निम्नांकित दृष्टान्त-कथाओं का संकेत किया गया है। कथा साहित्य की दृष्टि से यह सामग्री नयी सूचनाएँ दे सकती है—

द्रष्टान्त-कथा-सूची

नाम अष्टक	क्रम	द्रष्टान्त-कथा	उद्देश्य
स्नान अष्टक	१	संकाश श्रावक	चैत्यद्रव्य सेवन का फल
	२	दुर्गति नारी	
	३	अंधे-लंगड़े का दृष्टान्त	
मिथ्या अष्टक	४	सारूपिक नामक सिद्धपुत्र की कथा	भिक्षा का दृष्टान्त
प्रत्याख्यान अष्टक	५	अंगारमर्दक द्रव्याचार्य	अभव्य दृष्टान्त
तप अष्टक	६	रत्न-वणिक का दृष्टान्त	
मद्यपान दूषण	७	कोई एक ऋषि की कथा	मद्यपान-दूषण हेतु
सूक्ष्मबुद्धि-आश्रय	८	सुग्रीव एवं राम की कथा	सूक्ष्मबुद्धि प्रयोग

१. सम्मद्दिट्ठिस्स वि अविरयस्स न तवो महागुणो होई।
होई हु हेत्थिण्हाणं, तुंदच्छियं व तं तस्स ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शासन-मालिन्य	९	धनयज्ञ सेठ एवं उसके धनपाल और वसुपाल पुत्रों की कथा	यति के प्रति भक्ति
पुण्य फल बन्ध	१०	महावीर के जन्म की कथा	
तीर्थंकृत दान	११	महावीर के देवदूष्य महादान की कथा	दान फल
मोक्ष-निरूपण	१२	म्लेच्छ द्वारा नगर-वर्णन में असमर्थता का दृष्टान्त[1]	मोक्ष-स्वरूप में असमर्थता

५. अष्टक-प्रकरण की टीका में कई परिभाषाएँ बड़ी सटीक हैं। प्राणी को उसके ज्ञान से, चित्त से, क्रिया से और उसके प्राणों से वियुक्त करना हिंसा कही गयी है।[2]

६. टीका में व्याख्या करते समय कुछ अतिरिक्त जानकारी भी दी गई है। यथा—१२वें वाद अष्टक में कहा गया है कि धनवान, राजा, शक्तिशाली प्रतिपक्ष, गुरू, नीच व्यक्ति एवं तपस्वी के साथ वाद-विवाद नहीं करना चाहिये। मद्यपान-निषेध के प्रसंग में कहा गया है कि मद्यपान से निम्न १६ दोष हैं[3]— १—विरूपता, २—रोग-समूह, ३—स्वजनों से अपमान, ४—कार्यहानि, ५—विद्वेष, ६—ज्ञान-हानि, ७—स्मृति-हरण, ८—बुद्धि-हरण, ९—गुणों का नाश, १०—कठोरता में वृद्धि, ११—नीच-सेवा १२—कुल की हानि, १३—बल-हानि, १४—धर्म-हानि, १५—अर्थ-हानि एवं १६—काम-पुरुषार्थ की हानि। शासन-मालिन्य के प्रसंग में बताया गया है कि इन आठ लोगों से धर्म की प्रभावना हो सकती है[4]— १—प्रवचनकार, २—कथाकार, ३—तार्किक (वादी), ४—नैमित्तिक, ५—तपस्वी, ६—विद्वान, ७—सिद्ध-पुरुष एवं ८—कवि।

इस तरह अष्टक-प्रकरण आचार्य हरिभद्रसूरि की ऐसी रचना है, जो सामान्य धार्मिक जन के लिए भी उपयोगी है एवं विद्वद्जनों के लिये भी। संक्षेपवृत्तिवाला व्यक्ति प्रकरण की इतनी बातों को ही जीवन में अपना कर अपना कल्याण कर सकता है। विशेष ज्ञान वाले व्यक्ति इस ग्रन्थ की टीका से अपना ज्ञानवर्द्धन कर सकते हैं। इस ग्रन्थ का टीका सहित हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जाना चाहिये।

●

---

१. कथा-क्रम सन्दर्भ—(१) टीका पृ० ३१, (२) वही, (३) पृ० ५२, (४) पृ० ६१, (५) पृ० ७४ (६) पृ० ९९-१००, (७) पृ० १४०, (८) पृ० १५१, (९) पृ० १६४, (१०) पृ० १७२, (११) पृ० १८४, एवं (१२) पृ० २१०।

२. टीका, पृ० २०।

३. टीका, पृ० १३९।

४. पावयणी—धम्मकही वादी नेमित्तओ तवस्सी य।
विज्जा, सिद्धो य कवी अट्ठेव पभावगा भणिया॥ टीका पृ० १५९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजप्रश्नीय एवं पायासिराजञ्ञसुत्त : तुलनात्मक समीक्षा

डॉ० कोमलचन्द्र जैन*

राजप्रश्नीय जैनागमों में समाविष्ट १२ उपांगों में दूसरा उपांग है और पायासिराजन-सुत्त बौद्ध आगम के रूप में स्वीकृत त्रिपिटक के अन्तर्गत सुत्तपिटक के दीघनिकाय का २३वाँ सुत्त है।[1] उक्त दोनों सुत्तों की तुलनात्मक समीक्षा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि बौद्ध और जैन आगमों की पूर्वापरता पर कुछ कह दिया जाय।

भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध दोनों ही महापुरुष समकालीन थे। इन्होंने अपने उपदेश लौकिक भाषा में दिये थे। परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर तथा भगवान् बुद्ध का निर्वाण, क्रमशः ईसापूर्व ५२७ तथा ४८५ के लगभग हुआ था।[2] निर्वाण के अनन्तर उनके अनुयायियों के अपने-अपने शास्ता के उपदेशों को सुरक्षा के लिए पूरी निष्ठा से कार्य किया था। मौखिक परम्परा में सुरक्षित बुद्ध के वचनों को ईसा के लगभग तथा महावीर की वाणी को ईसा की पाँचवीं सदी में अन्तिम रूप देकर उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया[3] और यही बौद्ध और जैन आगमों के नाम से विख्यात हैं।

चूंकि उक्त बौद्धागम एवं जैनागम का मूलस्रोत क्रमशः भगवाम् बुद्ध एवं भगवान् महावीर के धर्मोपदेश थे और वे दोनों ही महापुरुष श्रमण परम्परा के पोषक थे, अतः बौद्ध और जैन आगमों में निहित श्रमण परम्परा के आदर्श लगभग एक जैसे हैं। उदाहरणस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, एवं परिग्रह से विरति, सभी प्राणियों में समता का भाव, जन्मना जातिवाद का खण्डन, ब्राह्मणों के यज्ञों में व्याप्त दोषपूर्ण आडम्बरों का प्रतिवाद आदि दोनों ही आगमों में दृष्टिगोचर होते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन आगमों में मानव के उन गुणों का निरूपण है जो उसके वैयक्तिक स्वार्थ से भिन्न हैं।

इतना सब होने पर भी दोनों आगमों के लेखन कालों के मध्य विद्यमान ५०० वर्षों के अन्तराल ने इनमें उल्लेखनीय वैषम्य उत्पन्न कर दिया है। इस वैषम्य का अनुभव बौद्ध और जैन आगमों में विद्यमान समाज सम्बन्धी चित्रणों से सहज ही में किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप बौद्धागमों से ज्ञात होता है कि पुत्री का जन्म सामरिक वातावरण के कारण

---

* काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. देखिये दीघनिकायपालि (नालन्दा) खण्ड २, पृ० २३६-२६१।

२. देखिये हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (विन्टरनित्स), खण्ड २, पृ० १ तथा ६१४।

३. वही, पृ० ८ तथा ४३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तम नहीं माना जाता था[१], कन्या के अल्पायु में विवाह का प्रचलन था[२], काशी के बने वस्त्रों को अधिक पसन्द किया जाता था[३] तथा गणिकाएँ वेश्याओं से भिन्न समाज की एक प्रतिष्ठित इकाई थी।[४] इसके विपरीत जैनागमों से ज्ञात होता है कि समाज में पुत्री का जन्म खेदजनक नहीं था[५], कन्याओं का अल्पायु में विवाह का प्रचलन लगभग समाप्त हो गया था[६], प्रसाधन की दृष्टि से चीन के बने वस्त्र अधिक पसन्द किये जाते थे[७] तथा गणिका वेश्याओं के प्रमुख के रूप में ही रह गयी थी।[८] बौद्ध और जैन आगमों में विद्यमान इस प्रकार के समाज सम्बन्धी विषमता से परिपूर्ण चित्रणों से यह स्पष्ट है कि इन आगमों में लेखनकाल तक के कुछ अर्वाचीन अंश भी संकलित हो गये हैं और यही वह कारण है जिससे बौद्ध और जैन आगमों में असमानता दिखायी देती है।

बौद्ध और जैन आगमों में उक्त असमानता के बावजूद कहीं-कहीं अत्यधिक साम्य भी उपलब्ध होता है। दो पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के आगम-ग्रन्थों में, जिनके लेखनकाल में लगभग ५०० वर्षों का अन्तराल है, इस प्रकार का साम्य दो में से किसी एक कारण से हो सकता है—पहला यह कि उन दोनों साम्य-स्थलों का मूलस्रोत एक ही हो तथा दूसरा यह कि अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के कारण किसी एक ने दूसरे की विषयवस्तु को ग्रहण कर लिया हो। राजप्रश्नीय सूत्र एवं पायासिराजञ्ञसुत्त में राजा पएसी या पायासी द्वारा अपनी नास्तिक दृष्टि का परित्याग सम्बन्धी जो साम्य उपलब्ध होता है, उसके सम्बन्ध में यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या पएसी राजा की कथा का स्रोत एक है अथवा यह किसी एक मत की विषयवस्तु थी और उसे दूसरे ने ग्रहण कर लिया है ? इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करने से पूर्व राजप्रश्नीय एवं पायासिराजञ्ञसुत्त में उपलब्ध विषयवस्तु संक्षेप में प्रस्तुत कर देना आवश्यक है।

राजप्रश्नीय में पएसी राजा का पार्श्वापत्य केशी कुमार से जीव और शरीर जुदा-जुदा है या दोनों एक—इस पर वार्तालाप है।[९] पएसी राजा शरीर और जीव को एक मानता है। शरीर के नष्ट होते ही शरीर के अन्दर जीव की अनुभूति वाला पदार्थ भी नष्ट हो जाता है। वह केशी कुमार से अपने मत की पुष्टि के लिए तर्क प्रस्तुत करता है कि "मैं अपने दादा

---

१. संयुत्तनिकायपालि १.८५।
२. या पन भिक्खुनी ऊनद्वादसवस्सं गिहिगतं वुट्ठापेय्य······पाचि०, पृ० ४४१।
३. कासिकुत्तमधारिनि। थेरी० १३.३.२९९।
४. दीघनिकायपालि। २.७६–७८।
५. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन, पृ० १६।
६. उम्मुक्कबालभावं······सरिव्वयाणं कन्नाणं पाणि गिण्हाविंसु। नाया १.१.२४।
७. चीणंसुयवत्थपरिहिया·······आचा० २.५.१.३६८; भगवती–९.३३।
८. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन, पृ० १५८।
९. राजप्रश्नीय, पृ० १६६–१८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं दादी का लाड़ला पोता था। दादा अधार्मिक था और दादी धार्मिक। यदि शरीर और जीव अलग-अलग हैं तो दादा को मरकर नरक में उत्पन्न होना चाहिये और दादा को स्वर्ग में। ऐसी स्थिति में दादा नरक से आकर मुझे सचेत करते कि अधर्म मत करो और दादी स्वर्ग से आकर मुझे धर्म करने के लिए प्रेरणा देती। किन्तु मरने के बाद मेरे पास न दादा आये और न दादी। अतः मैं समझता हूँ कि शरीर और जीव एक है अलग-अलग नहीं।" केशी कुमार ने राजा पएसी को समझाया कि नरक में दुःख भोगते रहने के कारण और स्वर्ग के के काम-भोगों का त्यागकर न आ सकने के कारण ही आप दादा-दादी आपके पास नहीं आये हैं।[1]

राजा पएसी अपने मत की पुष्टि में दूसरा तर्क देता है कि मरने के समय जीव को निकलते हुए नहीं देखा जाता है और उत्पन्न होने वाले कृमि आदि के जीव को बाहर से आते हुए भी नहीं देखा जाता है। इसके उत्तर में केशी कुमार ने उदाहरण देते हुए बताया कि जीव किसी भी आवरण को भेदकर बाहर आ जा सकता है।[2]

राजा पएसी जीव और शरीर के एक होने की पुष्टि में पुनः तर्क प्रस्तुत करता है कि चूंकि मनुष्य की धनुर्विद्या में कुशलता बाल्यावस्था एवं तरुणावस्था में भिन्न-भिन्न होती है एवं तरुणावस्था एवं वृद्धावस्था में भार-वाहन करने की क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है अतः शरीर से जुदा जाव को मानना ठीक नहीं है। इसके उत्तर में केशी कुमार ने कहा कि धनुर्विद्या को कुशलता अथवा भारवाहन करने की क्षमता में भिन्नता शरीर रूपी उपकरण के कारण ही हाता है।[3] अन्य तर्कों के समाधान स्वरूप केशी कुमार ने बताया कि जीवित एवं मृत अवस्था के शरोर के वजन में अन्तर न आने का कारण जीव का अगुरलघु गुण है।[4] जीव दिखायी इसलिए नहीं देता क्योंकि हम लोग अल्पज्ञानी हैं।[5] जिस प्रकार अल्पज्ञानी आग बुझ जाने पर लकड़ियों को घिसकर आग उत्पन्न करना नहीं जानता है, उसी प्रकार हम लोग भी जाव को निकलते हुए नहीं देख पाते हैं।[6] हाथी एवं कोड़ा में एक समान जीव होता है जिस प्रकार कूटागार शाला में रखे गये तथा थाली से ढककर रखे गये दीपकों के प्रकाश में विस्तार एव सकोच देखा जाता है उसी प्रकार हाथी के शरीर में आत्मप्रदेशों का विस्तार एवं कीड़े के शरीर मे आत्मप्रदेशों का संकोच होता है।[7]

---

१. राजप्रश्नीय, पृ० १६६–१७०।
२. वही, पृ० १७१–१७४।
३. वही, पृ० १७५–१७८।
४. वहीं, पृ० १७९।
५. वही, पृ० १८०–१८२, १८६।
६. वही।
७. राजप्रश्नीय, पृ० १८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केशी कुमार के प्रश्नों से सन्तुष्ट होकर राजा पएसी अपनी एवं जीव को एक मानने वाली बुद्धि का त्यागकर श्रमणोपासक बन जाता है।

इसी विवेचन को दीघनिकाय के पायासिराजञ्ञसुत्त में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

उस समय पायासी राजन्य को इस प्रकार की बुरी धारणा उत्पन्न हुई थी कि यह लोक भी नहीं है, परलोक भी नहीं है, जीव मरकर पैदा नहीं होते और बुरे कर्मों का कोई फल नहीं होता है।[1] एक बार वह श्रमण गौतम के शिष्य श्रवण कुमार कस्सप के पास जाता है और उन्हें अपने सिद्धान्त की जानकारी देता है। अपने सिद्धान्त की पुष्टि में वह पहला तर्क प्रस्तुत करता है कि मरे हुए लौटते नहीं हैं। जो अधार्मिक या धार्मिक पुरुष मरणासन्न होते थे, पायासी राजन्य ने उनके पास जाकर कहा था कि यदि आप नरक या स्वर्ग में उत्पन्न हो तो आकर उसे अवश्य बता दें किन्तु मरने के बाद कोई भी व्यक्ति उसके पास नहीं आया है। पायासी के तर्क का खण्डन करते हुए कुमार कस्सप कहते हैं कि नरक में उत्पन्न जीवों को यमों से यह आकर बताने की छुट्टी नहीं मिल सकती है तथा स्वर्ग में उत्पन्न देवों को मनुष्य योनि अपवित्र एवं दुर्गन्ध से युक्त होती है। अतः नरक या स्वर्ग में उत्पन्न जीव ने आकर आपको सूचना नहीं दी है।[2]

पायासी अपने सिद्धान्त के समर्थन में दूसरा तर्क प्रस्तुत करता है कि धर्मात्मा आस्तिकों में भी मरने के प्रति अनिच्छा देखी जाती है। इसके उत्तर में कुमार कस्सप कहते हैं कि धर्मात्मा परिपाक की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार वे जितना अधिक जीते हैं, उतना ही अधिक पुण्य करते हैं। इसीलिए धर्मात्मा समय से पूर्व आत्मघात कर मरना नहीं चाहते हैं।[3]

पुनः पायासी अपने सिद्धान्त के पक्ष में तर्क उपस्थित करता है कि चूंकि मृत शरीर से जीव के जाने का कोई चिह्न दिखायी नहीं देता है, अतः यह लोक एवं परलोक नहीं है। अपने तर्क को स्पष्ट करता हुआ वह कहता है कि चोर को हंडे में जीवित अवस्था में बन्द करके हंडे को बन्द किया जाता है। आंच पर तपाया जाता है। तत्पश्चात् हंडे को खोलने पर मृत पुरुष तो मिलता है किन्तु उसका जीव निकलता हुआ दिखायी नहीं देता है।[4] पुनःश्च मृत अवस्था में जीवरहित होने पर शरीर का वजन भारी हो जाता है। इसके उत्तर में कुमार कस्सप ने बताया कि जिस प्रकार दिवास्वप्न में आप यत्र-तत्र विचरण कर पुनः वापिस आ जाते हैं किन्तु पहरेदार नहीं देख पाते हैं तथा संतप्त लोहे को गोला हल्का होता है किन्तु ठंडा होने पर भारी हो जाता है, वही नियम शरीर और जीव के सम्बन्ध में जानना चाहिये।[5]

---

१. इति पि नत्थि परो लोको···
दीघनिकायपालि खण्ड २, पृ० २३६।
२. वही, पृ० २३८–२४२।
३. वही, पृ० २४६–२४७।
४. वही, पृ० २४७–२४९।
५. वही, पृ० २४८–२५१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजप्रश्नीय एवं पायासिराजञ्ञसुत्त की उक्त विषयवस्तु से स्पष्ट है कि शरीर एवं जीव के एक मानने अथवा परलोक न मानने के सम्बन्ध में पायासी राजा द्वारा प्रस्तुत तर्क एवं कुमार कस्सप या केशी कुमार द्वारा उनका प्रतिवाद प्रायः समान हैं। अनेक उदाहरण भी एक दूसरे से मिलते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि पायासी राजा की कथा का मूलस्रोत क्या है ? भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध के समय शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की मान्यता जोरों पर थी। उपनिषद् युग में आत्मा का अस्तित्व इतने जोर-शोर से प्रचारित हुआ कि उसे या परलोक को न मानने वाला व्यक्ति समाज में गर्हित माना जाता था। आत्मा के कारण इस लोक में सामाजिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा को देखकर ही भगवान् बुद्ध को आत्मतत्त्व से चिढ़ सी हो गयी थी और उन्होंने उन लोगों की कड़ी आलोचना की जो सांसारिक दुःखों के कारणों की ओर ध्यान न देकर आत्मतत्त्व के विषय में चिन्तन-मनन करते हैं।[1]

इतना सब होने पर भी भगवान् बुद्ध ने परलोक के विषय में कहा कि परलोक हो या न हो किन्तु उसे मानने से दो लाभ हैं पहला यह कि वह व्यक्ति समाज में सम्मानित होता है और दूसरा यह कि वह बुरे कर्म से भयभीत रहता है। यदि परलोक न भी हो तो उसका कुछ नहीं बिगड़ता है किन्तु यदि परलोक है तो उसे सुमति मिलेगी। अतः परलोक हो या न हो, परलोक में आस्था रखना ही श्रेयस्कर है।[2]

भगवान् बुद्ध के इस परलोक सम्बन्धी मन्तव्य को ध्यान में रखकर यदि पायासिराजञ्ञसुत्त का अध्ययन किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि बौद्धागम में राजा पायासी की कथा प्रक्षिप्त है। पायासिराजञ्ञसुत्त में शरीर और जीव का निरूपण है तथा वह जीव शरीर त्याग कर परलोक जाता है वह भाव पायासी राजा के तर्क का खण्डन करते समय कुमार कस्सप के कथन में समाहित है।[3] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवान् बुद्ध ने कहीं

---

१. ऐसे व्यक्तियों की उपमा अन्धों की पाँति से दी गयी है।

दीघनिकाय १/१३, देखिये वही २।२।

२. कामं खो पन माहु परो लोको……अथ च पनायं भवं पुरिसपुग्गलो दिट्ठेव धम्मे विञ्ञूनं पासंसो—सीलवा पुरिसपुग्गलो सम्मादिट्ठि अत्थिकवादो ति। सचे खो अत्थेव परो लोको, एवं इमस्स भोतो पुरिसपुग्गलस्स उभयत्थ कटग्गाहोयं च दिट्ठेव धम्मे विञ्ञूनं पासंसो, यं च कायस्स भेदा परं मरणा सुगतिं सग्गं लोकं उपपज्जिस्सति। एवमस्सायं अपण्णको धम्मो……

मज्झिमनिकायपालि खण्ड २, पृ० ८०।

३. ता हि नाम, राजञ्ञ, तुम्हे जीवन्तस्स जीवन्तियो जीवं न……किं पन त्वं कालङ्कतस्स जीवं पस्सिस्ससि। —दीघनिकायपालि खण्ड २, पृ० २४८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी जीव या आत्मा की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया है और न ही किसी ऐसे तत्त्व को जो इस लोक के शरीर को त्यागकर परलोक जाता हो।

चूंकि पायासिराजञ्ञसुत्त की कथा का राजप्रश्नीय की कथा से साम्य है, अतः यह निष्कर्ष भी सहज ही में निकाला जा सकता है कि दीघनिकाय के अन्तिम संकलन काल के पहले राजप्रश्नीय की उक्त कथा लोकप्रिय हो चुकी होगी। कारण, उसी लोकप्रियता के कारण ही बौद्धागम के संकलनकर्ताओं ने उसे दीघनिकाय में संकलित कर लिया होगा। संकलनकर्ताओं ने पायासी राजा की कथा को दीघनिकाय में संकलित करते समय इस तथ्य की भी अनदेखी कर दी कि यह कथा बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद से मेल नहीं रखती है। सारांश यह कि पायासिराजञ्ञसुत्त की कथा राजप्रश्नीय की कथावस्तु का बौद्ध संस्करण प्रतीत होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बौद्ध वाङ्मय में अम्बपाली

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित*

अम्बपाली गौतम बुद्धकालीन उन विलक्षण बौद्ध भिक्षुणियों में थी जिसके प्रातिभ-व्यक्तित्व, कलाप्रेम, सौन्दर्यचेतना, अस्मिता और तीव्र वैराग्य भाव ने न केवल उस युग के लोकमानस को आनन्दित और उद्वेलित कर दिया था, अपितु इस बीसवीं सदी में भी बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान की मंगलवेला में अम्बपाली के व्यक्तित्व और चरित्र को लक्ष्य कर न जाने कितने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों, नृत्यनाटिकाओं और गीतिनाट्यों की रचना हुई है। लगता है अम्बपाली के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विलक्षणता और मोहकता थी, जिसने कलाकारों के हृदय की अतलस्पर्शी गहराई को स्पन्दित किया और सृजन के लिए अनुप्रेरित भी किया।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अम्बपाली या आम्रपाली को लक्ष्य कर साहित्यिक कृतियों का सृजन हुआ है, उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—रामरतन भटनागर का उपन्यास 'अम्बपाली' (१९३९), रामवृक्ष बेनीपुरी का नाटक 'अम्बपाली' (१९४८), रामचन्द्र ठाकुर का उपन्यास 'आम्रपाली' (१९४५, गुजराती), आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' (१९४९), धूमकेतु कृत 'आत्मा के आँसू' (गुजराती) अथवा 'नगर सुन्दरी और वैशाली', रामचन्द्र दास विरचित 'उत्तरबुद्ध चरित' (संस्कृत महाकाव्य), जयशंकर प्रसाद विरचित 'अजातशत्रु की आम्रपाली', जगदीशचन्द्र माथुर विरचित 'वैशाली लीला' की अम्बपाली, राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह का गीतकाव्य 'अम्बपाली' (१९५४), डॉ० सुरेन्द्र मोहन प्रसाद का 'विजयिनी' काव्य रूपक, रमाकान्त पाठक की आम्रपाली, पोद्दार रामावतार अरुण की आम्रपाली (महाकाव्य), बेनीपुरी के 'तथागत' नाटक की अम्बपाली तथा टंडन की फिल्म 'आम्रपाली', उपेन्द्र महारथी एवं अलभेलकर की अम्बपाली सम्बन्धी मर्मस्पर्शी चित्र रचनाएँ और स्वप्नसुन्दरी की नृत्यनाटिका (७-४-१९८६) आम्रपाली आदि विशिष्ट कृतियों के अन्तरंग विश्लेषण से दो तथ्यों की स्पष्ट झलक मिलती है—

(१) अम्बपाली बुद्ध की समकालीन ऐसी नारी पात्र थी जिसे उस युग की नारियों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई। यह नहीं कि उस युग में वही एकमात्र नगर वधू या वेश्या थी, जिसने अपने परम्परागत चरित्र के प्रतिकूल भोगवासना का जीवन त्याग, तपस्या, वैराग्य और सेवा का व्रत ओढ़ लिया था, बल्कि उस युग में अभयमाता और विमला आदि गणिकाएँ और कुलीन महिलाएँ थीं, जिन्हें बुद्ध, धर्म और संघ की छाया में शरण मिली पर अम्बपाली या आम्रपाली जैसी ख्याति ने किसी अन्य महिला को मंडित नहीं किया।

---

* भू० पू० रीडर, हिन्दी विभाग, गन्नीपुर, मुजफ्फरपुर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) अम्बपाली के दिव्य, कोमल सौन्दर्य, कलानिपुणता, रूपगर्विता तथा अन्ततः लौकिक सुखभोगों का त्याग कर 'बहुजनहिताय' 'बहुजनसुखाय' अपने को धर्म और सेवा के लिए सम्पूर्ण रूप से समर्पण का भाव इन साहित्यिक कृतियों, चित्रों, चलचित्रों और नाटिकाओं में मुख्य रूप से चित्रित हुआ है। चरित्र और शिल्प की दृष्टि से जो अम्बपाली में परस्पर अन्तर दृष्टिगोचर होता हो, परन्तु प्राणसूत्र लौकिक भोग वासना का तीव्र आलोक और गहन वैराग्य भाव सब में लगभग एक-सा है। इस विचार विन्दु के पल्लवन में भी प्रायः कुछ न कुछ समानता परिलक्षित होती है कि प्रायः सभी लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अपनी विशिष्ट शैली में स्वाधीनता पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक परिवेश में अम्बपाली के चरित्र को गढ़ा है, सँवारा है। उदाहरणस्वरूप बेनीपुरी की अम्बपाली, वैशाली गणराज्य की स्वाधीनता और उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए, वैशाली के युवकों को एकता और स्वाधीनता की भावना से उद्वेलित करने के लिए 'रणचण्डी' भी बन जाती है और अन्ततः जीवन की विषम परिस्थितियों और द्वन्द्वों से मुक्ति पाने के लिए बुद्ध की शरण में समर्पित हो जाती है।

बौद्ध साहित्य में आखिर वे कौन से मूल स्रोत हैं, जिन्होंने 'अम्बपाली' गणिका के बहुरंगी जीवन और प्रेरक व्यक्तित्व को परिपल्लवित करने में प्रेरणास्रोत का काम किया है। अगले पृष्ठों में उन स्रोतों की तलाश की जा रही है।

सर्वप्रथम हमारा ध्यान जाता है, 'महापरिनिर्वाणसुत्त' (दीघनिकाय २:३'१६) की ओर, जिसमें अम्बपाली के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक सूचनाएँ मिलती हैं। तदनुसार गौतमबुद्ध अन्तिम बार वैशाली आए और अम्बपाली की आम्रवाटिका में अपने भिक्षुओं के साथ ठहरे। उसे जब यह सूचना मिली तो वह आनन्दोल्लसित हो, स्वयं रथ हाँकती हुई, नितांत निरलंकृत सादी वेशभूषा में, उनके चरणों में श्रद्धानत हो जा बैठी। गौतम बुद्ध ने उसके शांत सौम्य मुख को देखकर अनुभव किया—यद्यपि इस गणिका का जीवन समृद्धि, लौकिक सुखभोग और विलासिता में लिप्त है, पर इस क्षण इसके अन्तर में करुणा और सत्य की पावन आभा फूट रही है। यह सत्य धर्म के उपदेश के सर्वथा योग्य है। उसी क्षण श्रद्धावनत अम्बपाली को तथागत ने सद्धर्म का उपदेशामृत पान कराया। उसके अन्तर में 'घर से बेघर हो प्रव्रज्या' पाने का कठोर संकल्प जगाया कि 'अमृत पद' पाने की 'अर्हता' का सौभाग्य उसे मिल सके। उपदेश सुनते ही अम्बपाली का शान्त सौम्य मुख अन्तर के पावन ज्ञानालोक और आनन्द से उद्भासित हो उठा। प्रमुदित हो गौतम बुद्ध से कल के भोजन के लिए अंजलि जोड़कर विनय आग्रह किया। उन्होंने मौन से उसकी स्वीकृति दी। स्वयं शास्ता और उनका भिक्षु संघ उस गणिका के यहाँ भोजन करेंगे, यह सोच अपने सौभाग्य पर इठलाती वह लौट रही थी। राह में लिच्छिवि कुमारों के रथों के धुरों, चक्कों और जुओं से टकराती हुई अपने रथ को आनंद उल्लास से ले जा रही थी। पूछने पर जब उन्हें पता चला तो उन्होंने लाख मिन्नतें कीं कि बुद्ध और उनके संघ को पहले सत्कार करने का अवसर वह लिच्छिविगण को दे। बदले में हजार स्वर्ण कार्षापण वह ले ले। अम्बपाली गणिकाने कहा—"हजार कार्षापण तो क्या,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारी वैशाली भी दे दो, तब भी बदले में यह सौभाग्य तुम्हें न दूंगी। यह तो अमूल्य सम्मान है मेरा।" (स च मे अय्यपुता वेसालिं साहारं दज्जय्याय, नेव दज्जा हं तं भत्तं ति)। दूसरे दिन अम्बपाली ने स्वयं भोजन बना, बुद्ध और भिक्षुसंघ को सादर बुला स्वयं स्वादु सुगंधित भोजन परोसकर संतृप्त किया। भोजनोपरांत शास्ता को ऊँचे आसन पर बिठा अम्बपाली उनके चरणों में माथा टेकती हुई बोली, "भगवन् यह महल और आम्रवाटिका भिक्षुसंघ को विनम्रतापूर्वक अर्पित करती हूँ।" बुद्ध ने उसके इस महार्घ्यदान को स्वीकार किया। उसे पुनः उपदेशामृत पान कराते हुए इस क्षणभंगुर संसार के प्रति वैराग्यभाव जगाकर बुद्ध उठ गए। वैशाली की यह उनकी अंतिम यात्रा थी।

'महापरिनिर्वाणसूत्र' के अतिरिक्त अन्य बौद्ध स्रोतों में भी अम्बपाली के संबन्ध में स्फुट सूचनाएँ उपलब्ध हैं। बौद्धधर्म के पवित्र थेर ग्रंथों में **'सुत्तपिटक'** का पाँचवाँ भाग है—**'खुद्दक निकाय'**। इस निकाय में ही **'थेरगाथा'** और **'थेरीगाथाओं'**,का संकलन है। 'थेरी गाथा में तेहत्तर भिक्षुणियों के पाँच सौ बाइस पद संगृहीत हैं। इनमें भिक्षुणी अम्बपाली द्वारा रचित पदों की संख्या उन्नीस है। इन थरेथेरी गाथाओं पर पाँचवी सदी के प्रसिद्ध बौद्ध टीकाकार धर्मपाल ने 'धमार्थदीपनी' नाम की टीका की, अपनी टीका में गाथाओं के रचयिता थरे-थेरी के पूर्व जन्म और वर्तमान जन्म की कथा जातक कथाओं की शैली में प्रस्तुत की है। स्वभावतः भिक्षुणी अम्बपाली का जीवनवृत्त भी दिया गया है। उसके अनुसार अम्बपाली अनगिनत पुण्यों के बल से शिखि बुद्ध के समय उत्पन्न हुई। एक दिन देव मंदिर में पूजा अर्चना के लिए भिक्षुणियों की शोभा यात्रा जा रही थी तो एक अर्हत थेरी ने उसके सामने जल्दीबाजी में देवमंदिर के आँगन में थूक दिया। उस पर दृष्टि पड़ते ही अम्बपाली क्रोधावेश में बोल पड़ी—किस वेश्या ने इस स्थान को थूक कर अपवित्र कर दिया है! इन आवेशपूर्ण शब्दों के कारण गणिका के रूप में पुनः उसने जन्म ग्रहण किया। अगले जन्म में उसने राजकन्या के रूप में भी जन्म ग्रहण किया। सौन्दर्य-संपन्न होने के लिए उसने कठोर आराधना की। अनेक जन्मों के पुण्यबल से उसने अंतिम वार वैशाली में जन्म ग्रहण किया एक आम्रवाटिका की शीतल स्निग्ध छाया में। यह उसका अंतिम जन्म था। आम्रवाटिका के माली ने उस परित्यक्त बालिका का पालन-पोषण किया, इसीलिए 'आम्रपाली' या 'अम्बपाली' के रूप में अपनी दिव्य सुन्दरता, कला के प्रति पूर्ण समर्पण और अंततः अपनी तीव्र वैराग्य भावना के कारण वह जगद्विख्यात हुई। उसकी अपूर्व सुन्दरता को भोगने की चरम स्पर्द्धा थी वैशाली गणतन्त्र के युवकों में। स्पर्द्धा और युद्ध की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए वैशाली की गणिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई वह और वह जनभोग्या बनी।

बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के बाद भी अम्बपाली में काव्य और कला के प्रति आकर्षण शायद शिथिल न हुआ। थेरी गाथा में संकलित इन उन्नीस गाथाओं में अपने अंग-प्रत्यंग की सुकुमारता, स्निग्धता और लावण्य का जो विस्मय विमुग्धकारी मर्मस्पर्शी वर्णन किया हैं वह सौन्दर्यभाव में जितना ही मांसलत्व है वैराग्यभाव से भी उतना ही ओतप्रोत है। बारीकी से काव्यतत्वों की कसौटी पर उनकी समीक्षा करने पर मर्मस्पर्शी काव्यशैली के उत्तम उदाहरण लगते है। एक दो उदाहरण पर्याप्त हैं:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालककामयरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मुद्धजा अहुँ,
ते जराय साणवाकसदिसा सच्च वादिवचनयअनञ्ञथा ॥२५२॥
वासितो व सुरभिकरंडको पुप्फपूरं ममुत्तमङ्गभु ।
तं जराय सस लोभगंधिकं सच्चवादि वचनयअनञ्ञथा ॥२५३॥

उसके भ्रमर से काले कुंचित केश जिसमें वेला के फूल गूंथे रहते थे, अब बूढ़ापा आने पर सन के से सफेद हो विखर गए हैं। खरगोश के रोओं की तरह उनमें दुगंध निकल रही है। आँखों में न वह चमक है, न देह में वह मनमोहनी आभा। अब गले में कोयल की सी वह मिठास भी कहाँ है? सुडौल पुष्ट वक्ष लटक गए हैं, अंग-अंग झुर्रियों से भरा है। पुष्ट मांसल सर्पिल जाँघ बाँस के तने की तरह कैसी पतली होकर सूख गयी है। काल ने शरीर की उस मनभावन छवि को, देह की कांति को सोख लिया है। उसकी वह काँचन सी देहलता ढलती आयु में क्षीण, दुर्बल, अशोभनीय, असंख्य रोगों का पुराना घर रह गया है, चारों ओर से ढहना, ढनमनाना।" आह !

थेरी अम्बपाली की इन गाथाओं में भावों के वैपरीत्य का विधान बड़ा ही मर्मस्पर्शी और हृदयद्रावक है। इन गाथाओं का लक्ष्य निश्चय ही उस युग और बाद की भिक्षु-भिक्षुणियों की पीढ़ियों को घर छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण कर सत्य, शांति और ज्ञान की तलाश करते हुए परम विश्रान्ति का अमृतपद प्राप्त करना था। जैसा कि रीज डेविड्स ने लिखा भी है कि— इन गीतों में सदियों की करुणा-विगलित नारी भावना, सौन्दर्य चेतना और जीवन की क्षण-भंगुरता में रची बसी हुई ये छोटी-छोटी गाथाएँ थेरियों के जीवन की संवेदना, विषाद और परमविश्रांति की भावना से ओतप्रोत हैं।...गाथाओं की रचना करने वाली चारगणिका थेरियों में अम्बपाली एकमात्र विख्यात ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। उसकी रचना का स्वरूप गीति काव्यात्मक है। व्यक्तित्व की संवेदनशील अनुभूति की अभिव्यक्ति में विलक्षण प्रांजलता है। थेर-थेरी गाथाएँ कितनी लोकप्रिय हो गई बौद्ध संघ में कि उन्हें त्रिपिटकों में संगृहीत किया गया। बौद्ध शिक्षा केन्द्रों के बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों में वैराग्यभाव को उद्दीप्त करने के लिए सदियों तक वेदमंत्रों की तरह उन्हें कंठाग्र किया जाता रहा। जो भी हो, थेरी अम्बपाली के गीतों से उसकी अनिंद्य सुंदरता और उसकी करुण नश्वरता के साथ उसकी अनूठी काव्यशैली का स्पष्ट परिचय मिलता है। वह अपने समय की अद्वितीय सुंदर नारी थी, काव्यकला में अत्यन्त निपुण थी और अंततः बुद्ध की शरण में आने पर त्याग और वैराग्य में भी अनुपम हो गई वह भिक्षुणी !

'विनयवस्तु' नामक ग्रंथ (गिलगिट पांडुलिपि द्वितीय भाग) के अनुसार अम्बपाली ने विज्जि लोकतंत्र की मर्यादा की रक्षा के लिए विवशतापूर्ण परिस्थिति में इस सम्मान योग्य गणतंत्र की गणिकापद को स्वीकार किया था। पर उसके साथ निम्नलिखित पाँच शर्तें भी थीं—

समयतोऽहं गणभोग्या भवामि यदि मे गणः पंच वराननुप्रयच्छति (पाँच शर्तों को पूरा करने पर ही गण की भोग्या होऊँगी)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. प्रथमे स्कंधे गृहं ददाति (पहले गृह की प्राप्ति)।

२. एकस्मिन् प्रविष्टे द्वितीयो न प्रविशति (एक व्यक्ति के प्रविष्ट होने पर दूसरा न प्रवेश करे)।

३. यश्च प्रविशति पंचशतकार्षापण्यादाय (जो व्यक्ति प्रवेश करे वह पाच सौ कार्षापण के साथ)।

४. यदा गृहं विचयो भवति तदा मम गृहं सप्तमे दिवसे प्रत्यवेक्ष्यते (घर की तलाशी के समय उसके घर की तलाशी सातवें दिन हो)।

५. निष्कासः प्रवेशश्च मद्‌गृहं प्रवेक्ष्यतां न विचार्यंत इति। (मेरे घर में प्रवेश और वहिर्गमन करने वाले पर कोई विचार नहीं किया जाएगा)।

राजगृह के नैगमने अम्ब्रपाली की सुन्दरता का वर्णन मगध सम्राट् के समक्ष इन शब्दों में किया था—

"वैशाल्यामाम्रपाली नाम वेश्या अतीव रूपयौवनसम्पन्ना चतुःषष्ठिकलात्मिका देवस्य उपभोग्या।"

आम्रपाली की इस रूपप्रशंसा से मगध सम्राट् बिम्बिसार के हृदय में उसको पाने की प्यास जगा दी जो कभी बुझी नहीं। बौद्ध स्रोतों में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है कि सम्राट् बिम्बिसार आम्रपाली के रूप-यौवन को भोगने के लिए गुप्त रूप से आए और वहाँ अज्ञात रूप से रहे। विदा वेला में आम्रपाली ने उनसे पूछा—"मैं आपसे सन्तान उत्पन्न करने वाली हूँ। उसका क्या होगा?" बिम्बिसार ने कहा—"यह अंगूठी और रेशमी उत्तरीय लो। इसके साथ यदि वह नवजात शिशु पुत्र हो तो राजगृह मेरे पास भेज देना।" यही विमल-कौंडिन्य अम्बपाली का पुत्र हुआ। युवा होते-होते इसने माता आम्रपाली से पहले ही बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली। आश्चर्य नहीं कि पुत्र के श्रमण होने पर अम्बपाली के हृदय में वैराग्य भाव की क्षीण अग्निशिखा प्रज्वलित हुई हो और तथागत-दर्शन और उनके उत्सर्गमय जीवन-गाथा ने उसे बौद्धभिक्षुणी बनने को उत्प्रेरित किया हो। और जब वह बौद्धभिक्षुणी बन गई तो फिर वहाँ भी वैराग्य-साधना और काव्य-कला के चरम उत्कर्ष का स्पर्श किया।

इन प्राचीन सन्दर्भों के अतिरिक्त हमारी दृष्टि चौथी और सातवीं सदी के फाहियान (३९९–४१४ ई०) और ह्वेनसांग (६०६–६३० ई०) जैसे महान् चीनी यात्रियों के महत्त्वपूर्ण वृत्तान्तों की ओर भी जाती है। दोनों ही ने अपने यात्रा-वृत्तान्तों में अम्बपाली से जुड़ी स्मृतियों का उल्लेख किया है। फाहियान के अनुसार आम्रपाली ने वैशाली में बुद्ध की स्मृति में स्तूप बनवाया था, जिसके अवशेष तब भी वर्तमान थे। उससे कुछ ही दूर पर वह वाटिका थी जिसे गौतम बुद्ध को 'आराम' के लिये दान में दिया था।

उस स्तूप का उल्लेख ह्वेनसांग ने भी अपने यात्रा-वृत्तान्त में किया है। यहीं पर ह्वेनसांग के अनुसार महाप्रजापती गौतमी तथा अन्य भिक्षुणियों ने निर्वाण प्राप्त किया, उसके निकट एक स्तूप है, और वह स्थान है, जहाँ आम्रवाटिका थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि आम्रपाली या अम्बपाली बुद्धकालीन ऐतिहासिक पात्र थी। वैशाली गणतन्त्र की निर्वाचित गणिका थी। रूप-यौवन सम्पन्न इस गणिका के पास न केवल वैशाली गणतन्त्र के ही रूप और कला के प्रेमी और उपासक आते थे, अपितु उसकी कीर्ति सुदूर राजगृह तक फैल गयी थी, जिसके फलस्वरूप मगध सम्राट् बिम्बिसार तक ने उस पर अपने को न्योछावर कर दिया था। गौतम बुद्ध की अन्तिम यात्रा में वह बुद्ध और धर्म की शरण गई, पर वह असाधारण क्षमताशाली बौद्ध भिक्षुणी सिद्ध हुई, जिसने अपनी उन्नीस गाथाओं में अपने चरमसौन्दर्य, शरीर की नश्वरता और जीवन मर्म को यों ढाल दिया है कि उसके उन करुणाविगलित जोवन के साथ के आलोक से दोप्त उन पदों को पढ़कर कौन भला क्षणभर के लिए ही सही, वैराग्य और प्रव्रज्या के लिए, अमृत पद की प्राप्ति के लिए उन्मुख और उत्प्रेरित नहीं हो उठता।

> एदिसो अहुअयं समुक्सयो जज्जरो बहुदुक्खानामालयो।
> सोऽवलेय पतितो जरागतो सच्चवादि वचनं अनञ्जथा॥ थेरीगाथा–२६०

बीसवीं सदी में विभिन्न भारतीय भाषाओं में अम्बपाली की तीव्र रूपज्वाला, उसकी गौरव-मयी गुण गरिमा, बौद्धधर्म में दीक्षा और वैराग्य और साधना की चरम सार्थकता को दृष्टि में रख कर जो विपुल साहित्य लिखा गया है, उस पर अम्बपाली के तत्कालीन जीवन पर आधुनिक युग की विसंगतियां और तज्जनित गहरी पीड़ा और द्वन्द्व से भी उसके जीवन को महिमा मंडित किया गया है। फिर एक साथ ही उसके जीवन में सम्राट बिंबिसार और उनके पुत्र अजातशत्रु तक को उतारा गया है। इसके पीछे एक ही तथ्य है कि साहित्य स्रष्टाओं ने तद्युगीन अम्बपाली को आधुनिक सन्दर्भ में भी देखा है। इस प्रकार अम्बपाली एक ऐतिहासिक पात्र है जो अतीत में रूपयौवन सम्पन्न परम योग्य गणिका थी, अपने पुत्र विमल कौंडिन्य और तथागत की प्रेरणा से भिक्षुणी हो गई, घर छोड़, बेघर हो साधना और सेवा में अपने को उत्सर्ग कर दिया, तब भी उसकी सृजनधर्मिता उत्तरोत्तर उदार होती गई है। क्षणभंगुर सौन्दर्य से चिर-सौन्दर्य, अमृत पद पर पहुँचने के लिए उसने अमृत पदों की रचना की, जिसके प्रत्येक पद में सत्य ज्योतिस्वरूप अभिताभ बुद्ध का स्मरण है, अम्बपाली का जीवित कलात्मक इतिहास आज भी यों ही सम्पूर्ण भावना को आनन्दित और उद्वेलित करता है, जीवन की शांति और पवित्रता की प्राप्ति के लिए—

> कंचनस्सफलकं व सुममट्ठं सोभते सुकायो पुरे मम।
> सो बलिहि सुखुमाहि ओतनो सच्चवादि वचनं अनञ्जथा॥ २६६॥

अर्थात्—सुन्दर परिष्कृत स्वर्णफल के समान मेरी देहलता चमकती थी, सोहती थी। वही वृद्धावस्था में झुर्रियों से भरी हुई है। सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

१. महपरिनिर्वाण सुत्त।
२. बुद्धचर्या : राहुलसांकृत्यायन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. थेरी गाथा : राहुलसांकृत्यायन। (मूल पालि)

४. Psalms of the Brethren } रीज डेविड्स अंग्रेजी अनुवाद एवं भूमिका

५. Psalms of the Sisters } रीज डेविड्स अंग्रेजी अनुवाद एवं भूमिका

६. थेरी गाथा (हिन्दी) : भरतसिंह उपाध्याय।

७. विनयवस्तु (गिलगिट पांडुलिपि २ भाग)।

८. ट्रैवेल्स आफ फाहियान : एच० ए० गिल्स।

९. ऐनसिऐट ज्योग्राफी आफ इंडिया : कनिंघम।

१०. अम्बपाली (नाटक) : रामवृक्ष बेनीपुरी।

११. वैशाली की नगर वधू : आचार्य चतुरसेन शास्त्री (आदि)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यकालीन जैन साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन

प्रोफेसर डॉ० राजाराम जैन*

आत्म-ख्याति की कामना से निरन्तर उदासीन रहने के कारण अधिकांश प्राचीन जैन कवियों ने स्वरचित रचनाओं में आत्म-परिचय अथवा लेखनकाल या लेखनस्थलादि की सूचनाएँ प्रदान नहीं कीं। यही कारण है कि उनके इतिवृत्त अभी तक तर्क-वितर्क के विषय बने हुए हैं।

मध्यकालीन जैन कवियों ने सम्भवतः इस तथ्य का अनुभव किया होगा और यही कारण है कि कुछ स्वतन्त्र ऐतिहासिक काव्यों के साथ-साथ उन्होंने अपनी-अपनी रचनाओं में वर्ण्य-विषय के साथ-साथ आदि एवं अन्त में प्रशस्तियाँ अंकित कीं और उनके माध्यम से उन्होंने अपना जीवनवृत्त, आश्रयदाता-परिचय, पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन साहित्य तथा साहित्यकारों, पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन राजाओं, सामन्तों, गुरुजनों और भट्टारकों के साथ-साथ देश अथवा नगर की प्रमुख राजनैतिक तथा सामाजिक घटनाओं के भी संकेत दिए हैं। अतः इन रचनाओं में पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन ऐतिहासिक तथ्यों के उपलब्ध होने से उनका महत्त्व विशेष रूप से बढ़ जाता है।

जैन-साहित्य के लेखन की दृष्टि से मध्यकाल वस्तुतः स्वर्णकाल माना जा सकता है। इस काल में जैन-लेखकों ने विविध भाषाओं में इतनी अधिक रचनाएँ लिखीं कि उनका अभी तक पूरा लेखा-जोखा भी नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का कथन है कि जितनी मात्रा में जैन-साहित्य लिखा गया है, उसका अधिकांश भाग अनेक अज्ञात कारणों से नष्ट-भ्रष्ट हो गया और बाकी जो बचा है, उसके लगभग २५ प्रतिशत ग्रन्थों का केवल सूचीकरण ही हो सका है और बाकी के लक्षाधिक ग्रन्थ ऐसे हैं, जो वर्तमान में मठों, मन्दिरों, व्यक्तिगत-संग्रहालयों एवं शास्त्र-भण्डारों में अज्ञातावस्था में पड़े हुए अपने उद्धार की राह देख रहे हैं। इनमें विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं में लिखित विविध काव्य, नाटक, चरित, दर्शन, सिद्धान्त, आचार, अध्यात्म, तीर्थ-भ्रमण, व्याकरण एवं कोष आदि विषयक ग्रन्थ अवश्य होंगे तथा उनकी अधिकांश की प्रशस्तियों में राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय विविध ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक घटनाएँ भी वर्णित होंगी। उन्हें कब प्रकाश मिल सकेगा, यह कह पाना कठिन ही है।

उक्त सूचीकृत उपलब्ध साहित्य का भी अभी तक सम्भवतः २५ से ३० प्रतिशत साहित्य ही प्रकाश में आ सका है। इधर विद्वानों एवं शोधार्थियों का ध्यान इस ओर अवश्य गया है, किन्तु विषय की दुरूहता तथा उत्साहप्रद साधनों की कमी के कारण इन ग्रन्थों के उद्धार की गति बहुत ही मन्द है।

---

* अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत-संस्कृत विभाग, ह० दा० जैन कालेज, आरा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभी तक जो भी मध्यकालीन जैन-साहित्य प्रकाशित हुआ है, इतिहास की दृष्टि से वह बड़ा ही मूल्यवान् सिद्ध हुआ है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उसके अनेक ग्रन्थों में महावीर निर्वाण-काल के पश्चाद्वर्ती लगभग ४३८ वर्षों में होने वाले केवलज्ञानियों, श्रुतकेवलियों, अंगधारी आचार्यों[१] तथा नन्द[२] एवं मौर्यवंशी[3] राजाओं और महामति चाणक्य[४] का तिथि क्रमानुसार वर्णन उपलब्ध है। प्राच्य एवं पाश्चात्य इतिहासकारों को भारतीय इतिहास के लेखन में उक्त जैन-सन्दर्भ-सामग्री ने अनेकविध सहायता प्रदान की है। उसमें निश्चित तिथिक्रम के मिल जाने के कारण भारतीय इतिहास का प्रारम्भ नन्दवंश से माना जाने लगा। सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० रैप्सन ने नन्दवंश के सुनिश्चित् तिथिक्रम की उपलब्धि देख कर उसे भारतीय इतिहास का द्वार (The Sheet Anchor of Indian Chronology) कहा है।[५]

इतिहासकारों ने भगवान् महावीर का निर्वाण काल ई० पू० ५५७ माना है, जिसका आधार जैन-साहित्य है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार महावीर-निर्वाण के १५५ वर्ष बाद (जो कि नन्द राजाओं का राज्यकाल था), चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) ने चाणक्य की सहायता से अन्तिम घननन्द नरेश से मगध का साम्राज्य प्राप्त किया था, अर्थात् ५२७–१५५ = ३७२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) मगधाधिपति बना और यही काल नन्दवंश की समाप्ति का भी काल था। पं० कैलाशचन्द जी के अनुसार यदि इन १५५ वर्षों में से ६० वर्ष, जो कि महावीर-निर्वाण के बाद पालकवंशी राजाओं का राज्यकाल है, उसे निकाल दिया जाय, (१५५–६० = ९५) और उन अवशिष्ट (९५) वर्षों को चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण-काल (ई० पू० ३७२) में जोड़ (३७२ + ९५ = ४६७) दिया जाय, तो नन्दवंश का राज्यारम्भ-काल ई० पू० ४६७ निकल आता है।[६]

इस प्रकार जैन तिथिक्रमानुसार नन्दवंश का राज्यारम्भकाल ई० पू० ४६७ एवं राज्यसमाप्तिकाल ई० पू० ३७२ सिद्ध होता है। नन्दराज्य का समाप्तिकाल ही चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहणकाल है। आचार्य जिनसेन एवं मेरुतुंग ने चन्द्रगुप्त का राज्यारोहणकाल महावीर निर्वाण के २१५ वर्ष बाद माना है। उक्त दोनों मान्यताओं में ६० वर्ष का अन्तर है। यह केवल इसलिए कि जिनसेन एवं मेरुतुंग ने उक्त ६० वर्षों को मिलाकर उक्त समय (२१५ ई० पू०) बतलाया है। यह चर्चा मध्यकालीन जैन साहित्य के लगभग २८ ग्रन्थों में

---

१. दे० इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार (मणिक० सीरीज बम्बई, ग्रथाङ्क १३, सन् १९३२ ई०)।

२–४. दे० डॉ० राजाराम जैन द्वारा सम्पादित—भद्रबाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक, गणेशवर्णी दि० जैन शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, १९८२, पृ० २३।

५. दे० वही पृ० २१।

६. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका पृ० ३३०-३३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपलब्ध है।[1] इनमें नन्दवंश की उत्पत्ति, उनका पारिवारिक परिचय एवं राज्यकाल, जाति, कार्य-कलाप एवं राज्य-समाप्ति के कारणों के साथ ही मौर्यवंश का अभ्युदय, चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) का आचार्य चाणक्य से परिचय, उसकी शिक्षा, संघर्ष एवं विजय, चाणक्य का इतिवृत्ति तथा मगध के साम्राज्य-विस्तार में उसकी भूमिका का विस्तृत वर्णन मिलता है।

उक्त वर्णनों का वैशिष्ट्य यह है कि जहाँ जैनेतर साहित्य में चाणक्य के उत्तरवर्ती जीवन को प्राप्ति दुर्लभ है, वहीं जैन-साहित्य में उसके उत्तरवर्त्ती जीवन का विस्तृत वर्णन मिल जाता है। जैन-साहित्य के अनुसार अपना लक्ष्य पूर्ण करने के बाद चाणक्य ने जैन-दीक्षा ग्रहण कर ली तथा ५०० शिष्यों के साथ वे दक्षिणापथ के 'वनवास' स्थल पर पहुँचे और वहाँ से पश्चिम दिशा में महाक्रौञ्चपुर के एक गोकुल नामक स्थान में वे ससंघ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ हो गये। वहाँ उनके पूर्व के राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वी मन्त्री सुमित्र ने अवसर देखकर घेराबन्दी कर आग लगवा दी, जिसमें वे ससंघ जलकर समाप्त हो गये।[2]

मध्यकालीन जैन-साहित्य की दूसरी विशेषता है, उसका प्रशस्ति-लेखन। इनके माध्यम से कवियों ने पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन आचार्यों, लेखकों, राजाओं, भट्टारकों आश्रयदाताओं एवं नगरश्रेष्ठियों के कार्य-कलापों की चर्चाओं के साथ-साथ राजनैतिक, आर्थिक एव भौगोलिक तथ्यों को भी प्रस्तुत किया है।

महाकवि श्रीचन्द्रकृत 'कहकोसु' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति से विदित होता है कि कवि ने अपना उक्त ग्रन्थ राजा मूलराज के राज्यकाल में गुजरात के महीयड-देश में समाप्त किया था। कवि का रचनाकाल वि० सं० १०५२ के आस-पास रहा है। इससे यह विदित होता है कि उक्त राजा मूलराज 'सोलंकी-वंश' का था। उसने वि० सं० ९९८ में चावड़ा वंशोत्पन्न अपने मामा सामन्तसिह को मारकर उसका राज्य छीन लिया था तथा वह स्वयं गुजरात की राजधानी पाटन (अणहिलवाड) की गद्दी का स्वामी बन बैठा था। उसने वि० सं० १०१७ से १०५५ तक राज्य किया था।[3]

उक्त मूलराज के पिता का नाम भीमदेव था। उसके तीन पुत्रों में से मूलराज सबसे बड़ा पुत्र था। जिसकी मृत्यु उसके जीवनकाल में ही हो चुकी थी। बाकी के दो पुत्रों में से क्षेमराज ने गद्दी पर बैठना अस्वीकार कर दिया था, अतः तृतीय कनिष्ठ पुत्र कर्ण (कृष्ण) का राज्याभिषेक करके भीमदेव स्वयं ही गृहत्यागी साधु बन गया था। ये समस्त घटनाएँ कवि श्रीचन्द्र के सम्मुख ही घटित हुई थीं। क्योंकि उक्त कर्ण नरेश के राज्यकाल में श्रीवालपुर नामक स्थान पर श्रीचन्द्र ने अपना दूसरा ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' लिखा था।[4]

---

१. विवरण के लिए देखिए—भद्रबाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक, पृ० १११–११२।
२. दे० बृहत्कथाकोष, हरिषेण, सिंघीसीरीज, कथा सं० १४३।
३. दे० अन्त्यप्रशस्ति, पद्य ३।
४. दे० वही, पद्य सं० ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि अमरकीर्ति ने अपने 'छक्कम्मोवएस' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने उसकी परिसमाप्ति वि० सं० १२४७ के भाद्रपद मास की शुक्ल चतुर्दशी के दिन चालुक्यवंशी राजा वंदिग्ग के पुत्र कण्ह अथवा कृष्णराज के राज्यकाल में की थी।[1] कुछ लोग उक्त वंदिग्ग का नाम आधुनिक लोकप्रचलित इतिहास में नहीं पाते। अतः भ्रम में पड़ जाते हैं कि यह वंदिग्ग एवं उनका पुत्र कृष्ण कौन है ?

किन्तु पं० नाथूराम जी प्रेमी के अनुसार महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण की प्रशस्ति से उक्त भ्रम का निराकरण हो जाता है। पुष्पदन्त ने कृष्णराज (तृतीय) के तीन नाम बतलाए हैं[2]—(१) तुडिगु, (२) बल्लभनरेन्द्र अथवा बल्लभराय, एवं (३) शुभतुंगदेव अथवा शुभतुंगाचार्य। वस्तुतः तथ्य यह है कि राष्ट्रकूट एवं चालुक्य राजाओं के घरेलू नाम एवं शासनकालीन नाम पृथक्-पृथक् रहे हैं।[3] वन्दिग्ग, राजा अमोघ-वर्ष का घरेलू नाम था। उसके पुत्र कण्ह अथवा कृष्ण का घरेलू नाम था तुडिगु। वन्दिग्ग एवं कृष्ण तृतीय का पिता-पुत्रत्व सम्बन्ध सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से सिद्ध है।[4]

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में तोमरवंशी राजाओं की चर्चा दुर्लभ ही है, जब कि दिल्ली एवं मालवा के सर्वांगीण विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। अपभ्रंश-कवियों ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उनके कार्यकलापों की विस्तृत चर्चा की हैं।

दिल्ली शाखा के तोमरवंशी राजा अनंगपाल का नाम अज्ञान के कुहासे में विलीन होता जा रहा था। किन्तु हरियाणा के अपभ्रंश-कवियों ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उनके कार्य-कलापों की विस्तृत चर्चा की है।

दिल्ली शाखा के तोमरवंशी राजा अनंगपाल का नाम अज्ञान के कुहासे में विलीन होता जा रहा था। किन्तु हरियाणा के अपभ्रंश कवि विबुधश्रीधर ने यमुना नदी पारकर जब योगिनीपुर (वर्तमान दिल्ली) की यात्रा की और वहाँ का भ्रमण किया, तो उसके सौन्दर्य से ही वे मन्त्रमुग्ध हो उठे। उसका आँखों देखा वर्णन कवि ने अपने 'पासणाहचरिउ'[5] में किया है। उसने लिखा है कि वहाँ उसने एक गगनचुम्बी कीर्तिस्तम्भ देखा, जो राजा अनंगपाल तोमर का बनवाया हुआ था। उसे उसने अपनी विजयों की स्मृति को स्थायी बनाए रखने हेतु निर्मित कराया था।[6]

---

१. दे० छक्कम्मोवएस—आद्यप्रशस्ति।
२. दे० पुष्पदन्तकृत महापुराण, प्र० भा० बम्बई, भूमिका पृ० २९।
३. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९५६ ई०, पृ० २४३।
४. दे० यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य, सोमदेव, वाराणसी, १९६०, प्रस्तावना, पृ०२०।
५. अप्रकाशित आद्यप्रशस्ति में यह वर्णन उपलब्ध है।
६. वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी कीर्त्ति स्तम्भ के समीप कवि ने दिल्ली के देश-विदेश में विख्यात महान् सार्थवाह नट्टल साहू द्वारा निर्मित विशाल आदिनाथ का मन्दिर भी देखा था, जिस पर पंचरंगी झंडा फहरा रहा था।[1] यह घटना १२वीं सदी के अन्तिम चरण की है।[2]

विबुध श्रीधर द्वारा वर्णित उक्त दोनों वास्तुकला के अमरचिह्न नष्ट-भ्रष्ट हो गये और परवर्ती कालों में मानव-स्मृति से भी ओझल होते गये। इतिहास-मर्मज्ञ पं० हरिहरनिवास द्विवेदी ने विबुध श्रीधर के उक्त सन्दर्भों का अन्य सन्दर्भों के आलोक में गम्भीर विश्लेषण कर यह सिद्ध किया है कि दिल्ली स्थित वर्तमान गगनचुम्बी कुतुबमीनार ही अनंगपाल तोमर द्वारा निर्मित कीर्तिस्तम्भ है,[3] जिसमें बाद में परिवर्तनकर उसका नया नामकरण कुतुबमीनार के रूप में किया गया। उसमें नट्टलसाहू द्वारा निर्मित आदिनाथ मन्दिर को तोड़कर उसकी अधिकांश सामग्री कुतुबमीनार में लगा दी गई। गोपाचल-शाखा के तोमरवंशी राजाओं का विस्तृत वर्णन महाकवि रइधू ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में किया है।[4] उसके अनुसार राजा डूंगरसिंह अपनी वंश-परम्परा में चतुर्थ राजा थे। उनके पिता का नाम राजा गणेशसिंह तथा पत्नी का नाम चन्दादेवी[5] था और पुत्र का नाम था राजा कीर्त्तिसिंह।[6]

रइधू ने डूंगरसिंह के संघर्ष, पुरुषार्थ एवं पराक्रम का प्रचुर वर्णन किया है। साथ ही, उसके काल में साहित्य, संस्कृति, कला एवं सर्वधर्म-समन्वय की प्रवृत्ति पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। इतिहास भले ही उसके विषय में मौन रहे, किन्तु महाकवि रइधू के उल्लेखों से से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में उत्तर-मध्यकालीन इतिहास में ऐसा सशक्त एवं आदर्श राजा दूसरा नहीं हुआ।

डूंगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह के राज्यकाल में जैनियों का बड़ा सम्मान था। उनके समय में राज्य के प्रधान मन्त्री, अर्थमन्त्री एवं राज्य के अन्य अनेक पदों पर जैनियों को प्रतिष्ठित किया गया था। ऐसे लोगों में कमलसिंह संघवी,[7] हरसीसाहू[8], खेऊसाहू,[9] साहूक्षेमसी,[10] जुगराज[11] आदि प्रमुख हैं। खेऊसाहू का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध[12] था। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधुरी के अनुसार उक्त दोनों राजाओं के राज्यकाल में लगभग ३३ वर्षों

१. वही।
२. वड्ढमाणचरिउ, विबुधश्रीधर, अन्त्यप्रशस्ति।
३. दे० कीर्तिस्तम्भ बनाम कुतुबमीनार, हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर १९८३ ई० परिच्छेद—११।
४. रइधू ग्रन्थावली प्र० भा०, धण्णकुमार चरिउ १।३ घत्ता।
५. रइधूकृत मेहेसरचरिउ (अप्रकाशित) १।५।४।
६. रइधूकृत सिरिवालचरिउ (अप्रकाशित) १०।२३।५।
७–१२. विशेष के लिए देखिए—रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (आश्रयदाता प्रकरण)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक लगातार गोपाचल-दुर्ग में जैन मूर्त्तियों का निर्माण होता रहा।[१] अनेक मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा स्वयं रइधू ने सम्पन्न की थी, जिनमें ८४ फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्त्ति भी सम्मिलित है।[२] डूँगरसिंह के विशेष अनुरोध पर महाकवि रइधू ने गोपाचल-दुर्ग में बैठकर अपनी अधिकांश रचनाएँ लिखी थीं।[3]

गोपाचल-दुर्ग के समीपवर्ती पनियार के जिन-चैत्यालय में बैठकर रइधू के गुरु भट्टारक यशःकीर्त्ति ने महाकवि स्वयम्भूकृत "रिट्ठणेमिचरिउ" की जीर्ण-शीर्ण प्रति का उद्धार[४] तथा पं० विबुध श्रीधरकृत 'सुकुमालचरिउ' (अपभ्रंश) एवं 'भविष्यदतकाव्य' (संस्कृत) की प्रतियों का प्रतिलिपि कार्य किया था।[५]

अजमेर एवं दिल्ली के चौहानवंशी नरेशों की चर्चा भारतीय इतिहास में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उनके साथ चन्द्रवाड-पट्टन के चौहानों का नामोल्लेख भी नहीं मिलता। किन्तु अपभ्रंश के कवियों ने उनके साथ बड़ा न्याय किया है। महाकवि लक्ष्मणसेन[६] (वि० सं० १३१३), धनपाल[७] (वि० सं० १४५४), महाकवि रइधू[८] (वि० सं० १४४०–१५३०) तथा नागकुमार चरितकार[९] (वि० सं० १५११) ने उस वंश के १७ राजाओं की चर्चा अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में की है। इस सन्दर्भ-सामग्री के आधार पर चन्द्रवाडपट्टन-शाखा के चौहान राजाओं का प्रामाणिक इतिहास तैयार हो सकता है।

जैन कवियों ने अपनी प्रशस्तियों में राजाओं को ही नहीं, उनके साहित्य-रसिक मन्त्रियों की भी चर्चा की है। अभिमानमेरु पुष्पदन्त ने अपने आश्रयदाता तथा राजा कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य भरत के विषय में लिखा है कि—"युद्धों का बोझ ढोते-ढोते महामात्य भरत के कन्धे घिस गये थे।" कवि ने पुनः लिखा है कि "महामात्य भरत का राजमहल विद्या-विनोद का स्थान बन गया था। वहाँ पाठक निरन्तर पढ़ते रहते थे, गायक गाते रहते थे और लेखक सुन्दर-सुन्दर काव्य लिखते रहते थे। उस भरत में न तो गुणों की कमी थी और न उसके शत्रुओं की ही कमी थी। वह समस्त कलाओं और विद्याओं में कुशल था। प्राकृत-कवियों की रचनाओं पर वह मुग्ध था। उसने सरस्वती का दूध पिया था। लक्ष्मी उसे चाहती थी। वह सत्यप्रिय एवं निर्मत्सर था।"[१०]

---

१. दे० वही।

२. रइधूकृत सम्मतगुणणिहाणकत्व आद्य प्रशस्ति (अप्रकाशित)।

३. रइधूकृत (आद्यप्रशस्ति) अप्रकाशित।

४. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (भट्टारक प्रकरण)।

५. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन।

६-९. यह साहित्य अद्यावधि अप्रकाशित है। इनको प्रशस्तियों में संदर्भित चौहानवंशी राजाओं का वर्णन आया है। विशेष के लिये देखें—परिषद पत्रिका, (पटना, ९।१ पृ० २०–२१) में प्रकाशित मेरा निबन्ध, अपभ्रंश-साहित्य-प्रशस्तियाँ।

१०. दे० पुष्पदन्तकृत महापुराण, १।५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यकालीन साहित्य-साधना में भट्टारकों की भूमिका विस्मृत नहीं की जा सकती। धर्मसाधना के साथ-साथ साहित्य-लेखन, साहित्य-संरक्षण, साहित्यकारों की उत्साह-वृद्धि, सामाजिक-सम्पर्क, मन्दिरों एवं मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा, सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं में मार्ग-दर्शन ही उनके प्रमुख कार्य थे। मन्त्र-तन्त्र में निष्णात होने के कारण विविध प्रकार के चमत्कारों से राजाओं को भी ये प्रभावित करते रहते थे। इस कारण मध्यकाल में इन्होंने जन-मन को सर्वाधिक आकर्षित किया। संस्कृत एवं अपभ्रंश के मध्यकालीन जैन-साहित्य के लेखन में भी इन भट्टारकों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। अतः मध्यकालीन कवियों ने भी अपनी प्रशस्तियों में अनेक भट्टारकों का विस्तृत-परिचय एवं उनके कार्य-कलापों पर अच्छा प्रकाश डाला है। (विशेष के लिए देखिए—रइधू का आलोचनात्मक परिशीलन, भट्टारक प्रकरण)।

मध्यकाल का जैन शिलालेखीय साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। बडली (अजमेर) एवं हाथीगुम्फा के शिलालेख प्राचीन होने के कारण प्रस्तुत निबन्ध की सीमा से परे हैं। किन्तु दक्षिण-भारत में उपलब्ध मध्यकालीन शिलालेख दक्षिण-भारतीय इतिहास के लेखन में बहुमूल्य सिद्ध हुए हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री बी० एल० राइस एवं श्री नरसिंहाचार्य ने घोर परिश्रमपूर्वक लगभग १२००० ऐसे ही ऐतिहासिक शिलालेखों का संग्रह किया है। इनमें से ५७७ शिलालेख केवल श्रवणबेलगोल में ही उपलब्ध हैं। उनमें से एक शिलालेख ६वीं सदी का भी है, जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) की जैन-दीक्षा के बाद आचार्य भद्रबाहु के साथ कर्नाटक में पहुँचने तथा तपस्या करने की चर्चा है।[1]

श्रवणबेलगोल के अन्य शिलालेखों में भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के बाद होने वाले अनेक जैनाचार्यों, शास्त्रकारों, शास्त्रार्थकारों, राजाओं, विदुषी महिलाओं, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल, ओड्यार, कदम्ब, नोलम्ब, पल्लव, चोल आदि राजवंशों तथा उनके अमात्यों, सेनापतियों एवं श्रेष्ठियों से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है।

राष्ट्रकूट वंशी जैन-सम्राट अमोघवर्ष के शासन को प्रशंसा विदेशी इतिहासकारों ने भी की है। ९वीं सदी के अरब के इतिहासकार सुलेमान के अनुसार "९वीं सदी में इस संसार में केवल ४ सम्राट ही प्रसिद्ध थे—(१) भारत का अमोघवर्ष, (२) चीन का सम्राट, (३) बगदाद का खलीफा और (४) रूम (तुर्की) का सुलतान। किन्तु इन चारों में से सम्राट अमोघवर्ष सर्वोपरि था।" डॉ० भण्डारकर के अनुसार—"राष्ट्रकूट नरेशों में अमोघवर्ष जैन धर्म का सर्वमहान संरक्षक था।" "पट्टावलियों के अनुसार वीरसेन स्वामी के पट्टशिष्य और वाटनगर-केन्द्र के तत्कालीन अधिष्ठाता आचार्य जिनसेन स्वामी, अमोघवर्ष के धर्म एवं राजगुरु थे। जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन स्वामी के स्वर्गारोहण के बाद उनके अधूरे कार्यों को वि० सं० ८१४ के आसपास अमोघवर्ष के प्रश्रय में रहकर ही पूर्ण किए थे, जिनमें ६०,००० श्लोक-प्रमाण जयधवल ग्रन्थ प्रमुख है। अमोघवर्ष की ही प्रेरणा से पार्श्वाभ्युदय महाकाव्य, महापुराण एवं उत्तरपुराण की भी रचनाएँ की गईं। आचार्य उग्रादित्य, महान् गणितज्ञ महावीराचार्य,

१. दे० सतीशकुमार जैन द्वारा लिखित—श्रवणबेलगोल के जैन शिलालेख, पृ० २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाकटायन, एवं पाल्यकीर्त्ति से अमोघवर्ष का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके संसर्ग से स्वयं उसमें भी काव्य-प्रतिभा का स्फुरण हुआ और उसने भी 'कविराजमार्ग' एवं 'प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका' ग्रन्थ लिखकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया।[1]

शिलालेख सं० ३६० (सन् ११८० ई०) में कहा गया है कि "पण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति की वाग्मिता, विद्वता एवं यश इतना प्रशस्त था कि उनके साथ शास्त्रार्थ में चार्वाकों को अपना अभिमान, सांख्य को अपनी उपाधियाँ, भट्ट को अपने समस्त साधन एवं कणाद को अपना हठ छोड़ना पड़ा।"[2]

ऐहोले के सुप्रसिद्ध संस्कृत जैन शिलालेख[3] ने यदि महाकवि कालिदास एवं भारवि की पूर्वापरता सिद्ध न की होती, तो वह तर्क-वितर्क का विषय ही बना रहता। प्राकृत के कक्कुकशिलालेख[4] ने भी प्रतिहार-वंश की उत्पत्ति तथा सार्वजनिक बाजार की स्थापना की चर्चा कर ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है।

साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से भी मध्यकालीन जैन-साहित्य का विशेष महत्व है। संस्कृत एवं अपभ्रंश साहित्य में विविध विषयों के शताधिक ऐसे कवि एवं उनकी कृतियों के उल्लेख मिलते हैं, जो आज अज्ञात एवं अनुपलब्ध हैं। यहाँ उनकी सविवरण पूर्ण-सूची प्रस्तुत कर पाना तो सम्भव नहीं, किन्तु कुछ ऐसे कवियों का निर्देश अवश्य करना चाहता हूँ, जिनकी रचनाएँ मध्यकाल में लोक-मानस को अनुप्राणित करती रही हैं और जिनकी पुष्टि संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के प्रासांगिक सन्दर्भों से होती है। ऐसे कवियों में ईसान, चउमुह अथवा चउराणण, दोणु, गोइन्द, जीवएव, अणुराय, सुग्गीव, वीरवन्दक, गउडकवि, पल्लकित्ति, मल्लसेण, णील आदि के नाम प्रमुख हैं। इनमें से कुछ कवियों के इतिवृत्त पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है—

चउमुह—चउमुह का सर्वप्रथम उल्लेख 'स्वयम्भूछन्दस्' नामक ग्रन्थ में मिलता है। उसके लेखक महाकवि स्वयम्भू ने अपने छन्द-प्रकरणों में उदाहरण देने हेतु चउमुह के कुछ पद्यों को उद्धृत किया है। इन पद्यों का वर्ण्य-विषय देखने से विदित होता है कि कवि ने महाभारत सम्बन्धी कोई अपभ्रंश-ग्रन्थ लिखा था। स्वयम्भू के बाद उनके पुत्र त्रिभुवन-स्वयम्भू ने चउराणण[5] के नाम से चउमुह का उल्लेख किया है और उसके परिचय में दो सूचनाएँ दी हैं—(१) "चउराणण ने दुवई एवं ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धड़िया-छन्द अर्पित किया।"[6] कवि ने

---

१. विशेष के लिए देखें, वैशाली इंस्टीटयूट बुलैटिन सं० ३, पृ० २।१४४।
२. दे० श्रवणबेलगोला के जैन-शिलालेख, पृ० ५।
३. बीजापुर (कर्नाटक) जिले के हुंगुड तालुका के ऐहोले के मेगुटी नाम के प्राचीन जैन मन्दिर में उपलब्ध शिलालेख।
४. जोधपुर के घटयाला नाम के ग्राम के जैन-मन्दिर में उपलब्ध।
५. रिट्ठणेमि चरिउ (अप्रकाशित), अन्त्यप्रशस्ति।
६. पउमचरिउ (स्वयम्भू)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस उल्लेख से हमें पद्धड़िया छन्द और उससे विकसित कडवक-छन्द का इतिहास तो प्राप्त हो ही जाता है, उससे यह भी ज्ञात होता है कि पद्धडिया-छन्द अथवा कडवक-छन्द प्रारम्भ से अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों का प्रमुख छन्द रहा है। इसकी पुष्टि अपभ्रंश के निजी छन्द "दोहा" के प्रयोग से होती है। क्योंकि दोहा छन्द का व्यवहार मुक्तक काव्य के क्षेत्र में सम्पन्न होता था। जिस प्रकार संस्कृत का अनुष्टुप-छन्द और प्राकृत का गाथा-छन्द निजी छन्द माने जाते हैं, उसी प्रकार दोहा-छन्द अपभ्रंश का अपना छन्द है। चउमुह या चउराणण के छन्द-विषयक उल्लेख से प्रबन्ध के लिए व्यवहृत होने वाले पद्धडिया-छन्द की सूचना विशेष उपयोगी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चउमुह की रचना प्रबन्धात्मक थी। (२) त्रिभुवन-स्वयम्भू के अनुसार चउमुह ने महाभारत की "गोग्रहणकथा" को इतने सरस-रूप में लिखा था कि उसका अन्यत्र उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ था।[१]

स्वयम्भूछन्दस् में चउमुहकृत कुछ ऐसे पद्य भी उद्धृत हैं, जिनका वर्ण्य-विषय रामकथा से सम्बन्ध रखता है।[२] कुछ ऐसे भी पद्य हैं, जो आचार एवं सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।[३] इससे प्रतीत होता है कि चउमुह ने 'महाभारत' के अतिरिक्त सम्भवतः रामायण एवं आचार-सिद्धान्त सम्बन्धी पञ्चमीचरिउ नामक ग्रन्थों की भी रचनाएँ की होंगी। यद्यपि कुछ को छोड़कर बाकी के पद्यों को चउमुह कृत नहीं बताया गया है। किन्तु चउमुह कृत पद्यों के बाद उसी क्रम में ये पद्य उपलब्ध होते हैं। अतः प्रसंग-प्राप्त होने के कारण हमारा अनुमान है कि इन पद्यों के साथ चउमुह का नाम अंकित न होने पर भी जब तक कोई सबल विरोधी प्रमाण न मिल जाय, तब तक उन्हें चउमुहकृत मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार कुल मिलाकर चहुमुह के २४ पद्य माने जा सकते हैं—महाभारत सम्बन्धी ११, रामायण सम्बन्धी १२ एवं अन्य १ पद्य, जो किसी ग्रन्थ के मंगलाचरण से सम्बद्ध होना चाहिए।

द्रोण—इस कवि का उल्लेख भी त्रिभुवन-स्वयम्भू ने "रिट्ठणेमिचरिउ की अन्त्य-प्रशस्ति में किया है। इसके बाद महाकवि पुष्पदन्त[४], धवल[५], लक्ष्मण[६], धनपाल[७] एवं रइधू[८] आदि कवियों ने बड़े आदर से चउमुह के साथ उसका स्मरण किया है। किन्तु इन

---

१. स्वयम्भूछन्दस्—पद्य सं० ४.२।१; ४।२।२; ४।२।३; ६।४४।१; ६।७५।१; ६।८७।१, ६।१२२।१।
२. वही—६।३७।१; ६।५४।१; ६।५६।१; ६।६३।१; ६।६५।१; ६।६८।१।
३. पउमचरिउ—अन्त्यप्रशस्ति।
४. महापुराण १।९।५।
५. हरिवंसपुराण (अप्रकाशित) १।३।१८।
६. जिणदन्तचरिउ (अप्रकाशित) १।५।२।
७. बाहुबलिचरिउ (अप्रकाशित) १।८।२१।
८. सम्मइजिणचरिउ (अप्रकाशित) १।९।२३-२४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उल्लेखों से द्रोण की लोकप्रियता एवं त्रिभुवन-स्वयम्भू से उसका पूर्ववर्त्तित्व-मात्र ही सिद्ध होता है।

इस प्रसंग में महाकवि राजशेखर का वह उल्लेख विशेष महत्त्व का है, जिसमें उसने द्रोण-कवि को व्यासस्पर्धी कहते हुए उसे कुलाल जाति में उत्पन्न कहा है। वह उल्लेख निम्न प्रकार है[1]—

सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न कारणम्।
व्यास्पर्द्धी कुलालोऽभूद्यद् द्रोणोभारते कविः॥ (शार्ङ्गधरपद्धति)

अर्थात्—"सरस्वती से पवित्र पुरुषों के लिए जात-पाँत का कोई महत्त्व नहीं। कवि द्रोण यद्यपि जाति से कुलाल था, फिर भी विद्या-बुद्धि में वह व्यास ऋषि का स्पर्द्धी था।" राजशेखर के इस कथन से विदित होता है कि द्रोण ने भी अपभ्रंश में महाभारत-कथा सम्बन्धी कोई ऐसी विशाल कृति अवश्य लिखी थी, जो महर्षि व्यास के महाभारत से भी विशाल रही होगी और जो परवर्त्ती कवियों के लिए एक आदर्श प्रेरक ग्रन्थ रहा होगा।

ईसान—अपभ्रंश-ग्रन्थ-प्रशस्तियों के अतिरिक्त इसका उल्लेख "गाथासप्तशती" में मिलता है। महाकवि बाणभट्ट ने भी उसे "भाषाकविरीशानः परंमित्रम्" कहकर उसे अपने परम मित्र के रूप में स्मरण किया है।[2] बाणभट्ट के उल्लेख से दो बातें स्पष्ट हैं—(१) वह बाणभट्ट का समकालीन था, तथा (२) वह भाषा कवि अर्थात् प्राकृत-अपभ्रंश का कवि था। ईसान की प्रौढ़ काव्य-प्रतिभा का परिचय गाथासप्तशती के निम्न पद्यों से मिलता है।

अपनी रूपवती भार्या से युक्त रहते हुए भी ह्लालिक पुत्र प्रेमिक के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके विरह में इतना क्षीण हो जाता है कि उसकी जीवन रक्षा के लिए स्वयं उसकी भार्या को ही उसके पास जाकर दौत्यकर्म करना पड़ता है। कवि कहता है—

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिलो हलि अउत्तो।
जह से मच्छरिणीए वि दोच्चं जाआए पडिवण्णं॥ १।८४

अर्थात्—हे सुन्दरि, अपनी रूपवती भार्या से युक्त रहते हुए भी हालिक पुत्र तुम्हारे सौन्दर्य से आकृष्ट होकर तुम्हारे विरह में इतना क्षीण हो गया है कि तुमसे ईर्ष्या करने वाली उसकी भार्या ही उसके जीवन की आशंका से भर कर तुम्हारे पास उसका दौत्यकर्म सम्पन्न कर रही है।

एक दूसरे प्रसंग में अपनी प्रियतमा की कृशता को देखकर प्रियतम के द्वारा कारण पूछे जाने पर प्रियतमा उत्तर देती है—

उज्झसि पिआइ समअं तह विहुरे भणसिकीसकिसिअंति।
उवरिमरेण अ अण्णुअ मुअइ बइल्लो वि अंगाइं॥ ३।७५

अर्थात्—तुम अपनी प्रेमिका के साथ मेरे वक्षस्थल पर ढोए जा रहे हो। फिर भी, मेरी

१. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, निर्णय सागर० बम्बई, १९११ ई० पृ० ३६, श्लोक २१।
२. हर्षचरितं, चौखम्बा० १९६४, पृ० ७४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृशता का कारण पूछ रहे हो ? हे अनभिज्ञ ! ऊपर रखे गए भार के बोझ से साँड़ भी क्षीण हो जाता है और उसके भी अंग दुर्बल हो जाते हैं।

गोइन्दकई (गोविन्द कवि)—महाकवि स्वयम्भू ने इस कवि का सर्वप्रथम स्मरण किया है। स्वयम्भूछन्दस् में उसके चार अपभ्रंश-उद्धरण मिलते हैं।[1] उनसे कवि की प्रौढ़-प्रतिभा का परिचय मिलता है। वह एक पद्य के माध्यम से प्रश्न करता है कि जब कमल और कुमुद एक ही स्थान से उत्पन्न होते हैं, तब कुमुद का विकास चन्द्रोदय से तथा कमल का विकास सूर्योदय से क्यों होता है ? फिर कवि स्वयं ही उसका उत्तर भी देता है। वह पद्य निम्न प्रकार है—

कमल कुमुअह एक्क उप्पत्ति।
ससि तो वि कुमुआरह देइ सोक्ख,
कमलह दिवाअरु
पाविज्जइ अवसफल।
जेण जस्स पासे ठवेइउ ॥ स्वयम्भू० ४।९।१

उक्त पद्य एवं उसके अन्य पद्यों की अलंकृत शैली की तुलना संस्कृत के कवि भट्टि से की जा सकती है। क्योंकि भट्टि के काव्य में भी अनेक स्थलों पर इसी प्रकार की उद्भावनाएँ मिलती हैं। गोइन्द-कई की भाषा-शैली को देखकर प्रतीत होता है कि वह ७वीं सदी के आसपास कभी हुआ होगा।

जीवएव (जीवदेव)—इस कवि का उल्लेख भी स्वयम्भूछन्दस् में मिलता है।[2] इसकी भाषा-शैली को देखकर प्रतीत होता है कि वह ७वीं सदी में कभी हुआ होगा।

स्वयम्भूछन्दस् में उद्धृत पद्यों को देखकर लगता है कि वह वीर-रस का कवि था क्योंकि उसने अपने पद्यों में रणभूमि में वीरों द्वारा किए गये वीरतापूर्ण कार्यों का तथा युद्धभूमि में नृत्य करते हुए उनके कबन्धों और सिरों का बहुत ही सजीव चित्रण किया है। कवि कहता है—

सव्वाभूमीणरसिरभरिआ सलोहिअ कद्दमा,
सग्गोसुण्णो हरिहरपमुहा सुरा वि समागआ।
कत्तो गच्छं अमुणिअ णिलअं भणंत मिवाउलं,
कंठच्छिण्णं भमइ भडसिरं णहम्मिअकेवलं ॥ १।४३।१

अर्थात्—सम्पूर्ण भूमि मनुष्यों के सिरों से भरी पड़ी है। वह रक्त से लोहित-वर्ण की एवं पंकिल हो गई है। स्वर्ग शून्य है। हरिहर प्रमुख सभी देवता भी आ गए हैं। 'अज्ञात स्थान में कहाँ जाऊँ ?' इस प्रकार कहते हुए व्याकुल कण्ठ से छिन्न-भिन्न वीर का सिर केवल आकाश में ही घूम रहा है।

---

१. दे० स्वयम्भूछन्दस्—४।९।१, ४।९।३, ४।९।५, ४।१०।१।
२. वही, १।४३।१, १।४४।१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुराग[1]—अनुराग कवि प्रेम का वास्तविक चित्रण करने के कारण यथार्थ नामवाला है। गाथासप्तशती में उद्धृत कवि की चार गाथाओं[2] का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि कवि का यह यथार्थ नहीं, कोई उपनाम होना चाहिए और उसका वास्तविक नाम दूसरा ही रहा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि कवि की जो गाथाएँ उद्धृत हैं, उनमें उनका प्रेम-विरह एवं नायक-नायिकाओं की मनोदशा आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है।

गाथासप्तशती के प्रथम शतक में उद्धृत गाथा में पार्वती-परिणय का चित्रण है। शंकर-पार्वती का पाणिग्रहण हो रहा है। शंकर के हाथ में कंकण के रूप में स्थित वासुकि को शंकर थोड़ा-सा दूर कर देते हैं और पार्वती अनुरागवश शंकर के निकट चली आती हैं। सखियाँ पार्वती के इस सौभाग्य की प्रशंसा करती हैं। भोजकवि ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में शिवनिष्ठ प्रथमानुराग को सम्भोग-शृंगार का रूप बताया है। अतः इस गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि कवि ने शंकर एवं पार्वतीविषयक कोई प्राकृत-प्रबन्ध-काव्य भी लिखा होगा। वह गाथा निम्नप्रकार है :—

पाणिग्गहणे च्चिय पव्वईए णाअं सहीहिँ सोहग्गं।
पसुवइणा वासुइकंकणम्मि ओसारिए दूरं॥ (गाहा० १।६९)

अर्थात्—पार्वती के भय की निवृत्ति के लिए भगवान् शंकर ने अपने अतिप्रिय वासुकि रूप कंकण को अलग कर दिया। इस प्रकार पाणिग्रहण के समय ही सखियों ने पार्वती के सौभाग्य को समझ लिया। सखियों ने समझा कि पार्वती आज ही भगवान् शंकर की इतनी प्रिय हो रही है, तो फिर आगे की बात ही कौन करे ?

सुग्गीव (सुग्रीव)—कवि सुग्रीव का उल्लेख कवि त्रिभुवन-स्वयम्भू ने अपने "रिट्ठणेमि-चरिउ" की प्रशस्ति में किया है। ज्योतिष-शास्त्र में हमें सुग्रीव के उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलते हैं। हमारा अनुमान है कि स्वयम्भू द्वारा उल्लिखित सुग्गीव तथा दामनन्दि के शिष्य भट्टवोसरि द्वारा उल्लिखित सुग्गीव एक ही हैं। भट्टवोसरि का समय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने छठवीं सदी माना है। भट्टवोसरि ने सुग्गीव मुनि का इस प्रकार निर्देश किया है[3]—

सुग्रीव-पूर्व-मुनिसूचितमन्त्रबीजैर्तेषां वचांसिन कदापि मुधा भवन्ति।

सुग्रीव की चार रचनाएँ मानी जाती हैं—(१) आयप्रश्नतिलक; (२) प्रश्नरत्न, (३) आयसद्भाव एवं (४) स्वप्नफल।[4]

शकुन पर भी 'सुग्रीव शकुन' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बताया जाता है।

---

१. रिट्ठनेमिचरिउ (अप्रकाशित) अन्त्यप्रशस्ति।
२. दे० गाथासप्तशती—१।६९, २।३९, ३।४०, ५।७।
३. विशेष के लिए देखिये—केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६१) प्रस्तावना—पृ० ६७।
४. इस ग्रन्थ को लेखक ने स्वयं कोल्हापुर के शास्त्र-भण्डार में देखा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'आयसद्भाव' नामक एक ज्योतिष-ग्रन्थ कवि मल्लसेन का भी उपलब्ध है, जिसने सुग्रीव का उल्लेख इस प्रकार किया है[1] :—

सुग्रीवादि मुनीन्द्रैरंचितं शास्त्रं यदायसद्भावम् ।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥

स्पष्ट है कि सुग्रीव ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता थे। इन्हें ज्योतिष में आय-प्रणाली का प्रवर्तक कहा गया है। इनका समय अनुमानतः ५वीं शती होना चाहिए। उस समय लौकिक-साहित्य के प्रणेताओं को भी कवि कहा जाता था, इसीलिए सुग्रीव को भी कवि कहा गया है।

प्राचीन ग्रन्थ-प्रशस्तियों एवं पुष्पिकाओं को देखने से विदित होता है कि साहित्यकार जाति, समाज या धर्म को सीमाओं में बँधकर नहीं चले। साहित्यिकों का वर्ग ही उनका समाज है एवं साहित्य-सेवा ही उनका धर्म। यही कारण है कि एक सम्प्रदाय के लोगों ने दूसरे सम्प्रदाय के साहित्य की अपनी अभिरुचि के अनुसार यथाशक्ति सेवाएँ की हैं।

जैन लेखकों में माणिक्यनन्दि, भानुचन्द्र-सिद्धिचन्द्रगणि एवं लक्ष्मीचन्द्र प्रभृति जैन साहित्यकारों ने जैनेतर कवियों की कृतियों पर विस्तृत एवं प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं।

ब्राह्मणों एवं कायस्थों ने जैन-साहित्य के प्रणयन में अनुपम योगदान दिया। आचार्य पूज्यपाद, जिनसेन, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, हस्तिमल्ल एवं देवदत्त दीक्षित आदि कवि मूलतः ब्राह्मण थे किन्तु बाद में उन्होंने जैन-दीक्षा लेकर विविध विषयक जैन-साहित्य का प्रणयन किया, जो परवर्ती कवियों के लिए आधार-साहित्य बन गया।

कायस्थों में महाकवि हरिचंद ने धर्मशर्माभ्युदय नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर शिक्षा-जगत् को आश्चर्य में डाल दिया। इस काव्य की श्रेष्ठता के कारण विद्वानों ने उन्हें महाकवि कालिदास की कोटि में प्रतिष्ठित किया है।

तोमरवंशी राजा वीरमदेव के राज्यकाल में पद्मनाभ कायस्थ ने संस्कृत यशोधर काव्य[2] (अपरनाम दयासुन्दर-काव्य) लिखा, जो कलापक्ष एवं भावपक्ष दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट कोटि की रचना मानी गई है।

कायस्थों की चतुराई, कार्यकुशलता एवं कला-प्रियता सुप्रसिद्ध रही है। जैन-प्रशस्तियाँ देखने से विदित होता है कि मध्यकालीन जैन-साहित्यकार कायस्थों को अपने व्यक्तिगत सहायक के रूप में भी रखते थे। मध्यकालीन अनेक जैनहस्तप्रतियाँ उन्हीं के द्वारा लिखी हुई उपलब्ध होती हैं। ऐसे लिपिकर्त्ताओं में गौगान्वय कायस्थ पण्डित, गन्धर्वपुत्र, वाहड, राजदेव (वि० सं० १३९१), कायस्थ साधु (वि० सं० १५८०), थल्हू कायस्थ (वि० सं० १४८९) एवं कायस्थ लक्ष्मण प्रमुख हैं। थल्हू कायस्थ तो सम्भवतः भट्टारक गुणकीर्त्ति एवं यशःकीर्त्ति के व्यक्तिगत सहायक तथा आशुलिपिक के रूप में भी नियुक्त थे, क्योंकि उनके अधिकांश ग्रन्थ थल्हू कायस्थ की प्रतिलिपि में प्राप्त होते हैं।

१. दे० केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि—प्रस्तावना, पृ० ३७।
२. अप्रकाशित (जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीकाकार के रूप में भी कुछ कायस्थ पण्डितों के नाम मिलते हैं, उनमें से अमरसिंह कायस्थ भट्टारक कमलकीर्त्तिकृत तत्त्वसार के एवं पं० गोविन्द पुरुषार्थानुशासन नामक ग्रन्थ के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।[1]

त्रिभुवन-स्वयम्भू ने लिखा है कि स्वयम्भू ने एक अपभ्रंश-व्याकरण की भी रचना की है किन्तु वह अभी तक अनुपलब्ध है। त्रिभुवन-स्वयम्भू ने उसके विषय में लिखा है कि "अपभ्रंश रूपी मत्तमातंग तभी तक स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करता है, जब तक कि स्वयम्भू का व्याकरण रूपी अंकुश उसके सिर पर नहीं आ पड़ता।" संभवतः इसी व्याकरण ग्रन्थ ने परवर्ती अपभ्रंश-काव्य-रचना को परिमार्जित करने में मार्गदर्शन किया होगा।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि स्वयम्भू के पूर्व भी चउमुह, द्रोण, ईसान तथा जोइंदु जैसे कवि अपभ्रंश में काव्य-रचना कर चुके हैं। उनके उपलब्ध उद्धरणों तथा जोइन्दु की रचनाओं की सुगठित प्रौढ़ अपभ्रंश-भाषा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयम्भू के पूर्व भी कोई अपभ्रंश-व्याकरण लिखा गया होगा, जिसने चउमुह आदि कवियों को उनके साहित्य-प्रणयन में उनका मार्ग-दर्शन किया होगा। वस्तुतः यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। इस पर गम्भीर शोध-खोज की आवश्यकता है।

स्थानाभाव के कारण यहाँ अन्य अधिक कवियों का परिचय दे पाना सम्भव नहीं है किन्तु हमारा विश्वास है कि स्वयम्भू, त्रिभुवन-स्वयम्भू, नयनन्दि, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल एवं रइधू आदि के द्वारा उल्लिखित कवियों की नामावली से १०० से अधिक ऐसे कवि एवं लेखक हैं, जिनपर अभी तक कोई सम्यक् विचार नहीं हुआ है। उस दिशा में भी यदि प्रयास किया जाय, तो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आ सकती है।

मध्यकालीन जैन कवियों ने प्रासांगिक एवं प्रकीर्णक रूप में तो ऐतिहासिक सामग्री को प्रस्तुत किया ही, अनेक स्वतन्त्र ऐतिहासिक काव्यों की भी उन्होंने रचनाएँ की हैं। ये काव्य एक ओर रोचक, सरस एवं मार्मिक होने के साथ-साथ काव्य के शास्त्रीय गुणों से समन्वित हैं। और दूसरी ओर उनके कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं या सामन्तों से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री भी प्रस्तुत की है। इस विधा के काव्यों में चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं चौहानवंशी राजाओं के तिथिक्रम, उनके प्रशासन सम्बन्धी कार्यों, राष्ट्र-रक्षा-हेतु युद्धों, राज्य के विकास सम्बन्धी कार्यों, साहित्य-संरक्षण एवं साहित्यकारों को दिए गये आश्रयदान, स्वयं सम्मान आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनमें से कुछ काव्य-ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें राजनैतिक, भौगोलिक अथवा साहित्यिक अथवा तीनों प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। ऐसे ग्रन्थों का पूर्ण परिचय स्थानाभाव के कारण यहाँ सम्भव नहीं है। अतः यहाँ उनका केवल नामोल्लेखमात्र ही किया जा रहा है।

ऐसे काव्यों में श्रुतावतार (इन्द्रनन्दि १२वीं सदी), परिशिष्ट-पर्व एवं कुमारपालचरित (हेमचन्द्र १२वीं सदी), वसन्तविलास (बालचन्द्र १३वीं–१४वीं शताब्दी), धर्माभ्युदयकाव्य

१. देखिये परिषद्-पत्रिका ९।१।२७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(उदयप्रभसूरि १३वीं सदी), जगडूचरित (सर्वानन्द १३१२–१५ वि० सं०), भूपालचरित (जयसिंह सूरि), कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ), प्रबन्ध-चिन्तामणि (मेरुतुंग १४वीं सदी का प्रारम्भ), पुरातनप्रबन्धसंग्रह, प्रबन्धकोष (अपरनाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध, राजशेखर सूरि वि० सं० १४०५), भानुचन्द्र चरित (सिद्धिचन्द्र उपाध्याय, १६वीं सदी), हम्मीरमहाकाव्य (नयचन्द्रसूरि १६वीं सदी), हरिसौभाग्यकाव्य, विविधतीर्थकल्प (अपरनाम कल्पप्रदीप, जिनप्रभसूरि १४वीं सदी) आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध में मध्यकालीन जैन साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया किन्तु इस विषय का यह अन्त नहीं है, बल्कि यह तो एक अतिसंक्षिप्त प्रारम्भिक भूमिका मात्र है। वस्तुतः जैन साहित्य में उपलब्ध सामग्री समय-समय पर अनेक कारणों से नष्ट भ्रष्ट होते रहने पर भी इस समय जितनी सामग्री उपलब्ध है, उसका भी यदि निष्पक्ष दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन एवम् मूल्यांकन हो सके तो भारतीय इतिहास के अनेक प्रच्छन्न, अस्पष्ट या अज्ञात तथ्यों तथा विशृंखलित अथवा त्रुटित कड़ियों को जोड़ने में सहायता मिल सकती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन वाङ्मय में नारी-शिक्षा

डॉ० निशानन्द शर्मा*

वैदिक परम्परा में नारी को सहधर्मिणी या अर्द्धाङ्गिनी रूप में अधिकतर उपस्थित किया गया है। नारी पुरुष की परछाईं की तरह चलती है। मनु धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि स्त्रियों का जाति कर्मादि संस्कार मन्त्रविहीन हो क्योंकि वे अज्ञानी होती हैं। मन्त्र की अनाधिकारिणी होने से उनकी स्थिति मिथ्या होती है।

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥[1]

विवाह ही उनके लिए वैदिक संस्कार है। पतिसेवा उनके लिए गुरु और गृह कार्य ही उनके लिए सायं-प्रातः होम परिचर्या है।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया॥[2]

उन्हें स्वतन्त्रता ही कहाँ है? फलतः पुरुष[3] से दूर रहकर स्वतन्त्र रूप से शुभकीर्ति सम्पादन करने तथा संन्यासिनी बन कर दार्शनिक चिन्तन करने के उनके उदाहरण अत्यल्प हैं।

जैन धर्म में नारी का स्थान

जैन परम्परा में नारी का पूर्ण विकास हुआ है और स्वतन्त्र नारी की गौरव कीर्त्ति अमर बनी है। इसमें स्वावलम्बी नारी जीवन की कल्पना प्रचुर मात्रा में मिलती है। पुरुष के साथ सहधर्मिणी होकर रहना उसके जीवन का कोई चूड़ान्त लक्ष्य नहीं, परन्तु यदि वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचर्य से रह कर भी आदर्श जीवन अतिवाहन करने के लिए स्वतंत्र रखी गयी है। वैदिक परम्परा में नारी का कोई धार्मिक संघ नहीं, परन्तु जैन संघ में सुश्राविका

---

* बिहिया, भोजपुर।

१. मनुस्मृति, ९।१८।

२. वही, २।६७।

३. पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ —वही, ९।३।
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनोवशे॥ —वही, ९।२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नारी और पूज्य साध्वी कठोर अनुशासन से एक अमर स्थान प्राप्त करती हैं और सैकड़ों हजारों नारियों का साध्वी-संघ भारत भूमि को पवित्र करता है।[१]

जैन धर्म नारी जीवन में आध्यात्मिकता को सींचता है जितना कि अन्य कोई प्राचीन संस्कृति नहीं सींचती। वैदिक परम्परा पतिव्रता नारी उत्पन्न करती है, बौद्ध परम्परा आठ गुरु धर्मों[२] में जकड़ी नीति प्रधान नारी को उत्तेजन देती है। जैन संस्कृति नारी में चाहे उसका गृहस्थ जीवन हो अथवा संन्यास जीवन हो आध्यात्मिक भावना की स्रोतस्विनी बहा कर उसे अपने जीवन के लिए अत्यन्त कर्त्तव्यशील और निष्ठावान बनाती है।[3]

जैन तीर्थंकरों ने अपने धर्मसंघ की स्थापना करते समय साधुओं के साथ साध्वियों एवं श्रावकों के साथ श्राविकाओं को भी समान स्थान देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की। पुरुषों की अपेक्षा स्त्री समाज में धार्मिक भावना की अधिकता आरम्भ से प्रतीत होती है। इसीलिए तीर्थंकर के साधु एवं श्रावकों से साध्वियों और श्राविकाओं की संख्या प्रायः दुगनी-तिगुनी पाई जाती है।[४]

सम्भवतः नारियों को तीर्थंकरों के समवसरण में भाग लेते हुए देख कर ही इसी का अनुकरण करते हुए अपनी विमाता महाप्रजापती गोतमी तथा अपने प्रिय शिष्य आनन्द के अनुरोध से बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति किसी तरह दे दी थी। परन्तु कुछ धार्मिक शिक्षा या शील के अतिरिक्त, "ऐसी स्थिति में यह अनुमान युक्तिसंगत नहीं कि बौद्ध धर्म के मध्याह्न में भी भारत में भिक्खुनी संघ ने स्त्री शिक्षा के लिए विशेष कार्य किए।"[५]

नारियों के अध्ययन के विषय

जैन वाङ्मय में निवद्ध आख्यानों से यह सिद्ध होता है कि पुरुषों के समान ही नारी शिक्षा का प्रचार था। "आदि देव भगवान् ऋषभदेव ने पुरुष को ७२ कलाएँ और स्त्रियों को ६४ कलाएँ सिखलाईं।"[६] पद्मानन्द काव्य में वर्णित "ऋषभदेव ने पुत्रों के समान ही

---

१. अगरचन्द नाहटा : कतिपय श्वेताम्बर विदुषी कवयित्रियाँ (चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, १९५४) पृ० ५७२।

२. अट्ठगुरुधम्मा—'चुल्लवग्गपालि' (नालन्दा सं०), पृ० ३७४-७५।

३. अगरचन्द नाहटा : कतिपय श्वेताम्बर विदुषी कवयित्रियाँ (चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, १९५४), पृ० ५७३।

४. वही, पृ० ५७०-७१।

५. "It seems hardly safe, therefore to conjecture that even when Buddhism was at its zenith in India it did very much for the education.

—F.E. Keay : Indian Education in Ancient & Later Times, 74.

६. अगरचन्द नाहटा : कतिपय श्वेताम्बर विदुषी कवयित्रियाँ, पृ० ५७०–१ (चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कन्याओं को गणित, लिपि और भाषा की शिक्षा दी थी।[1] इसका समर्थन पुरुदेवचम्पू में भी प्राप्त है"।

आदिपुराण से यह स्पष्ट है कि कन्याओं की शिक्षा अनिवार्य मानी गयी है। इसमें भी पूर्व कथन की पुष्टि होती है। 'अतिशय सुन्दरी देवी ने संख्याओं के मान क्रम, गणित-शास्त्र एवं वाङ्मय का विशेष अध्ययन किया। यहाँ पर स्मरणीय है वाङ्मय का तात्पर्य व्याकरण, अलङ्कार और छन्द से है। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों कन्याओं का पद ज्ञान व्याकरण श्लाघनीय था। उन्होंने आगम ज्ञान, समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने पिता के अनुग्रह से प्राप्त की थीं। अपनी बुद्धि और श्रम के कारण वे साक्षात् सरस्वती के समान प्रतीत होती थीं।

क्षत्र चूड़ामणि में आया है कि गुणमाला ने जीवन्धर के पास प्रेम-पत्र भेजा था तथा प्रत्युत्तर में जीवन्धर ने भी प्रेम-पत्र लिखा था, जिसे पढ़कर वह बहुत प्रसन्न हुई थी।[2]

शान्तिनाथचरित में वर्णित सत्यकि पुत्री सत्यभामा भी विदुषी थी।[3] धर्मामृत में आई हुई अनन्तमती की कथा से भी यह सिद्ध होता है कि माता-पिता किशोरावस्था में अपनी पुत्रियों को शिक्षा हेतु आर्यिका के समक्ष छोड़ देते थे। आर्यिकाएँ धर्म, आचार, गणित, एवं आगम आदि की शिक्षा देकर उन्हें सुशिक्षित बनाती थीं। तीर्थंकरों की माताएँ देवियों के प्रश्नों का उत्तर देती हैं, समस्यापूर्ति करती हैं और पहेलियाँ भी बुझाती हैं जैसा कि आदि पुराण में भी वर्णित है। इस प्रकार का ज्ञान वैदुष्य के बिना सम्भव नहीं है।[4] दमितार अपनी पुत्री कनकश्री को नृत्य संगीत की शिक्षा के लिए किराती एवं बावरी के वेषधारी अनन्तवीर्य को सौंपता है।[5]

शिक्षा की पद्धति क्या थी और कितने वर्ष का पाठ्य-क्रम था, इस की स्पष्ट जानकारी तो प्राप्त नहीं होती, पर पौराणिक आख्यानों से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि कन्याएँ आर्यिकाओं के सान्निध्य में विवाह वय प्राप्त होने के पूर्व तक निवास करती थीं। धर्मामृत के नवम आख्यान से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विद्याधर कुमारियाँ विभिन्न प्रकार की विद्याओं की साधना भी करती थीं। सीता, सोमा और रोहिणी के आख्यान भी उनके सुशिक्षित होने की ओर संकेत करते हैं।

---

१. पद्मानन्द, बड़ौदा (१९३२ ई०)।

२. क्षत्र चूडामणि ४।४३।

३. शान्तिनाथचरित, १।१२१-२२।

४. वीरनन्दीकृत चन्द्रप्रभचरित, १६।७०।
धर्मशर्माभ्युदय, पंचम सर्ग
असगकविकृत वर्द्धमान चरित, १७।३२-३८।

५. शान्तिनाथचरित, ९।७१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिवंशपुराण में इन्द्रगिरि राजा की पुत्री गान्धारी का आख्यान आया है। इस आख्यान में बतलाया गया है कि गान्धारी गान्धर्व कला में अत्यन्त प्रवीण थी।[1] उसकी कला की प्रशंसा सभी मुक्त कण्ठ से करते थे।

पद्मपुराण में बतलाया गया है कि धन, विद्या और धर्म इनकी प्राप्ति विदेश में होती है।[2] अतः कन्याओं की शिक्षा आर्यिकाओं के समीप किसी चैत्यालय अथवा मुनि संघ में होती थी। इस प्रकार की संस्थाएँ चलती-फिरती छोटी पाठशालाओं के रूप में प्रतिष्ठित थीं। पुत्र मुनि और उपाध्याय के समीप शिक्षा प्राप्त करते थे तथा कन्याएँ आर्यिकाओं और क्षुल्लिकाओं के समीप शिक्षा प्राप्त करती थीं। इन चलती-फिरती विद्यापीठों के अतिरिक्त कुछ ऐसे गुरुकुल भी विद्यमान थे जिसमें उच्चकोटि की शिक्षाएँ ग्रहण की जाती थीं। मङ्गलनगर के नृपति शुभमति की कन्या केकया ने समस्त विद्याओं और कलाओं में प्रवीणता प्राप्त की थी।

पद्मपुराण में वर्णित केकया की शिक्षा से तत्कालीन जैन समाज में कितनी प्रकार की विद्याओं की शिक्षा दी जाती थीं, इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।[3] केकया ने अंगहाराश्रय, अभिनयाश्रय और व्यायामिक इन तीनों प्रकार के नृत्यों की शिक्षा प्राप्त की थी। उसने कण्ठ, सिर और उर स्थल से अभिव्यक्त होने वाले सप्त स्वरात्मक संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद इन सप्तस्वरों का परिज्ञान उसने प्राप्त किया था। द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीन लयों तथा अस्र और चतुरस्र इन दो प्रकार की तालों तथा स्थायी, संचारी, आरोही और अवरोही इन चार प्रकार के पदों का परिज्ञान प्राप्त किया था। प्रातिपदिक, तिङन्त, उपसर्ग और निपात इन चार प्रकार के व्याकरण पदों के संस्कार से प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी तीन प्रकार की भाषाओं को सीखा था। धैवती, आर्षभी, षड्ज-षडजा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्ज कैकशी, और षड्ज मध्यमा इन आठ जातियों अथवा गान्धार-दीच्या, मध्यम पंचमी, गान्धार-रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यमोपदीच्या, कर्मारवी, नन्दिनी और कैशिकी इन दश जातियों के संगीत का ज्ञान प्राप्त किया था। स्थायी प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, मध्य प्रसाद और प्रसन्नाद्यवसान इन चार अलङ्कारों का, संचारी पद के निर्वृत्त, प्रस्थित, विन्दुप्रेंखोलित, तार-मन्द्र और प्रसन्न इन छः अलङ्कारों का, आरोही पद, प्रसन्नादि अलङ्कार का एवं अवरोही पद के प्रसन्नान्त और कोहर नामक दो अलङ्कारों का अध्ययन किया। इस प्रकार सङ्गीत विद्या को परिपक्व बनाने के लिए तेरह प्रकार के सङ्गीत सम्बन्धी अलङ्कारों की जानकारी प्राप्त की गयी थी।

वाद्य सम्बन्धी शिक्षा में वीणा से उत्पन्नतत, मृदङ्ग से उत्पन्न होने वाला अवनद्ध, बाँसुरी से उत्पन्न होने वाला शुषिर और ताल से उत्पन्न होने वाला घन इन चार प्रकार

---

१. हरिवंश पुराण, ४४।४५।४६ ··· ५०, ५१।
२. पद्मपुराण (रविषेणाचार्यकृत), भाग १, २५।४४ पृ० ४९२। सम्पादक और अनुवादक—पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य।
३. वही २०१५-८३, पृ० ४७८-४८४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के वाद्य सङ्गीतों की शिक्षा प्राप्त की थी। इस प्रकार गीत, नृत्य और वादित्र इन तीनों का सम्यक् परिज्ञान उसने प्राप्त किया था। श्रृङ्गार, हास्य, करुण, अद्‌भुत, वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त इन रसों का एवं उनके आवान्तर भेदों की भी शिक्षा प्राप्त की थी।

जो लिपि अपने देश में आमतौर से प्रचलित रहती है उसे अनुवृत्त कहते हैं। लोग अपने-अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना कर लेते हैं, उसे विकृत कहते हैं। प्रत्यङ्ग आदि वर्णों जिसका प्रयोग होता है, उसे सामयिक कहते हैं और वर्णों के बदले पुष्पादि पदार्थ रख कर जो लिपि का ज्ञान किया जाता है, उसे नैमित्तिक कहते हैं। इस लिपि के प्राच्य, मध्यम, यौधेय, समाद्र आदि देशों को अपेक्षा अनेक आवान्तर भेद वर्णित हैं। केकया ने इन समस्त लिपि ज्ञान को प्राप्त कर लिया था। स्थान, स्वर, संस्कार, विन्यास, काकु, समुदाय, विराम, सामान्याभिहित, समानार्थत्व और भाषा इन जाति भेदों को भी सीखा था। पद-वाक्य और महावाक्य को शिक्षा सम्यक् प्रकार प्राप्त कर वाङ्‌मय के रहस्य को अवगत किया था।

गद्य-पद्य और चम्पू इन तीनों प्रकार के काव्य रूपों का अध्ययन कर एकार्थक और पर्यायवाची शब्दों की जानकारी प्राप्त की थी। व्यक्तवाक्, लोकवाक् और मार्ग व्यवहार इन मातृकाओं की शिक्षा भी केकया ने उपलब्ध की थी।

भाषण के चातुर्य को उक्ति-कौशल कहा जाता है। प्राचीन भारत में नर और नारी दोनों ही भाषण-कला की शिक्षा प्राप्त करते थे। जो जितना उक्ति-कौशल में प्रवीण होता था वह उतना ही लोक में समादर का पात्र माना जाता था। सामान्यतया मनुष्य अपनी वाणी के बल से ही जनसमाज को अपनी ओर आकृष्ट करता है। जिसकी वाणी में जितना चातुर्य सन्निहित रहता उसका भाषण उतना ही जन सामान्य को अपनी ओर आकृष्ट करने में सक्षम होता है। नारी-शिक्षा में भाषण कला भी परिगणित की गयी है।

चित्रकला की शिक्षा नारियों के लिए आवश्यक मानी गयी है। चित्र दो प्रकार के बतलाये गये हैं—नाना शुष्क और वर्जित। चावलों के कणों, धूलिकणों एवं मृत्तिका आदि से भी चित्र बनाये जाते थे।

नारी-शिक्षा में पुस्तकर्म को भी स्थान दिया गया है। पुस्तकर्म के तीन भेद हैं—क्षयजन्य पुस्तकर्म, उपचयजन्य पुस्तककर्म और संक्रमणजन्य पुस्तकर्म। क्षयजन्य पुस्तकर्म के अन्तर्गत लकड़ी को छिलछाल कर लकड़ी के खिलौने बनाना एवं काष्ठ पदार्थों से घर्षण आदि द्वारा उपयोगी वस्तुएँ तैयार करना क्षयजन्य पुस्तकर्म है। ऊपर से मिट्टी आदि लगा कर खिलौने बनाना एवं अन्य ग्रहोपयोगी सामान तैयार करना उपचयजन्य पुस्तकर्म है। साँचे में मिट्टी पत्थर या अन्य प्रकार की गली हुई वस्तुओं को डाल कर मूर्त्तियाँ, विभिन्न आकृतियाँ एवं प्रतिबिम्ब तैयार करना संक्रमणजन्य पुस्तकर्म है, जो खिलौने तैयार किए जाते थे, उनमें से कुछ खिलौने में यन्त्र लगे रहते थे।[1] अतः वे यन्त्र द्वारा संचालित होने के कारण

१. यशस्तिलकचम्पू : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन्त्र पुस्तकर्म कहलाते थे। कतिपय खिलौने में छिद्र रहते थे और कुछ में उनका अभाव ही रहता था। छिद्र सहित खिलौने के रमणीय रूप बनाना कुछ कठिन अवश्य माना जाता था।

सिलाई-कढ़ाई की भी शिक्षा उस समय दी जाती थी। इस शिक्षा को जैन वाङ्मय में बुष्किम कहा है। सूई द्वारा कपड़े पर कढ़ाई का कार्य करना अथवा हाथी दांत के ऊपर महीन कुचिका अथवा छेनी-हथौड़ी द्वारा आकृतियाँ उत्कीर्ण करना बुष्किम के अन्तर्गत है। बुष्किम के दो भेद हैं—छिन्न और अछिन्न। छिन्नकर्म में कैंची से काट कर कपड़े को सीना तथा विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की, रेशम या अन्य किसी जरी आदि के तनों से कढ़ाई का कार्य करना छिन्न के अन्तर्गत आता है। पत्रच्छेद्यक्रिया के वर्णन में आज की सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, कताई आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। नारियों के लिए यह शिक्षा अनिवार्य मानी गयी है।

माला बनाना प्राचीन भारत की एक कला है। राजकुमारियाँ और सामान्य कन्याएँ माला बनाने की कला में प्रवीणता प्राप्त करती थीं। प्राचीन भारत में माला निर्माण करने की कला अत्यन्त विकसित और समृद्ध थी। केकया ने पुष्प, अक्षत, शुष्क पत्र, यव आदि पदार्थों द्वारा माला निर्माण करने की शिक्षा भी प्राप्त की थी। प्राचीन काल में चावलों के सीथ अथवा यवादि से माला बनाने की क्रिया को तदुज्झित कहा गया है। रण-प्रबोधन, व्यूह-संयोग आदि भेदों सहित माल्यकर्म को भी बुद्धिमती केकया अच्छी तरह जानती थी।

औषधि-विज्ञान, रसविज्ञान एवं इत्र-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। बतलाया गया है कि योनि द्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुण-दोष विज्ञान एवं कौशल की शिक्षा गन्ध योजना के आवश्यक अंग थे। व्याख्या करते हुए स्वयं आचार्य रविषेण ने बताया है कि जिनसे सुगन्धित पदार्थों का निर्माण होता है, ऐसे अगर, तगर, चन्दन आदि का परिज्ञान प्राप्त करना योनि द्रव्य विज्ञान है। धूपबत्ती एवं सुगन्धित पदार्थों का आश्रय क्या हो सकता हैं और किस आश्रय में रखने से सुगन्धित पदार्थों की सुगन्धित वृद्धिगत हो सकती हैं, इसकी जानकारी अधिष्ठान-विधि द्वारा प्राप्त की जाती थी।

कटु, मधु, तिक्त, कषायला, अम्ल एवं लवण आदि षड् रस पदार्थों का परिज्ञान प्राप्त करना और संयोगी पदार्थों द्वारा संयोगी रसों का सृजन, विधि प्राप्त करना, रस-ज्ञान-कला में परिगणित है।

भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और चूष्य पाँच प्रकार के भोजन सम्बन्धी पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया को सीखना एवं सुस्वादु और आरोग्य-वर्द्धक भोजन-विधियों का परिज्ञान प्राप्त करना नारी-शिक्षा में परिगणित था।

सोना, चाँदी, मोती, हीरा, जवाहरात आदि का सम्यक् परिज्ञान और उक्त पदार्थों के गुण-दोषों की जानकारी भी नारियाँ प्राप्त करती थीं। वस्त्रों को रंगना और उन पर ठप्पे लगाना तथा धागे द्वारा वस्त्रों की कढ़ाई के कार्य करना भी शिक्षा में सम्मिलित था। लोहा,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दंत, लाख, क्षार पत्थर और सूत आदि से नाना प्रकार के खिलौने, वस्त्र एवं गृहोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करना नारी-शिक्षा के अन्तर्गत बताया गया है।

मेय, देश, तुला और काल भेद से विभिन्न प्रकार के मानों का परिज्ञान प्राप्त करना एवं वस्तुओं के ठीक नाप-तौल को जानना भी शिक्षा के अन्तर्गत था।

जीव-विज्ञान, जन्तुविज्ञान, चिकित्साविज्ञान (विशेषतः बाल पोष या धातु विज्ञान), निदान विज्ञान आदि की शिक्षा दी जाती थी। कन्दुक क्रीड़ा, अक्ष कीड़ा, वीणा क्रीड़ा आदि को शिक्षा भी महत्त्वपूर्ण है।

भूगोल, इतिहास, वनस्पतिशास्त्र की भी शिक्षा राजकुमारियाँ प्राप्त करती थीं। इतना ही नहीं संवाहन कला की शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी। संवाहन कला के दो भेद बताए हैं — कर्मसंश्रया और शय्योपचारिका। त्वचा, मांस, अस्थि और मन इन चारों को सुख पहुचाने के कारण कर्मसंश्रया के चार भेद बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त संस्पृष्ट, गृहीत मुक्ति, चलित, आहत, भंगित, विद्ध, पीड़ित और भिन्नित भेद भी आए हैं। मृदु, मध्य और प्रकृष्ट के भेद से प्रत्येक संवाहन कला के तीन-तीन उपभेद हैं। जिस प्रकार संवाहन कला में शरीर के सुख पहुँचाने वाले कारण गुण कहलाते हैं, उसी प्रकार कष्ट पहुँचाने वाले साधन दोष हैं। दोषों के अन्तर्गत रोमों का उदवर्त्तन, केशाकर्षण, भ्रष्टप्रस, अद्भुत, अमार्गप्रयात, अतिभुग्नक, अदेशाहन, अन्यर्थ और अवसुप्तप्रतीपक की गणना की गयी है। आसनों का अर्थ यही है कि जिस स्थिति से या लेटने से संवाहन क्रिया करने पर सुख की अनुभूति हो वही आसन सुखप्रद है।

स्नान करना, सिर के बाल गूंथना तथा उन्हें सुगन्धित करना यह शरोर संस्कार वेष कौशल नामक कला कहलाती है। केकया इसे अच्छी तरह जानती थी।

इस प्रकार केकया की शिक्षा विधि से तत्कालीन राजकुमारियों और सामान्य नारियों की शिक्षा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

नारियों में संगीत शिक्षा का उल्लेख जैन वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों में मिलता है। जिनसेन प्रणीत हरिवंशपुराण (वि० सं० ८४०) के १८वें सर्ग में चारुदत्त सेठ की पुत्री गन्धर्वसेना ने चम्पापुरी में वसुदेव से सङ्गीत विषयक अनेक कठिन प्रश्न शास्त्रार्थ में पूछे थी। यद्यपि वसुदेव ने युक्तिपूर्ण उत्तर दिए फिर भी उससे उसका सङ्गीत एवं गान्धर्व विद्या के गम्भीर अध्ययन का पता चलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नियमसार : कतिपय विशेष सन्दर्भ

डॉ० ऋषभचन्द्र फौजदार*

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ दिगम्बर परम्परा में आगमतुल्य मानी जाती हैं। उनकी रचनाओं में नियमसार, समयसार आदि ग्रन्थों से किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है। नियमसार में जैन श्रमणाचार का प्रतिपादन बहुत ही स्पष्ट रीति से किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके केवलियों और श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गये नियमसार को कहने की प्रतिज्ञा की है।

'नियमसार' नाम की सार्थकता स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जो नियम से करने योग्य है, वह **'नियम'** ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इनसे विपरीत भावों का परिहार करने के लिए **'सार'** पद कहा गया है।[1] आचार्य ने नियम शब्द से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ग्रहण किया है। यही तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं। इन तीनों को ही रत्नत्रय भी कहते हैं। मोक्षमार्ग के लिए नियम शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द ने ही किया है जो अन्यत्र कहीं देखने का नहीं मिलता। वे कहते हैं कि नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल परमनिर्वाण है।[2]

नियमसार को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने भागवतशास्त्र कहा है और इसके अध्ययन का फल शाश्वत सुख बताया है। इसे टीकाकार के शब्दों में देखिये—"भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाधनिरन्तर-अनंगपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरञ्जननिजकारणपरमात्मभावनाकारणंसमस्तनयनिचयाञ्चितं पंचमगतिहेतुभूतं पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चय-व्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपंचाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारकल्पना-निरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति।"[3]

आचार्य की प्रतिज्ञानुसार नियमसार का प्रतिपाद्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम और उसका फल निर्वाण है, लेकिन इसमें नियम से सम्बन्धित अन्य विषय भी आ गये हैं, जिनका उल्लेख टीकाकार इस प्रकार करते हैं—'किञ्चास्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादन-

---

* सम्पादक, जैन सिद्धान्त भास्कर, महाजन टोली नं० २, आरा (बिहार)।

१. नियमसार, गा० ३।

२. वही, गा० ४।

३. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गा० १८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्थस्य नियमशब्दसंसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचार-प्रपञ्चस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान-प्रायश्चित्त-परमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डा-डम्बरसमृद्धस्य उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य...।[१]

नियमसार की रचना के विषय में कुन्दकुन्द ने स्वयं लिखा है कि यह शास्त्र मैंने निजभावना के निमित्त रचा है। यथा—

णियभावणाणिमित्तं, मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवएसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥ गाथा १८७ ॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी रचनाओं में कहीं भी अपना उल्लेख नहीं किया। मात्र 'बारस अणुवेक्खा' की अन्तिम गाथा में उनके नाम का उल्लेख पाया जाता है। इसके अलावा उन्होंने अपनी कई कृतियों में कहा है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह केवलियों और श्रुत-केवलियों द्वारा कथित है। किन्तु नियमसार की उक्त १८७वीं गाथा में 'मए कदं' शब्द का प्रयोग है। आचार्य की अन्य किसी भी कृति में ऐसा उल्लेख नहीं है। यहाँ यह विचारणीय है कि आचार्य ने नियमसार की १८५वीं गाथा में अपनी प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थ समाप्ति की सूचना इस प्रकार दी है—

णियमं णियमस्स फलं, णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि, अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥ गा० १८५ ॥

इस गाथा को यदि ग्रन्थ की उपसंहार गाथा मान लिया जाये तो यह विचारणीय होगा कि अन्तिम दो गाथाएँ (१८६–१८७) बाद में तो नहीं जोड़ दी गई। इस सन्दर्भ में पूर्वोक्त यह कथन विशेष महत्त्व रखता है कि कुन्दकुन्द की किसी अन्य कृति में 'मएकदं' नहीं कहा गया है। आचार्य इस उपसंहार गाथा की टीका करते हुए तात्पर्यवृत्तिकार ने भी इस प्रकार लिखा है—"शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोऽयम्। नियमस्तावत् शुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः। तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम्। न कवित्व-दर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति...।[२]

नियमसार में कुन्दकुन्द ने जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन षड्द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा है।[3] इन्हीं का विवेचन किया है। सम्यग्दर्शन के स्वरूप विचार के प्रसंग में आचार्य ने आप्त और आगम का संक्षिप्त किन्तु ठोस वर्णन किया है। सम्यग्ज्ञान पर विचार करते हुए उसके दो भेद किये हैं—(१) स्वभावज्ञान और (२) विभावज्ञान। स्वभावज्ञान इन्द्रियरहित और असहाय केवलज्ञान है। शेष मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान और

---

१. वही, ता० वृ० टीका, गा० १८७।
२. नियमसार, ता० वृ० गा० १८५।
३. नियमसार, गा० ९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुमति-कुश्रुत तथा कुअवधिज्ञान विभावज्ञान कहे हैं। नियमसार में कुन्दकुन्द ने केवलज्ञान का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि आत्मा को ज्ञान जानो और ज्ञान को आत्मा जानो, इसमें सन्देह नहीं है।[1]

सम्यक्चारित्र के वर्णन में सर्वप्रथम व्यवहारचारित्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह, त्याग, इन पाँच महाव्रतों का, पश्चात् पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा पाँच परमेष्ठियों के स्वरूप कहे गये हैं। निश्चयचारित्र के अन्तर्गत प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि और परमभक्ति के रूप आवश्यकों का निरूपण करते हुए आवश्यक के स्वरूप का विस्तृत प्रतिपादन किया है। यह सब कथन आचार्य ने श्रमणाचार को ध्यान में रखकर किया है।

उक्त नियमरूप मोक्षमार्ग के फल के रूप निर्वाण की व्याख्या आचार्य इस प्रकार करते हैं—जहाँ दुःख, सुख, पीड़ा, बाधा, मरण, जन्म, इन्द्रियाँ, उपसर्ग, मोह, विस्मय, निद्रा, तृषा, क्षुधा, कर्म, नोकर्म, चिन्ता, आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान नहीं हैं, वहीं निर्वाण है।[2] आचार्य ने निर्वाण को ही सिद्ध और सिद्ध को ही निर्वाण कहा है।[3] निर्वाणप्राप्त जीवों (सिद्धों) के स्वभाव गुणों का कथन करते हुए वे कहते हैं कि निर्वाण में केवलज्ञान, केवलसौख्य, केवलवीर्य, केवलदृष्टि, अमूर्त्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व रहते हैं।[4] ये गुणमात्र सात ही हैं। जबकि सिद्धों के आठ गुण कहे गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नियमसार में कुन्दकुन्द ने कई विशिष्ट तथ्यों का प्रतिपादन किया है, जिन पर विचार करना आवश्यक होगा।

---

१. अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ॥ गा० १७१ ॥
२. वही गा० १७९–१८१।
३. वही गा० १८३।
४. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ गा० १८२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण-संस्कृति के पुण्यप्रतीक : इन्द्रभूति गौतम

डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन*

इन्द्रभूति गौतम श्रमण संस्कृति के उस विराट् व्यक्तित्व का नाम है, जिसने उसे जीवित बनाए रखने के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। महान् व्यक्तित्व किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय की परिधि के घेरे में बँध कर नहीं रह सकता। क्योंकि सार्वजनीनता उसके जीवन का प्रमुख लक्ष्य रहता है। चाहे महर्षि जनक हों, चाहे राम और कृष्ण अथवा बुद्ध और महावीर। सबके जीवन की यही विशेषता देखी जाती है। हमारे प्रस्तुत निबन्ध के प्रधान नायक गौतम-गणधर की भी यही विशेषता है। उन्होंने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया और वेद-वेदांगों में विशिष्ट नैपुण्य प्राप्त किया और इसके प्रचार-प्रसार के लिए एक विशाल वैदिक-विद्यापीठ की स्थापना भी की, जिसमें उनके ५०० शिष्यों ने गहन अध्ययन किया। किन्तु एक निष्णात विद्वान् की यह विशेषता होती है कि वह परिस्थिति-विशेष में अपने जीवन की समस्त धारा को भी बदल देता है। गौतम के साथ भी यही हुआ। श्रमण-संस्कृति के महान् प्रचारक तीर्थंकर महावीर का उन्होंने शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

प्राचीन वाङ्मय के अनुसार हुआ यह कि उनके समकालीन वैशाली-पुत्र महावीर ने कैवल्य की प्राप्ति की और उन्हें एक ऐसे सहयोगी शिष्य की आवश्यकता का अनुभव हुआ, जो उनकी सूक्ष्म सांकेतिक वाणी को ग्रहण कर उसका विशेषण कर सके। पुराणों के अनुसार कहा जाता है कि जब भगवान् महावीर के प्रवचन के लिए समोशरण अर्थात् ऑडीटोरियम का निर्माण किया गया, तब देवों ने उसके मुख्य द्वार पर मानस्तम्भ की रचना भी की। इतना सब होने पर भी जब महावीर का प्रवचन प्रारम्भ न हुआ तब इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई और उसने अवधिज्ञान के बल पर यह अनुभव किया कि उन्हें एक प्रकाण्ड विद्वान् पट्टधर की आवश्यकता है। चूंकि यह घटना राजगृह नगरी के विपुलाचल की है और उसी के समीप उक्त गौतम की वैदिक-विद्यापीठ थी, अतः वह उसके पास सामान्य व्यक्ति के रूप में पहुँचा और उनको आकर्षित करने के लिए निम्न प्रश्न पूछा—

"पंचेवअत्थिकाया, छज्जीव-णिकाया, महव्वया पंच।
अट्ठयपवयण-मादा सहेउओ बंध-मोक्खो य[1]॥

गौतम ने इस प्रकार के दार्शनिक तत्त्वों की जानकारी प्राप्त नहीं की थी, इसलिए वे इस प्रश्न को सुनकर बड़े आश्चर्य-चकित हो उठे और बहुत प्रयत्न करने के बाद भी जब इसका उत्तर न बन पड़ा तो उन्होंने उल्टे इन्द्र से ही इस प्रश्न का उत्तर पूछा। छद्मवेशधारी इन्द्र स्वयं अज्ञानी

---

* महाजन टोली नं० २, आरा।

१. षट्खण्डागम, धवला पु० ९, पृ० १२९ से उद्धृत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन गया और उन्हें कहा कि इसका उत्तर श्रमण महावीर ही दे सकते हैं। गौतम जिज्ञासा-वश महावीर के पास पहुँचे, उसके पूर्व मानस्तम्भ के पास पहुँचते ही उनके ज्ञान का अहंकार बह गया और महावीर के सान्निध्य में पहुचते ही उन्हें इन्द्र के प्रश्न का उत्तर स्वतः ही मिल गया।

यद्यपि गौतम-गणधर के विषय में जैनधर्म की विभिन्न परम्पराओं में विविध प्रकार के कथानक उपलब्ध होते हैं, लेकिन सभी का लक्ष्य एक ही है, इन्द्रभूति गौतम एवं भगवान् महावीर का साक्षात्कार करवाना। इस साक्षात्कार के बाद भगवान् महावीर ने यावद्जीवन जितने भी प्रवचन दिए, उन सबका विश्लेषण किया इन्द्रभूति गौतम ने। आज यदि इन्द्रभूति गौतम न होते तो सम्भवतः महावीर-वाणी ही हमारे सम्मुख न होती। श्रमण-संस्कृति में ये दोनों युगपुरुष एक-दूसरे के सहयोगी पूरक कहे जा सकते हैं। भले ही गौतम द्वारा रचित कोई मौलिक रचनाएँ उपलब्ध न हों लेकिन यह सत्य है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व को महावीर के जीवन-दर्शन के साथ इतना मिश्रित कर दिया कि उसकी उन्होंने कोई आवश्यकता ही न समझी। जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है कि यदि गौतम महावीर की वाणी का विश्लेषण न करते तो हमारे सामने उनका एक भी उपदेश-वाक्य जीवित न होता। इसलिए उनको जैन-साहित्य में तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर अर्थात् प्रथम शिष्य को उपाधि से विभूपित किया गया है। परवर्ती कालों में वे इन्द्रभूति के नाम से कम जाने जाते हैं, गौतम-गणधर के नाम से अधिक।।

यह आश्चर्य का विषय है कि इतने महान् ओजस्वी एवं प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष के विषय में संस्कृत, प्राकृत एवं अन्य भाषाओं में विस्तृत जीवन-परिचय नहीं लिखा गया। जैनेतरों ने तो महावीर के शिष्यत्व स्वीकार करने के पश्चात् उन्हें सर्वथा भुला ही दिया। जैन लेखकों ने भी उनके विषय में बहुत कम लेखनी उठाई है। जो कुछ उपलब्ध भी होता है, वह नगण्य जैसा है। फिर भी उनके विषय में जो भी साहित्य उपलब्ध होता है उसका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

गौतम गणधर के विषय में उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) अर्द्धमागधी आगम साहित्य में वर्णित कुछ जीवन घटनाएँ,
(२) शौरसेनी आगम-साहित्य में वर्णित कुछ घटनाएँ,
(३) अपभ्रंश-साहित्य में वर्णित कुछ घटनाएँ,
(४) संस्कृत में उपलब्ध महाकाव्य-शैली में वर्णित गौतम चरित्र,
(५) रासा शैली में वर्णित उपलब्ध कुछ खण्डकाव्य, एवं
(६) आधुनिक शैली में लिखित गौतम चरित्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) अर्द्धमागधी आगम-साहित्य में इन्द्रभूति गौतम के उल्लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं किन्तु वे उल्लेख उनके व्यक्तिगत जीवन पर कम और दार्शनिक जीवन पर अधिक प्रकाश डालते हैं—

सूत्रकृतांग में वर्णित उदक पेढाल की कथा, उवासगदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक के साथ वार्तालाप-प्रसंग तथा उत्तराध्ययन सूत्र में केशी-गौतम संवाद आदि।

इन प्रसंगों में आनन्द श्रावक के वार्तालाप में दर्शन के अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत निर्मल चरित्र पर अधिक प्रकाश पड़ता है कि वे चरमकोटि के प्रतिभाशाली होते हुए भी अत्यन्त विनयशील थे।

(२) शौरसेनी परम्परा में षट्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में गौतम-गणधर के उल्लेख मिलते हैं। धवला और जयधवला टीकाओं में वीरसेन स्वामी ने इन्द्रभूति को निर्मल ज्ञानधारी, ब्राह्मणोकुलोत्पन्न एवं गौतम गोत्रीय कहा है और यह भी बतलाया है कि पांच अस्तिकाय एवं छहद्रव्य सम्बन्धी शंकाओं के समाधान के लिए वे तीर्थंकर महावीर के सान्निध्य में पहुँचे थे।

(३) आचार्य जिनसेन ने तीर्थंकर महावीर के प्रसंग में आदिपुराण के द्वितीय पर्व के ३४ श्लोकों में इन्द्रभूति गौतम की प्रशंसा की है, जिसमें स्तुति के रूप में उनके गुणों की प्रशंसा की गई है।

इसी प्रकार अनेक कवियों ने भी गौतम-गणधर का स्मरण किया है लेकिन उनके समग्र जीवन पर प्रकाश डालने वाली रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती।

१५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गौतम स्वामी पर कुछ लेखकों ने प्रबन्ध-काव्य शैली में उनके जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ लिखी हैं। इनमें गौतमरास (विनयप्रभ उपाध्याय वि० सं० १४१२), सम्मईजिणचरिउ (महाकवि रइधू वि० स० १४५७-१५२६)। गौतम चरित्र (संस्कृत, मंडलाचार्य धर्मचन्द्रजी भट्टारक वि० सं० १७२६), महावीररास (महाकवि पद्मकृत १७वीं सदी), गौतमरास (ऋषि रायचन्द्र समय—वि० सं० १८३९) और आधुनिक ग्रन्थों में गणेश मुनि शास्त्रोक्त इन्द्रभूति गौतम प्रमुख हैं।

ये रचनाएँ इन्द्रभूति गौतम के जीवन दर्शन पर विस्तृत प्रकाश डालती हैं। यद्यपि तथ्यों में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। इसका मूल कारण उन-उन लेखकों के सम्मुख विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ एवं दन्तकथाएँ रही होंगी, जिनके शोध-खोज की आवश्यकता है। उपलब्ध इस सामग्री का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

गौतमरास—गौतम रास नामक ग्रन्थ रासा शैली में लिखा गया एक खण्डकाव्य है। इसमें गौतम के चरित्र का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया है। सम्भवतः यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें गौतम का चित्रण स्वतन्त्र रूप में किया गया है। इस ग्रन्थ में गौतम के जीवन की आद्योपान्त घटनाओं का वर्णन किया गया है, जिसमें भाव-तत्व के साथ-साथ काव्यतत्व भी विद्यमान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वानों के अन्तरङ्ग-वहिरङ्ग परीक्षण के पश्चात् इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री विनयप्रभ उपाध्याय सिद्ध होते हैं, जो मुनि एवं कवि भी थे।[1] उन्होंने इसकी रचना वि० सं० १४१२ में गौतमस्वामी के कैवल्य-महोत्सव के अवसर पर की थी। उसकी कथा निम्न प्रकार है—

मगध देश में राजगृह के समीप गुब्बर नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम वसुभूति एवं माता का नाम पृथ्वी था। उनका मूल नाम इन्द्रभूति एवं गोत्र गौतम था। उनके शरीर की ऊँचाई ७ हाथ थी। इन्द्रभूति ५०० शिष्यों के प्रतिभा सम्पन्न गुरु थे। एक बार भगवान महावीर का समवशरण राजगृही नगरी में आया। हजारों नर-नारियों एवं देवताओं को वहाँ जाते देखकर गौतम को अपने ज्ञान का अहंकार हो गया और वे अपने ५०० शिष्यों सहित महावीर के समवशरण में शास्त्रार्थ हेतु गए। महावीर ने उनकी शंकाओं का समाधान वेदों के प्रमाण देकर ही किया जिससे गौतम का गर्व चूर हो गया और वे उसी समय अपने शिष्यों सहित दीक्षित हो गए। अनुक्रम से ११ प्रधान वेद-ज्ञाताओं ने महावीर से दीक्षा ग्रहण की। यही शिष्य उनके ११ गणधर कहलाए। उनमें इन्द्रभूति प्रथम गणधर थे।

महावीर से जो भी दोक्षा ग्रहण करता था उसे कुछ समय पश्चात् केवलज्ञान हो जाता था, किन्तु गौतम ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें महावीर के समय तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकी थी। इसका कारण था महाबीर के प्रति उनका राग-भाव। ७२ वर्ष की आयु में महावीर ने गौतम को निकटवर्ती ग्राम में उपदेश के लिए भेज दिया। उनके जाने के पश्चात् ही महावीर को निर्वाण प्राप्ति हो गई। महावीर के निर्वाण को जानकर गौतम को अत्यधिक दुःख हुआ। वे सोचने लगे कि भगवन् ने मुझे जान बूझकर अपने से अलग भेज दिया होगा कि कहीं मैं बालक के समान हठ करके उनसे कैवल्य न माँग बैठूं। उन्होंने सच्चा स्नेह नहीं किया। इस प्रकार विलाप करते हुए उनके ध्यान में यह बात आई कि महावोर तो वीतरागी थे, उनसे राग-भाव कैसा? और इस ज्ञान के पश्चात् ही गौतम केवली हो गए। गौतम ने ५० वर्ष तक गृहस्थ-जीवन बिताया। ३० वर्ष तक वे संयमित अवस्था में रहे और १२ वर्ष तक केवली रूप में विचरण किया। इस प्रकार ९२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति की।

कथा का यही सारांश है। कवि ने अनेक उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं के द्वारा चरित-नायक की विशिष्टताओं का दिग्दर्शन कराया है। प्रस्तुत रचना में काव्य के सभी गुण वर्त्तमान हैं। प्रकृति चित्रण भी कवि की प्रतिभा का परिचायक है। उदाहरणार्थ—

"जिम सहकारिहिं कोयल टहकउ।
जिम कुसुमह वनि परिमल बहकउ, जिन चँदनि सोगन्ध विधि।
जिम गंगाजल लहरिहिं लहकइ।
जिम कणयाचलु सेजिहिं झलकइ ति तिम गोयम सोभागनिधि॥"

---

१. जैन गुर्जर कवियों, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, भाग १; पृ० १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गौतम रास का उद्देश्य मानव-जीवन को असद्‌प्रवृत्तियों से हटाकर सद्‌वृत्तियों की ओर उन्मुख करना है। गौतम का चरित्र आध्यात्मिक-साधना का ज्वलन्त उदाहरण है। प्रत्येक मानव उनके चरित्र से संयम एवं साधना की शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बना सकता है।

रचना का पर्यवसान निर्वेद में हुआ है।

सम्मइजिणचरिउ—तत्पश्चात् महाकवि रइधू कृत (वि० सं० १४३०–१५२६) सम्मइजिणचरिउ में इनका वर्णन मिलता है। उक्त ग्रन्थ की छठवीं सन्धि के १४वें कडवक में से १७वें कडवक तक इन्द्रभूति गौतम की चारित्रिक विशेषताओं एवं दुर्बलताओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। कथावस्तु शौरसेनी ग्रन्थों की भाँति ही है किन्तु उसमें गौतम के ग्राम का नाम पोलाशपुर एवं पिता का नाम शाण्डिल्य बतलाया गया है। यही अन्तर है।

महावीर रास—इसके पश्चात् राजस्थानी-भाषा के महाकवि पदम ने अपनी महावीर रास नामक रचना में इन्द्रभूति गौतम का वर्णन किया है। इस रचना की २१वीं ढाल में ३५वें पद्य से लेकर ६४वे पद्य तक इन्द्रभूति की वैदिक विद्वत्ता एवं उसके प्रति पूर्ण निष्ठा, उनके अहंकार वर्णन के साथ-साथ भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँचने का सुन्दर वर्णन है। तत्पश्चात् दिगम्बर दीक्षा धारण कर उनके प्रथम गणधर होने का उल्लेख है। इस रचना में भी अन्तर इतना ही है कि इन्द्रभूति के ग्राम का नाम ब्रह्मपुर मिलता है।

गौतमस्वामी चरित्र—इस रचना के लेखक मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्रजी भट्टारक हैं। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने वि० सं० १७२६ में महाराष्ट्र नामक एक छोटे नगर में श्रीरघुनाथ महाराज के शासन-काल में ऋषभदेव के मन्दिर में बैठकर की। ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में है तथा उसकी विषय-सामग्री अधिकारों में विभक्त है। पं० लालारामजी शास्त्री ने इसका सर्वप्रथम हिन्दी में अनुवाद किया था। इसका प्रारम्भ मंगलाचरण से हुआ है।

इस ग्रन्थ में पांच अधिकार एवं १०४३ श्लोक हैं। प्रथम अधिकार में ११४ श्लोक हैं। जिनमें राजगृह नगरी के ऐश्वर्य एवं शोभा वर्णन के साथ ही साथ राजा श्रेणिक एवं रानी चेलना के सौन्दर्य का वर्णन है। तत्पश्चात् गौतम गणधर के पूर्व भवान्तर सम्बन्धी वर्णन किया गया है।

द्वितीय अधिकार में २९८ श्लोक हैं, जिनमें गौतमस्वामी के पूर्व भवान्तरों सम्बन्धी तीन कुटुम्बी कन्याओं के पूर्व-भव का वर्णन है। तृतीय अधिकार में १०९ श्लोक हैं जिनमें गौतमस्वामी की उत्पत्ति का वर्णन है। इसके अनुसार ब्राह्मण नामक नगर में शाण्डिल्य नामक ब्राह्मण था जिसकी पत्नी का नाम स्थंडिला था। उसके तीन पुत्र थे, जिनके नाम थे, गौतम, गार्ग्य एवं भार्गव।

चौथे अधिकार में २५३ श्लोक हैं, जिसमें भगवान महावीर के गर्भ, जन्म, तप एवं केवलज्ञान नामके चार कल्याणकों का वर्णन किया गया है। केवलज्ञानप्राप्ति के सन्दर्भ में छद्मवेशी इन्द्र का वर्णन आया है। इन्द्र वृद्ध के वेश में गौतम के पास जाते हैं और निम्न प्रश्न पूछते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मद्वयं त्रिविधकाल समग्र कर्म, षड्द्रव्य काय संहिता ।
समर्थश्च लेश्या तत्त्वानि संयमगतीसहितापदार्थैरंगप्रवेदमनिशंवदचास्तिकायम् ॥

गौतम इन्द्र के प्रश्न को सुनकर समवशरण में पहुँचते हैं, वहाँ उनका ज्ञान गर्व चूर हो जाता है और वे भगवान् महावीर के पट्टशिष्य बन जाते हैं । इसी अधिकार में गौतम की कैवल्य-प्राप्ति का वर्णन भी है ।

पाँचवें अधिकार में २६९ श्लोक हैं । इनमें गौतमस्वामी के उपदेश वर्णन के साथ-साथ त्रेसठ शलाका पुरुषों का संक्षिप्त वर्णन है । अन्त में गौतमस्वामी की मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् उनके चरित्र की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया । ग्रन्थ के अन्त में भट्टारक परम्परा का वर्णन है । यह वर्णन अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसमें मूलसंघ के नेमिचन्द्र आदि पाँच भट्टारकों के उल्लेख आए हैं, जिससे भट्टारक परम्परा के क्रम-निर्धारण में सहायता मिलती है ।

इन्द्रभूति गौतम-साहित्य सम्बन्धी परम्परा में आधुनिकतम शैली में पूज्य गणेश मुनि शास्त्री द्वारा लिखित 'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन' नामक पुस्तक बहुत ही उपयोगी है । इसके लगभग १३९ पृष्ठों में लेखक ने इन्द्रभूति गौतम पर उपलब्ध सामग्री का निचोड़ प्रस्तुत कर दिया है । विषय प्रस्तुत करने की शैली बहुत ही मार्मिक, रोचक एवं सरल है । यह सभी स्वाध्यायशील साहित्य-रसिकों के लिए समान रूप से उपयोगी है । संयोग से इस पुस्तक का बहुत अधिक प्रचार नहीं हो पाया है, इसीलिए इन्द्रभूति के जीवन-दर्शन से कम ही लोग सुपरिचित हो सके हैं ।

इन्द्रभूति गौतम से सम्बन्धित एक अन्य छोटी सी रासा शैली की रचना है 'गौतम रासा' । इसका संग्रह आदरणीय "गणेश मुनि शास्त्री" ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक के परिशिष्ट में प्रस्तुत किया है । इसकी रचना ढाल छन्द में की गई है जिसमें १६ पद्य हैं । इन पद्यों में गौतम की ज्ञान-जिज्ञासा का वर्णन किया गया है । इस रचना के लेखक हैं ऋषि रायचन्द्र । वि० सं० १८३४ में भादों सुदी नवमी को बीकानेर में अपने चातुर्मास के समय इन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना की थी ।

इस प्रकार इन्द्रभूति गौतम के जीवन-दर्शन पर संक्षेप में विचार किया गया । लेकिन यहाँ तो, प्रस्तुत पंक्तियों की लेखिका ने जो सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसका यथासम्भव उपयोग किया है, किन्तु ये विचार अन्तिम नहीं हैं । बहुत सम्भव है कि इस विषय में और भी अधिक सामग्री प्रकाश में आई हो और मुझ तक वह नहीं पहुँच सकी हो । लेकिन यह विश्वास अवश्य हो गया है कि इस दिशा में शोध-खोज की पर्याप्त गुंजाइश है ।

श्रीवर्द्धमानात् त्रिपदीमवाप्य मुहूर्त्तमात्रेण कृतानि येन ।
अंगानि पूर्वाणि चतुर्दशापि स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकर ऋषभनाथ का जटा-जूटयुक्त प्रतिमाङ्कन

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'*

जैन परम्परा के चौबीस तीर्थंकरों में भगवान् ऋषभनाथ प्रथम तीर्थंकर हैं और भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर। तीर्थंकर ऋषभनाथ को वृषभनाथ और आदिनाथ भी कहते हैं। ऋषभनाथ का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त अन्य जैनेतर पुराण साहित्य में भी आया है। वैदिक साहित्य के सर्वप्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में तो ऋषभनाथ का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है।

जैन परम्परा में मूर्तिपूजा कब प्रारम्भ हुई, इसके निश्चित उल्लेख नहीं मिलते हैं, किन्तु सर्वप्राचीन प्रमाण ढाई हजार वर्ष ईसा पूर्व (सिन्धु-घाटी-सभ्यता के अवशेषों) से प्राप्त होते हैं। जैन-परम्परा में मूर्तिपूजा-प्रचलन के स्पष्ट प्रमाण चौथी-पाँचवीं सदी ईसा पूर्व से मिलना प्रारम्भ होते हैं। हाथीगुम्फा अभिलेख (ई० पूर्व लगभग द्वितीय शती) के अनुसार खारवेल ने अपने शासनकाल के बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की और भगवान् जिनेन्द्र की वह प्रसिद्ध प्रतिमा पुनः प्राप्त की जिसे कभी राजानन्द (ई० पूर्व चौथी-पाँचवीं शती) उठाकर लाया था और 'कलिंगजिन' के नाम से प्रसिद्ध थी।

जब जैन-मूर्तिकला अस्तित्व में आयी तब तीर्थंकरों के लाञ्छन (चिह्न) प्रचलित नहीं थे। जैन-कला के प्रारम्भिक काल की मूर्तियों में से मात्र तीर्थंकर ऋषभनाथ की प्रतिमा को उसके जटाङ्कन और पार्श्वनाथ की प्रतिमा को सर्पफण-मस्तकाच्छादन के अंकन को देखकर पहचाना गया। गुप्तकाल तक जैन तीर्थंकर मूर्तियों के साथ तीर्थंकरों की प्रमुख घटनाओं, केवलज्ञानवृक्षों, यक्ष-यक्षियों और संक्षिप्त लेखों का अंकन किया गया। गुप्तयुग में ही तीर्थंकरों के लाञ्छनों का निर्धारण हो गया था। जिसका आद्य उदाहरण राजगृह के वैभार-गिरि पर्वत पर उत्खनन से प्राप्त चौथी शती की नेमिनाथ-प्रतिमा है।

हमारे देश में तीर्थंकर ऋषभनाथ की जटा-जूटयुक्त हजारों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और सम्प्रति प्राप्त भी हो रही हैं। तीर्थंकर ऋषभनाथ ने लम्बी अवधि तक तपस्या की थी, जिस कारण उनके केश बहुत लम्बे-लम्बे हो गये थे। उनकी लम्बी-लम्बी जटाओं का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। यथा—

> "वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।
> धूमालय इव ध्यान-वह्निसक्तस्य कर्मणः॥"[1]

---

* दिगम्बर जैन धर्मशाला, राजगिर, नालन्दा।

१. पद्मपुराण ३।२८८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा—

"स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहुतांशुमान् ।"[1]

तीर्थंकर आदिनाथ-प्रतिमा में जटाएँ, जटाजूट और जटामुकुट का अंकन मूर्तिकला के प्रारम्भ से सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक अनवरत रूप से किया जाता है। पहले स्कन्धों तक लटकीं हुई स्वाभाविक जटाएँ, उपरान्त कंघी की हुई लम्बी जटाएँ, तदोपरान्त जटा-जूट, और उसके उत्तरवर्ती शिल्पकारों में तो आदिनाथ-प्रतिमा के जटा-जूट, जटा-मुकुट के अंकन में मानों कला प्रदर्शन की स्पर्धा सी होने लगी थी।

प्रस्तुत अल्पलेख में हम सैन्धव सभ्यता से बारहवीं शती तक की तीर्थंकर ऋषभनाथ की कतिपय ऐसी मूर्तियों का उल्लेख करेंगे, जो जटाओं, जटा-जूट और जटा-मुकुट अंकन की दृष्टि से अपना महत्व रखती हैं।

सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेषों में एक विशाल स्कन्धयुक्त वृषभ तथा एक खड्गासन धड़ के अतिरिक्त एक जटाधारी योगी का अंकन प्राप्त हुआ है। यदि ये जैन मूर्तिकला के अवशेष हैं तो जैनमूर्तिपूजा की परम्परा लगभग २३ सौ वर्ष ईसा पूर्व से प्रचलित प्रमाणित होती है: क्योंकि वहाँ से प्राप्त धड़ जैन तीर्थंकर-मूर्ति से मिलता-जुलता है और तीर्थंकर ऋषभनाथ की तो अधिकांश प्राचीनतम प्रतिमाएँ जटायुक्त ही प्राप्त हुई हैं। इसलिए सैन्धव-सभ्यता के उस जटाधारी योगी को तीर्थंकर ऋषभनाथ का अंकन माना जा सकता है।

विहार के चौसा नामक ग्राम से अठारह जैन धातु प्रतिमाओं की उपलब्धि हुई है। उनमें से छह तीर्थंकर ध्यानमुद्रा में और दस कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति की स्कन्धों तक लटकीं जटाएँ हैं, जिससे उसे ऋषभनाथ की प्रतिमा पहचाना गया है। यह मूर्ति प्रथम शती की है।[2] तथा ऋषभनाथ की दो और पद्मासन प्रतिमाओं की पहचान भी उनके कन्धों तक आये केशों से हो सकी है। ये दोनों प्रतिमाएँ ठीक-ठीक अनुपात में बनायी गयी हैं। इनका चेहरा पुष्ट एवं अण्डाकार है। केशों को दोनों ओर लटकते हुए दिखाया गया है तथा सिर के बीच के बालों की माँग निकाली गयी है। बालों के गुच्छों को लहरों की भाँति कंधों पर फैला हुआ दिखाया गया है।[3]

मथुरा से अनेक जैन तीर्थंकर-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें से दो जटा-जूटयुक्त ऋषभनाथ की मूर्तियाँ हैं। एक मूर्ति[4] कायोत्सर्ग-मुद्रा में है, जिसका सिर खण्डित है। यह मूर्ति जटाधारिणी है, जिसकी जटाएँ कन्धों पर लटकीं हुई हैं। पार्श्वों में चवरधारी अनुचर हैं। तीर्थंकर के आसन के बीच में धर्मचक्र है, चक्र के दोनों किनारों पर एक-एक सिंह अंकित है। और दूसरी मूर्ति[5] कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इसके केश कंघी से काढ़े हुए से अंकित हैं तथा

१. वही ४१५।
२. प्रेमसागर जैन, भरत और भारत, पृ० १०।
३. जैनकला एवं स्थापत्य भाग–१ प्लेट ५५A, ५६।
४. पुरातत्व संग्रहालय मथुरा, मूर्ति सं० बी० ७।
५. वही, १२–२६८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जटाएँ कन्धों पर लटक रहीं हैं। इसके पार्श्वों में चंवरधारी, सिर के पीछे प्रभामण्डल, उसके दोनों ओर मालाधारी देव और आसन पर धर्मचक्र अंकित है। उपरोक्त दोनों मूर्तियाँ प्रारम्भिक गुप्तकाल की मानी गई हैं।

भागलपुर के श्रीचम्पापुर दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र, नाथनगर में तीर्थंकर आदिनाथ की एक मूर्ति कायोत्सर्ग-मुद्रा में है। उसको वृत्तबन्ध जटा-जूट बहुत कलायुक्त है। इसके केश पहले ऊपर को निकाले गये हैं, फिर ऊपर से नीचे को आकर पीछे को किये हुए अंकित हैं। तीन-तीन जटाएँ कन्धों पर लटक रहीं हैं। अजयकुमार सिंह ने लिखा[1] है कि इस मूर्ति के जटा-जूट सज्जा की कला गुप्त व गुप्तान्तकालीन है।

अकोटा से प्राप्त प्रतिमाओं में एक कायोत्सर्ग-मुद्रा में ऋषभनाथ की प्रतिमा[2] महत्व-पूर्ण है। इसमें तीर्थंकर आयताकार पादपीठ के मध्य में खड़े हैं। पादपीठ पर दोनों सिरों पर कमल अंकित हैं। जिसमें एक पर यक्ष तथा एक पर यक्षी की मूर्ति है। बीच में सीधे धर्मचक्र पर ऋषभनाथ की मूर्ति है और धर्मचक्र के दोनों ओर हरिण हैं। ऋषभनाथ के रूप में तीर्थंकर की पहचान उनके स्कन्धों पर लटकती हुई केशराशि से हुई है। इस प्रतिमा पर अंकित लेख से ज्ञात हुआ है कि यह प्रतिमा उत्तर गुप्त-युग लगभग ५४०—५० ईसवी की है।[3]

जयपुर के चारमूला गाँव से एक तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्ति मिली है जो जिला संग्रहालय, जयपुर में रखी है। यह मूर्ति योगमुद्रा में है। इस मूर्ति के केश तीन परिधियों में सुन्दर ढंग से सँवार कर एक मनोहारी जटा-मुकुट शिल्पित किया गया है। कुछ जटाएँ कंधों पर लटक रहीं हैं। इस प्रतिमा के आसन पर वृषभ चिह्न अंकित है। नीचे दो सिंह और उनके बीच में चक्रेश्वरी गरुण पर सवार ललितासन में है। यह प्रतिमा सात से नौवीं शती के बीच की है।[4]

राजगिर के नैयारगिरि पर्वत पर उत्खनन से प्राप्त एक प्राचीन जैन मन्दिर में भगवान् ऋषभनाथ की जटा-जूटयुक्त पद्मासन मुद्रा में दो पाषाण-मूर्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें से एक मन्दिर के मुख्य गर्भगृह में है, जिसके केशों को पहले ऊपर की ओर सँवार कर फिर सुन्दर जटा-मुकुट और जटा-जूट अंकित किया गया है। कुछ जटाएँ कन्धों पर लटक रहीं हैं। कमलासन के नीचे बीच में चक्र है, चक्र के दोनों ओर चक्राभिमुख एक-एक वृषभ अंकित है। आसन पर उत्कीर्णित एक लेख से ज्ञात हुआ है कि यह मूर्ति आठवीं शताब्दी की है।

राजगृह की दूसरी मूर्ति उसी प्राचीन मन्दिर के भूगृह में है। इस मूर्ति के केश पीछे को कंघी किए हुए के अंकित हैं और जटाएँ स्कन्धों पर लटक रहीं हैं। कमलासन के नीचे सिंहासन के दो सिंह, उनके नीचे बीच में धर्मचक्र और धर्मचक्र को सिर से वहन करते हुए दो

---

१. जैन जर्नल, जनवरी १९८४, ''मोर स्कलप्चर्स फ्राम भागलपुर''।
२. बड़ौदा संग्रहालय।
३. जैनकला एवं स्थापत्य, भाग १, पृ० १४४।
४. जैन जर्नल, जनवरी १९८२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वृषभ अंकित हैं। इस मूर्ति पर कोई लेख नहीं है, किन्तु केश-सज्जा और शरीर-सौष्ठव अंकन कला की दृष्टि से यह मूर्ति राजगृह की उपरोक्त प्रथम ऋषभनाथ की मूर्ति से दो शतक प्राचीन प्रतीत होती है।[1]

पुरुलिया (पश्चिम बंगाल) के पाकवीरा नामक स्थान से तीर्थंकर ऋषभनाथ की पाँच मूर्तियाँ[2] प्राप्त हुई हैं। इन सभी के जटा-जूट विभिन्न प्रकार से कलाकृत हैं तथा स्कन्धों पर लटकती हुई जटाएँ अंकित हैं। ये सभी मूर्तियाँ सातवीं से ग्यारहवीं शती की हैं।

उड़ीसा के पोड़ासिंगड़ी नामक स्थान से अनेक जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।[3] उनमें से कायोत्सर्ग मुद्रा में ऋषभनाथ की मूर्ति कमलपुष्प-युक्त पादपीठ पर स्थित है। पादपीठ के ठीक नीचे लाञ्छन वृषभ अंकित है। तीर्थंकर ऋषभनाथ की इस मूर्ति के कन्धों पर लहराती कुछ जटाओंवाला जटाजूट है। यह मूर्ति आठवीं शती की सम्भावित है।

कोरापुर जिला के भैरवसिंगपुर नामक स्थान से मूलनायक ऋषभनाथ का एक चतुर्विंशति-पट्ट प्राप्त हुआ है, जो जयपुर के जिला संग्रहालय में प्रदर्शित है। योगमुद्रा में शिल्पित इस मूर्ति का जटा-मुकुट बहुत कुशलता से तीन भागों में सँवारा गया अंकित है। यह मूर्ति लगभग नौवीं शती की है।[4]

पश्चिम बंगाल के दीनाजपुर जिलान्तर्गत सुरोहोर नामक स्थान से ऋषभनाथ की एक पद्मासन प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह मूर्ति एक मन्दिराकार चतुर्विंशति पट्टिका में मूलनायक प्रतिमा है। इसके सिर पर सुन्दर जटाजूट शिल्पित है और स्कन्धों पर मोटी-मोटी जटाएँ लहरा रही हैं। यह मूर्ति शैलीगत विशेषताओं के आधार पर दसवीं शती की मानी गयी है।[5]

पश्चिम बंगाल के ही घटेश्वर २४–परगना से सुन्दर जटाजूट युक्त एक ऋषभनाथ की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके आसन पर लाञ्छन वृषभ अंकित है। इस मूर्ति के दोनों तरफ चौबीस-चौबीस जिन-मूर्तियाँ हैं। इसके परिकर में चँवरी, गन्धर्व-युगल और नव-ग्रहों का अंकन है। यह मूर्ति दसवीं शती की है।[6]

पुरुलिया जिला के सीतलपुर और भांगर गाँव से भी एक-एक ऋषभनाथ की मूर्ति मिली है। ये दोनों खड्गासन चौबीसी पट्टिका की मूलनायक प्रतिमाएँ हैं। एक की स्थिति

---

१. लेखक का व्यक्तिगत सर्वेक्षण, अक्टूबर १९८८।
२. आशुतोष म्यूजियम, कलकत्ता, मूर्ति सं० ३७, ३८, ४०-४१, ४६।
३. उड़ीसा हिस्टॉरिकल रिसर्च जर्नल—१०-३-१९६१।
४. जैन जर्नल, जनवरी १९८२, शीर्षक "टू जैन स्कल्प्चर्स फ्रॉम भैरवसिंगपुर"—यु० सुबुधी।
५. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, खण्ड १, १९४२।
६. जैन जर्नल, अप्रैल १९८३, शीर्षक—"दी जैन बैकग्राउण्ड ऑफ २४–परगनाज"—जी० दे०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ अच्छी हैं जो बारहवीं शती की हैं और एक के शिलाफलक की पपड़ी उघड़ गई हैं। यह दसवीं शती की है।[1]

मथुरा के कंकाली टीला से ऋषभनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा[2] प्राप्त हुई है। इसके केश घुँघराले हैं, उष्णीष अंकित है और जटाएँ स्कन्धों पर लटक रही अंकित हैं। इसके आसन पर धर्मचक्र, सिंहासन के सिंह, वृषभ लाञ्छन और यक्ष-यक्षी शिल्पित हैं।

देवगढ़ (म० प्र०) में तीर्थंकर ऋषभनाथ की जटाजूट युक्त अनेक प्राचीन मूर्तियाँ हैं। उनमें से एक मूर्ति[3] विशेष उल्लेखनीय है। इस मूर्ति का विन्यासयुक्त जटा-जूट अंकित कर पाँच-पाँच जटाएँ स्कन्धों पर से भुजाओं पर कुक्षि के नीचे तक शिल्पित हैं तथा दस-दस, लम्बी जटाएँ कन्धों के पीछे से हवा में लहराती हुई अंकित हैं, जिनसे एक बड़ा अर्ध-प्रभावल-सा बन गया है (सिर के पीछे एक कलायुक्त प्रभावल भी) है। प्रत्येक जटा का अग्रभाग मुड़ा हुआ है।

ऋषभनाथ के बाद सबसे अधिक जटाजूट बाहुबलि[4] की प्रतिमा के प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त तीर्थंकरों में अभिनन्दननाथ[5], चन्दप्रभु,[6] नेमिनाथ[7] और पार्श्वनाथ[8] की प्रतिमाओं के जटाजूट भी कहीं-कहीं दृष्टिगत होते हैं।

---

१. जैन जर्नल, १९८३।

२. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, ACC No. 16.0.178.

३. देवगढ़ के चौथे मन्दिर की पश्चिमी भित्ति पर, देवगढ़ की जैन कला प्लेट—६९।

४. बादामी गुम्फा मन्दिर।

५. डॉ० भागचन्द्र जैन, भागेन्दु—देवगढ़ की जैनकला : एक सांस्कृतिक अध्ययन, प्लेट-५८, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७४।

६. खण्डगिरि की बाराभुजी गुम्फा।

७. देवगढ़ मन्दिर संख्या १२ के गर्भगृह में।

८. खण्डगिरि की बाराभुजी गुम्फा, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ भाग—२, चित्र नं० ७१, भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई, १९७५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों की भाषा

शैलेन्द्र कुमार राय*

भाषा का विश्लेषण

भाषा मनोभावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति का मध्यम है। मनुष्य अपने मनोभावों एवं विचारों की अभिव्यंजना भाषा के माध्यम से ही करता है। अतः मानवीय संस्कृति के विकास में भाषा का बड़ा महत्व है। इस समय संसार में सैकड़ों नहीं, बल्कि हजारों भाषाएँ प्रचलित हैं। इन भाषाओं के मौलिक लक्षणों पर विचार करके भाषा-शास्त्र के विद्वानों ने उनका वर्गीकरण कहीं कतिपय भाषा परिवारों में किया है, जैसे—भारोपीय परिवार, द्रविड़ परिवार, सामी-परिवार, हामी परिवार, चीनी परिवार आदि। इन भाषा-परिवारों में भारोपीय भाषा-परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी परिवार से विकसित हुई विविध भाषाएँ आज प्रायः समस्त सुसभ्य और समुन्नत देशों में पायी जाती हैं। इसी परिवार की एक शाखा यूरोप की ओर फैली, जिससे ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं का विकास हुआ और दूसरी शाखा ईरान में फारसी तथा भारत में आर्य अर्थात् वैदिक भाषा के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार वैदिक-काल से वर्तमान-काल तक भारत में आर्य-भाषा का जो विकास हुआ है, उसे भाषा-विशारदों ने तीन युगों में विभक्त किया है—प्राचीन, मध्य और वर्तमान। प्राचीन-युग की भाषाएँ क्रमशः वैदिक और संस्कृत के नाम से विख्यात हैं। मध्ययुग की भाषाओं में पुनः तीन स्तर पाये जाते हैं—आदि, मध्य और उत्तर। आदिकाल की प्रमुख भाषा पाली, मध्यकाल की प्राकृत तथा उत्तरकाल की अपभ्रंश है। वर्त्तमान-काल की भाषाओं में हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि भाषाएँ प्रमुख मानी जाती है।

प्राकृत महाकाव्यों में प्रवरसेन विरचित 'सेतुबन्ध', वाक्पतिराज विरचित 'गण्डवहो'; आचार्य हेमचन्द्र विरचित 'कुमारपालचरित' तथा कोऊहल विरचित 'लीलावई' सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट महाकाव्य हैं। इन प्रतिनिधि महाकाव्यों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। अतः महाराष्ट्री प्राकृत का एक विहंगमावलोकन आवश्यक प्रतीत होता है—

महाराष्ट्री प्राकृत : एक विहंगम दृष्टि

लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर और बुद्ध के समय में प्रतिष्ठित होने के बाद प्राकृतों का विकास समग्र आर्य-भारतीय भाषा प्रदेश में हुआ। उसके बाद अश्वघोष के काल में इन्हें साहित्यिक रूप मिलने लगा। कई संस्कृत नाटकों में विभिन्न प्रकार के पात्रों

* विभागाध्यक्ष, प्राकृत-विभाग, एस० बी० ए० एन० कॉलेज, दरहेटा-लारी, जहानाबाद, बिहार (मगध विश्वविद्यालय अन्तर्गत)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृतों का व्यवहार दिखाई देता है, जिससे ज्ञात होता है कि प्राकृतें स्थिर साहित्यिक रूप में आगे बढ़ रही थीं। किन्तु कुछ समय बाद इसी से एक प्रकार की शिष्ट प्राकृत उत्पन्न हुई जिस अन्य प्राकृतों की विशिष्टतायें अपना लीं—जैसे, अनेक बोलियों में से जब एक बोली शिष्ट स्वरूप पाती है तब वह अन्य बोलियों की अनेक विशिष्टताएँ अपना कर आगे बढ़ती है। इससे हमारे सम्मुख एक ही प्राकृत विविध रूप से प्रकट होती है। प्रथम शौरसेनी प्राकृत के रूप में और उसके बाद महाराष्ट्री के रूप में। ये प्राकृतें यथानामानुसार किसी विशिष्ट प्रदेश की भाषाएँ नहीं, अपितु प्राकृतों की दो ऐतिहासिक भूमिकाएँ मात्र हैं। शौरसेनी प्राकृत में स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों का घोष भाव होता है और वह घोष व्यंजन महाराष्ट्री में सम्पूर्णतया नष्ट होता है, 'त' का 'द' होकर 'अ' अवशिष्ट रह जाता है। घर्ष-भाव की इस भूमिका के उदाहरण भारतीय भाषाओं से नहीं मिलते किन्तु ध्वनि की दृष्टि से व्यंजन लोप के पूर्व यह एक आवश्यक भूमिका है और निय-प्राकृत में हमें घर्ष व्यंजन मिलते हैं, जिससे यह प्रक्रिया साधारण बनती है। घर्ष भाव की यह भूमिका ईसा की प्रथम सदी के काल में आर्य-भाषाओं में व्यापक होनी चाहिये, इसका अनुगामी विकास-व्यंजनों का सर्वथा लोप-भारतीय भाषाओं में सर्वत्र मिलता है। इस काल में भारतीय लिपि में घर्ष-भाव व्यक्त करने की कोई संज्ञा न होने से लेखकों के सामने कठिनाई पैदा हुई होगी। खरोष्ठी लिपि में लिखे गये प्राकृत-साहित्य में लहियाओं ने घर्ष-भाव व्यक्त करने का यह प्रश्न व्यंजन को 'र' अथवा 'य' जोड़कर हल किया है। ब्राह्मीलिपि में ऐसी कोई व्यवस्था न होने से घर्षभाव व्यक्त करने के लिये घोष व्यंजन लिखना चाहिए या अघोष अथवा 'अ'; ऐसे अनेकों प्रश्न लहियाओं के सामने बार-बार आये होंगे। 'त' के लिये 'द', 'द' के लिये 'त'; 'क' के लिये 'ग'; 'ग' के लिये 'क'; तथा सभी के लिये 'य', 'अ'। ऐसे भ्रम जब निय-प्राकृत में प्राप्त होते हैं तब उसके उत्तर-कालीन प्राकृत साहित्य में जहाँ यह ध्वनि विकास सार्वत्रिक हो रहा था वहाँ यह प्रश्न अधिक संकुल हो गया होगा। शौरसेनी में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ होकर महाराष्ट्री में पूर्ण होती हैं। स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजन का सर्वथा लोप हो जाता है। यह होते ही अनेक शब्द, जो प्राचीन भाषा में नाना प्रकार के थे, वे समान ध्वनि वाले बन जाते हैं, जैसे—मअ-मद-मत; मृग-मृत। कोई भी भाषा इतना अर्थभार सहन नहीं कर सकती, इसका परिणाम यह होता है कि उस भाषा के शब्द-कोष में काफी परिवर्त्तन होता है और अलग-अलग अर्थ प्रदर्शित करने के लिये नये-नये शब्द निकटस्थ भाषाओं से भी लिये जाते हैं। एक ही साथ शब्दों का ह्रास और वृद्धि होती चली। इन उद्धृत स्वरों के स्थान पर आगम-साहित्य में कभी-कभी तकार आता है। यह तकार अधिकांश दो स्वरों को निकट न आने देने के लिए लिखा जाता है। कभी-कभी भाषा में दो व्यञ्जनों का ऐसा आगम होता है जैसा कि फ्रेंच में भी ऐसी परिस्थिति में तकार प्रयुक्त होता है। व्यञ्जनों की घर्ष भूमिका के काल में लिपि की त्रुटि से घोष-अघोष की और व्यञ्जन लोप की गड़बड़ी को लक्ष्य में रख कर, आगमों की इस 'त' श्रुति का मूल्यांकन करना चाहिए। अधिकांश यह तकार लिपि की एक प्रणालिका का सूचक है, बोलचाल का नहीं, यह ख्याल करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौरसेनी का प्रकृष्ट स्वरूप महाराष्ट्री हमारे समक्ष किसी प्रदेश या समय की व्यवहार-भाषा की हैसियत से नहीं आता, हम उसे सिर्फ साहित्यिक स्वरूप में ही पाते हैं।[1] काव्यादर्श में दण्डी ने जो 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः' लिखकर जिस 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां' का उल्लेख किया है उसे हमें पूर्वोक्त दृष्टि से देखना होगा। इस विषय में श्री म० म० घोष से हम सहमत हैं कि शौरसेनी और महाराष्ट्री का भेद काल की दृष्टि से ही है, जैसा कि कहा है—

(१) "प्राकृत ग्रामेरियन्स आव वैस्टर्न इण्डिया (व्हिच इज व्हैरी कांटीगुअस टू महाराष्ट्री), सच एज हेमचन्द्र, शुभचन्द्र एण्ड श्रुतसागर डिड नौट नेम एनी प्राकृत एज महाराष्ट्री।"

(२) अर्ली (बिफोर १००० ए० सी०) राइटर्स आन पोइटिक्स एक्सेप्ट दण्डिन डिड नौट नो एनी महाराष्ट्री।

(३) दि डिफरेन्स बिटवीन शौरसेनी एण्ड महाराष्ट्री व्हिच इज वैरी नीयर मे बी एक्सप्लेंड वाई एस्युमिंग ए क्रोनोलोजीकल डिस्टेंस बिटवीन दि टू।"[2]

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर अब हम देखते हैं कि प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों में महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों में महाराष्ट्री प्राकृत की कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें विद्वानों ने महाराष्ट्री प्राकृत के लिए निर्दिष्ट किया है[3]—

(क) स्वर[4]

[१] 'प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों' की भाषा में अ, इ, उ, एँ और ओं—इन पांच ह्रस्व स्वरों तथा आ, ई, ऊ, ए और ओ—इन पांच दीर्घ स्वरों का प्रयोग हुआ है। ऐ और औ का अभाव है।

[२] ऋ के स्थान पर प्रायः अ, आ, इ, उ, ऊ, ए या रि आदेश हुए हैं तथा ऌ के स्थान पर इलि आदेश हुए हैं। कुछ स्थानों पर ऋ ज्यों की त्यों भी पायी जाती है। यथा—

(i) ऋ = अ—तृपां = तपां [सेतु० ४।१५][5]; कृष्णाजिन = कण्हाइन [गउ० ११९०][6]; तृप्ति = तत्ति [कुमा० ७।५३][7]; वृक्ष = वच्छ [लीला० ५९५][8]।

---

१. विशेष के लिए देखें, प्रबोध पण्डित की 'प्राकृत-भाषा' पुस्तिका पृ० ३९–४०।

२. कर्पूर मंजरी—सम्पादक डॉ० मदनमोहन घोष, भूमिका भाग।

३. देखें, आचार्य हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण एवं डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री कृत प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इत्यादि।

४. विशेष के लिए देखें - पाइयसद्दमहण्णवो का भूमिका भाग।

५. सेतु० = सेतुबन्ध अर्थात् रावणवह-महाकाव्यम्—सं० श्री राधागोविन्द बसाकेन; संस्कृत कॉलेज कलकत्ता (१९५९) आश्वास ४।१५ गाथा देखें।

६. गउ० = गउडवहो—सं० प्रो० नरहर गोविंद सुरु; प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद (१९५७) गाथा संख्या ११९० देखें।

७. कुमा = कुमारपालचरित—सं० डॉ० पी० एल० वैद्य; भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना (१९३६) अध्याय ७।५३ गाथा देखें।

८. लीला = लीलावईकहा—सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये; सिंघी जैन ग्रंथमाला; भारतीय विद्याभवन बम्बई (१९४९) गाथा संख्या ५९५ देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ii) ऋ = आ—कृत्वा = काऊण (सेतु० ८।२८);
मातृ = माआ (कुमा० ४।५७; ७।८५); (लीला० ८३२)।

(iii) ऋ = इ—दृष्टि = दिट्ठी (सेतु० १३।५९); (गउ० ७३९); (लीला० ३९६, ४०१);
प्राकृत = पाइअ (कुमा० १।२; २।७४)।

(iv) ऋ = उ—ऋजुक = उज्जुअ (सेतु० ९।४२); प्रवृष्ट = पउट्ठ (ग० ११८९);
अमृषावादिन् = अमुसावाइ (कुमा० १।८५);
निभृतं = णिहुयं (लीला० ४२२)।

(v) ऋ = ऊ—अमृष = अमूस (कुमा० १।८५)।

(vi) ऋ = ए—वृन्त = वेण्ट (कुमा० १।८८; ३।६)।

(vii) ऋ = रि—सदृश = सरिस (सेतु० १०।२०) (लीला० १००२);
ऋक्ष = रिच्छ (सेतु० ४।१९); संस्मृत = संभरिअ (गउ० ७०७);
ऋण = रिण (कुमा० १।८९); ऋषि = रिसि (लीला० २७८; ८९१)।

(viii) ऋ = ऋ—नृप = नृव (कुमा० ८।८२; ८३); कृपालु = कृवालु (कुमा० ८।८२)।

(ix) लृ = इलि—क्लृप्त = किलित्त (कुमा० २।१)।

(x) विशेष—भ्रातृ = भायर (कुमा० २।६४)।

[३] ऐ के स्थान पर ए या अइ का आदेश हुआ है। यथा—

(i) ऐ = ए—सैन्य = सेण्ण (सेतु० ८।२७; १४।६३; १५।५) (कुमा० २।३);
शैला = सेला (सेतु० ८।२५); शैलः = सेलो (लीला० ४३९);
सैरिभ = सेरिह (गउ० ५३७); शैवल = सेवल (गउ० ५२१);
कैलास = केलास (कुमा० २।४) (लीला० २८५; ८०५)।

(ii) ऐ = अइ—वैर = वइर (कुमा० २।४; ६।४६, ९५); दैव = दइव (कुमा० २।५);
वैर = वइर (लीला० १०५३)।

[४] औ के स्थान पर ओ या अउ आदेश हुए हैं। यथा—

(i) औ = ओ—धौत = धोअ (सेतु० १०।४४); सौविदल = सोविअल्ल (गउ० २१६)
गौतम-गोअम (कुमा० ७।३७); गौरी-गोरी (कुमा० १।७५; २।७१)
(लीला० २८५); कौतूहलं = कोऊहलं (लीला० ८४२)।

(ii) औ = अउ—गौरव = गउरव (कुमा० २।११); गौड = गउड (कुमा० ६।७८);
कौलनारी = कउलणारी (गउ० ३१९)।

[५] एक स्वर के स्थान पर प्रायः दूसरा स्वर पाया जाता है। यथा—

(i) अ = इ—संपत = संपइ (कुमा० ८।४८); यथा = जिह (कुमा० ८।४९);
जयति = जिणइ (कुमा० ८।५३); यथा = जिवँ (कुमा० ८।१४, २१, ३२, ४४)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ii) अ = उ—ध्वनि = झुणि (कुमा० १।३७; ५।७५; ६।५६); कथय = कहेसु (कुमा८।७१)। अर्पित = उप्पिअ (गउ० १२०८); (लीला० ९=१)

(iii) अ = ए—शय्या = सेज्जा (कुमा० १।४०; ५।९७);
धीरयन्ति = धीरेंति (गउ० ९७०)।

(iv) आ = अ—मार्गाः = मग्गा (सेतु० १३।११); उल्लास = उल्लस (गउ० ११५६);
कान्त = कंत (कुमा० १।१९); चामर = चमर (कुमा० ६।२९);
आत्मप्रभो = अप्पणंपहुणो (लीला० ८९०)।

(v) आ = ए—पारावत= पारेवय (कुमा० १।५४); अभिलाति = अहिलेइ (गउ० १७८);
मुहूर्तमात्रं = मुहुत्तमेत्तं (लीला० ७९४)।

(vi) इ = अ—पथिन = पंथ (कुमा० १।१९); पथिन = पह (कुमा० १।५७, ६६);
मूषिक = मूषय (कुमा० १।५८); इति = इअ (गउ० २५३)।

(vii) इ = उ—इक्षु = उच्छु (कुमा० १।६३); द्विधा = दुहा (सेतु० ८।८३)।

(viii) इ = ए—पिण्ड = पेण्ड (कुमा० १।५६); विडम्बयन्ति = वेलंबंति (गउ० ७५३)।

(ix) ई = अ—नैषेधिकी = निसिहिअ (कुमा० २।५०); शीघ्रं=समराहा (गउ० २५८)।

(x) ई = ए—भीषित = भेसिअ (सेतु० ७।४:); आपीड = आमेल (गउ० ११२);
कीदृश = केरिस (कुमा० १।६७); पीठ = वेढ (लीला० ६७१)।

(xi) उ = अ—गुरुकृत = गरुइअ (सेतु० ११।४८, ५९; १५।११);
मुकुलीभवत = मउलित (गउ० १०८५);
मुकुर = मउर (कुमा० ३।६९); मुकुट = मउड (लीला० १२०)।

(xii) उ = इ—शुक्ति=सिप्पि (से० १।२१; ६२; ६५); कापुरुष=कावुरिष (गउ०८९४);
पुरुष = पुरिस (कु० १।१९; ६९; २।१५; ८।२७; (लीला० १०१४)।

(xiii) उ = ओ—तुष्टि = तोसि (सेतु० ३।५६); व्युच्छेद = वोच्छेअ (गउ० ४९५);
सुकुमार=सोमाल (कुमा० २।१४); कुतूहलम्=कोहल्लं (लीला० ७८७)।

(xiv) ऊ = ए—नूपुर=नेउर (कुमा० १।७५; ३।२३); नूपुर = णेउर (लीला० २६;५४)।

(xv) ऊ = ओ—स्थूल = थोर (सेतु० २।७; ५।५१; ५८; ८५); अमूल्य = अमोल्ल
(गउ० १००६); तूणीर = तोणीर (कुमा० १।७६); स्थूल = थोर
(लीला० २८८; ११२४ तथा ११८४)।

(xvi) ए = इ—जीयते=जिव्वइ (सेतु० ८।५०); हेषन्ते=हेसंति (गउ० ८३१); पीयते=
पिज्जइ (कुमा० ८।१९); विरज्यन्ते = विरज्जंति (लीला० ३५७)।

(xvii) ए = ई—प्रेयसी = पोअसी (कुमा० ३।७२); रेखा = लीह (कुमा० ८।६५)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) असंयुक्त व्यंजन

[१] स्वरों के मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द, य, व व्यंजनों का प्रायः लोप हो गया है। यथा—

(i) क—सकलः = सअलो (सेतु० ८।८३); मकरधर = मअरहर (गउ० ८०७); दुकूल= दुगूल (कुमा० २।६१); सकलेन = सयलेण (लीला० ५२८)।

(ii) ग—वियोग = विओअ (सेतु० १२।२२); गगने = गअणे (गउ० ३०८); गगन = गयन (लीला० ५२४); तगर = टयर (कुमा० २।३९)।

(iii) च—सुचिरं = सुइरं (सेतु० ८।६५); (लीला० १३००); उपचार = उवआर (गउ० ७६०); गोचर = गोअर (कुमा० ५।८७)।

(iv) ज—रजनीचर = रअणीअर (सेतु० ११।५१); रजओघः = रओहो (गउ० ६३२); पूजा = पूआ (कुमा० १।८८; २।७८; ७८); पूजां = पूयं (लीला० १३१९)।

(v) त—नितम्ब = णिअम्ब (सेतु० ८।८४); प्रतिमा = फडिमा (गउ० १०२०); गति = गइ (कुमा० २।२३); दूती = दूइ (लीला० ५४३)।

(vi) द—पादप = पाअव (सेतु० १।५९); मृदित = मलिअ (गउ० १८८); युक्तमिदम् = जुत्तंमिमं (कुमा० ७।१००); शारद = सारय (लीला० २५३)।

(vii) य—गायति = गाअइ (कुमा० ४।७); श्रूयते = सुव्वइ (गउ० १०७२); महिला- यितम = महिलाइअं (सेतु० २।२६); यशो = जसो (लीला० ११५५)।

(viii) व—उत्प्लवमान = उप्पअमाणो (सेतु० ८।८७); कवीन्द्रा = कइंदा (गउ०१०७४); युवति = जुअइ (कुमा० ४।७०, ७१, ७३, ७५); कवि = कइ (लीला०१६)।

[२] स्वरों के बीच के ख, घ, थ, ध और भ के स्थान में ह का आदेश हुआ है। यथा—

(i) ख—सुख = सुह (सेतु० ८।२८); सुखंभरात्मा = सुहंभरप्पा (गउ० ९९३); दुःखिनो = दुहिणी (कुमा० ५।५२); नख = णह (लीला० २७६; ७५२– ७६४ तथा १०८३)।

(ii) घ—लघुका = लहुआ (सेतु० ५।७५); निघोर्षोत्थ = णिहसुत्थ (गउ० १२०५); मेघा = मेहा (कुमा० १।७७; ८।१); दीर्घिकायां = दीहियाए (लीला० २४)।

(iii) थ—मधुमथने = महुमहे (सेतु० ९।८८); पथ=रह (गउ० १०६०); मथुरा=महुरा (कुमा० ४।६०; ६।९०); मधुमथ = महुमह (लीला० १६५)।

(iv) ध—साधन = साहण (सेतु० १२।३०); माधव = माहव (गउ० ६०३); द्विधा = दुहा (कुमा० १।६४); साधु = साहु (लीला० १०३८)।

(v) भ—प्रभोः = पहुणो (सेतु० १०।३); अभिचार = अहिआर (गउ० १०७१); नाभि = नाहि (कुमा० ३।६१); शुभ = सुह (लीला० ६००; ८२५; ९६९)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[३] स्वरों के बीच के ट का ड आदेश हुआ है। यथा—
तट = तड (सेतु० ९।९४); पटी = पडी (गउ० ७६९); पटल = पडल (कुमा० ३।३९); कटकं = कडयं (लीला० १९४)।

[४] स्वरों के बीच त, द तथा थ का अनेक स्थलों में क्रमशः ड और ढ का आदेश हुआ है। यथा—

(i) त = ड—प्रतिसार = पडिसार (सेतु० ११।१); प्रतिष्ठित = पडिट्ठिअ (गउ० ११०) प्रतिभा = पडिहा (कुमा० १।३८); प्रतिहार = पडिहार (लीला० ९०१)।

(ii) त = ढ—श्रान्त = सुढिअ (गउ० ९८); विक्षिप्त = विच्छूढ (गउ० ३६६)।

(iii) द = ड—सूदन = सूडण (गउ० १५९); कदन = कडणा (कुमा० २।४६)।

(iv) द = ढ—आदृत = आढिअ (कुमा० १।९०)।

(v) थ = ढ—शिथिल = सिढिल (सेतु० ५।७१) (लीला० ७४१) (कुमा० १।६०)। प्रथम = पढम (गउ० ५७२)।

[५] न के स्थान में ण का आदेश हुआ है। यथा—
नदी=णई (सेतु० ८।३३); नाल = णाल (गउ० ६२९); कदन = कदण (कुमा० २।४६); वदन = वयण (लीला० ७६१)।

[६] दो स्वरों के मध्यवर्ती प का लोप हो गया है। यथा—
कपि = कइ (सेतु० १३।८८; १५।५); रिपुषु = रिउसु (गउ० २४१); कपि = कइ (लीला०); नूपुर = निउर (कुमा० १।७५; ३।४१)।

[७] अनेक शब्दों में स्वर सहित व्यंजन का लोप हो गया है। यथा—
मयूख = मोह (सेतु० १।४८) (कुमा० २।४); मयूखा = मऊहा (गउ० ३६३) तथा (लीलावई–५)।

[८] कहीं-कहीं ढ का ह आदेश हुआ है। यथा—
सोढे = सहिअम्मि (सेतु० ११।११२); लेढि = लिहइ (कुमा० ७।१९)।

(ग) संयुक्त व्यंजन

[१] क्ष के स्थान में प्रायः ख, क्ख तथा स्क के स्थान में ख आदेश हुआ है। यथा—

(i) क्ष = ख—क्षण = खण (सेतु० ११।१६) (गउ० ११५५) (लीला० १४३); क्षय = खअ (कुमा० ८।५३)।

(ii) क्ष = क्ख—राक्षस = रक्खस (सेतु० ४।६०; ११।२); तत्क्षण = तक्खण (गउ० ३६६) (लीला० १४१); मोक्ष = मुक्ख (कुमा० ७।३७, ४७)।

(iii) स्क = ख—स्कन्ध = खंध (सेतु० ११।१२७) (कुमा० ४।२९; २।३८); स्कन्धा=क्खंधा (गउ० १४८); स्कन्धावारः=खंधारो (लीला० ११११)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२] ह्रस्व स्वर के परवर्ती श्च और त्स, थ्य के स्थान में च्छ हुआ है और नेपथ्य के अर्थ में पकार का वकार भी हुआ है। यथा—

(i) त्स = च्छ—उत्साह=उच्छाह (सेतु० १४।४४) (कुमा० १।७१ : ५।७८);
मत्सर = मच्छरो (गउ० ८०); उत्साह = उच्छाह (लीला० १५०)।

(ii) श्च = च्छ—पश्चात् = पच्छा (सेतु० ८।२८) (कुमा० ६।५६)।
पश्चात्कुसुमं = पच्छाकुसुमं (गउ० ६९); पश्चिम = पच्छिम (लीला० ११३२; ११७४)।

(iii) थ्य = च्छ—मिथ्या = मिच्छा (सेतु० ८।५१)।

(iv) नेपथ्य—णेवच्छ (सेतु० १२।६६) (गउ० ७४४) (कुमा० २।३६) (लीला० १३३)।

[३] त्य तथा श्च के स्थान च्च का आदेश हुआ है। यथा—

(i) त्य = च्च—पत्यक्षात् = पच्चक्खाहि (सेतु० ४।२७); दैत्या=दइच्चा (गउ० १०१९)
प्रत्यक्षं = पच्चक्खं (लीला० २६७)।

(ii) श्च = च्च—निश्चल = णिच्चलं (सेतु० ११।४२) (कुमा० ३।३२; ७।७९) तथा (लीला० १९५)।

[४] द्य और र्य का ज्ज आदेश हुआ है। यथा—

(i) द्य = ज्ज—छिद्य = छिज्ज (सेतु० १३।९०); खिद्यन्ते = खिज्जंति (गउ० ७२);
विद्या=विज्जा (कुमा० ३।२२); उद्यान=उज्जाण (लीला० ५९,३५८)।

(ii) र्य = ज्ज—कार्य = कज्ज (सेतु० ३।३९) विकीर्यमाणारुण = विइज्जंतारुण (गउ० ३३४); कार्य = कज्ज (कुमा० ५।३८; ६।४०) तथा (लीला० १४)।

[५] ष्ट के स्थान पर ट्ठ का आदेश हुआ है। यथा—

दृष्टं = दिट्ठं (सेतु० ११।७४); प्रकोष्ट = पउट्ठ (गउ० ३६६)।

धृष्टद्युम्न = धट्ठज्जुण (कुमा० ३।४३); शिष्ट = सिट्ठं (लीला० १०४; १८४)।

[६] द्ध; ध्य; ह्म का ज्झ तथा भ्य का म्भ आदेश हुआ है। यथा—

(i) द्ध = ज्झ—युद्ध = जुज्झ (सेतु० १५।६२) (कुमा० ६।५३) (लीला० १०९);

(ii) ध्य = ज्झ—मध्य = मज्झ (सेतु० ११।६८); विन्ध्य = विंज्झ (गउ० ३३८)।
मध्य = मज्झ (कुमा० ३।४१; ४।२५) (लीला० १६२, २०६)।

(iii) ह्म = ज्झ—विह्मापयति = विज्झवेइ (सेतु० ५।६८);
विह्मात = विज्झाअ (सेतु० ५।६८)।

(iv) भ्य = म्भ—रुध्यते = रुम्भइ (सेतु० ८।६३)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[७] ज्ञ का ण आदेश हुआ है। यथा—संज्ञा = सण्णा (सेतु० ११।७०); ज्ञायते = णज्जंति (गउ० ९६२); ज्ञाण = णाण (कुमा० १।२४); विज्ञाण = विण्णाण (लीला० १००; १०५; २८५)।

[८] स्त का थ तथा ष्प के स्थान में ह का आदेश हुआ है। यथा—

(i) स्त = थ—हस्त = हत्थ (सेतु० ५।६४) (गउ० ७६३) (लीला० ४२१) (कुमा० १।७८; २।१०; ३।६९); स्तोक= थोअ (सेतु० ५।७२) तथा स्तोत्रम = इत्थं (लीला० १३६; २२५; २२८)।

(ii) ष्प = ह—वाष्पं = वाहं (सेतु० ११।११५) (कुमा० ३।२७) (लीला० ३०९; ३१०; ३९५; ६१५; ७०३; ७०७; ७०९; ८७५); वाष्पावतार = बाहोआर (गउ० १३२)।

[९] ह्व के स्थान पर ह का आदेश हुआ है। यथा—

विह्वल = विहल (सेतु० ५।८४; ११।७०); जिह्वा = जीहा (गउ० ३२८) तथा (लीला० १००६); विह्वला = विहला (कुमा० ३।२१)।

[१०] न्म के स्थान पर म्म का आदेश हुआ है। यथा—

मन्मथ = वम्मह (सेतु० ११।३) (गउ० ७६६) (कुमा० २।५८; ३।१) तथा (लीला० ७१; ८९)।

[११] विजातीय संयुक्त वर्ग स्वजातीय संयुक्त वर्ग में बदल जाते है। यथा—

चक्रम् = चक्कं (लीला० ९३); शुक्ति = सुत्ति (कुमा० ३।७१); सर्गः = सग्गो (लीला० ३३८); रसाग्र = रसग्ग (गउ० ११७८); प्राप्तः = पत्ता (सेतु० ११।३८); निश्चल = णिच्चल (कुमा० ३।२२) (सेतु० १४।३५); सत्पुरुष = सप्पुरुष (गउ० ८०४) आदि।

[१२] आद्य 'स' का लोप हो गया है। यथा—

स्थल = थल (सेतु० ११।१२६) (कुमा० ५।६४) (लीला० १७९); स्फुरति = फुरई (गउ० ७८५); स्तम्भ = थंभ (लीला० १३१५); स्तन = थण (कुमा० १।७; ३।७८); (लीला० २५५)।

(घ) वर्णव्यत्यय-शब्दों में व्यंजन के स्थान का व्यत्यय हुआ है। यथा—

कनक = कअणा (सेतु० ८।२९); कनक = कणअ (गउ० १०५९); कनक = कयण (लीला० ७६९); करेणु = कणेरू (कुमा० ३।६०)।

(ङ) सम्प्रसारण-आपृच्छे = आउच्छामि (सेतु० ११।१११); पुञ्जितोच्छ्वसित = पुंजइऊससिअ (गउ० ५५७); मूर्ख = मुरुक्ख (कुमा० ३।५६); आपृच्छ्य = आउच्छिऊण (लीला० ४३४)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(च) संधियाँ-(i) उद्‌धृत स्वर की पूर्व स्वर के साथ प्रायः सन्धि नहीं हुई है। यथा—

निशाचर = णिसाअर (सेतु० ४।६१); सहकार = सहआर (गउ० ११७८); सखीजन = सहिअग (कुमा० ५।९६); अलिकुल = अलिउल (लीला० १७४; ६०७)।

(ii) संयुक्त व्यंजन का पूर्व स्वर ह्रस्व हो गया है। यथा—

मुहूर्त = मुहुत्त (सेतु० ८।७९); कूर्पर = कुप्पर (गउ० ६८२); मूर्ति=मुत्ति (कुमा० २।३५); नयनोत्पल = णयणुप्पल (लीला० ७७४)।

(iii) समास में कहीं-कहीं ह्रस्व स्वर के स्थान में दीर्घ और दीर्घ स्वर के स्थान में ह्रस्व हो गया है। यथा—

नदी-स्त्रोत = णइस्त्रोत (सेतु० ६।८१); शैलकटकाद्रू = सेलकडआओ (गउ० १०३२); महीस्वामिन् = महिसामिआ (कुमा० ७।५३); सप्तविंशति = सत्तावीसइ (कुमा० १।२); गौरीमुहस्य = गोरी-हरस्स (लीला० ७३५)।

(छ) लिंग-व्यत्यय—स्त्रीलिङ्ग के स्थान पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग हुआ है। यथा—

शरत् = सरओ (सेतु० १।१६) (कुमा० १।९) (लीला० ३२); विद्युता = विज्जुणा (सेतु० ४।४०); सरितः = सरिआओ (गउ० १०३५)।

(ज) आख्यात—ति तथा ते प्रत्ययों में त् का लोप हो गया है। यथा—

(i) ति—हसति = हसइ (सेतु० ११।३); हरति = हरइ (कुमा ५।६) (लीला० ५७३, ७६६, ७७६); परिणति = परिणइ (गउ० ४३३)।

(ii) ते—दीयते = दिज्जइ (सेतु० ६।११); शोभते = सोहइ (गउ० १०४५); रमते=रमइ (कुमा० १।१३; ४।६९); भणिते=भणिए (लीला० ३०३)।

(झ) कृदन्त—त्वा प्रत्यय के स्थान में तूण का आदेश हुआ है। यथा—

कृत्वा = काऊण(सेतु० ८।२८); श्रुत्वा सोछण (गउ० ८३); भुक्त्वा = भोत्तूण (कुमा० ७।५१); भणित्वा = भणिअण (लीला० २६५)।

वस्तुतः प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों की उपर्युक्त भाषागत विशेषताओं को देखने के उपरान्त यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि प्राकृत के सभी प्रतिनिधि महाकाव्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। यों कुमारपाल चरित महाकाव्य में शौरसेनी (कुमा० ७।९६); मागधी (८।३); पैशाची (८।९); चूलिकापैशाची (८।१३); और अपभ्रंश (कुमा० ८।१४) के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं; जिन्हें हम उपरोक्त गाथाओं में देख सकते हैं।

निष्कर्ष—अतः हम कह सकते हैं कि महाराष्ट्री प्राकृत की वे सम्पूर्ण भाषागत विशेषताएँ 'प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों' में परिलक्षित हैं, जिनको विद्वानों ने महाराष्ट्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत के लिए निर्दिष्ट किया है। रसास्वादन की दृष्टि से प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों की भाषा सक्षम है। घटना-क्रम, कारण-कार्य सम्बन्ध और कथानकों को तीव्र बनाने के लिए सूक्ति वाक्यों तथा वक्रोक्तियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है, जिससे भाषा में लालित्य, ओज और प्रभाव आ गया है। इसकी भाषा-भाव एवं शैली साहित्य प्रेमियों को मंत्र-मुग्ध किये बिना नहीं रहती। एक ओर जहाँ अलंकृत वर्णन शैली है, भाषा क्लिष्ट तथा समास प्रधान हो गयी है, दूसरी ओर कल्पना एवं भाव-प्रवणता का अपूर्व समन्वय होने से वह स्पष्ट, सरल और प्रवाहमयी भी दिखलाई पड़ती है। इसमें तत्सम, तद्भव तथा देशी शब्दावलियों का अद्भुत समन्वय भी हुआ है। इस भाषा के सम्बन्ध में कवि वाक्पति राज ने कहा है[1]—प्राकृत भाषा में नवीन अर्थ का दर्शन होता है, प्रबन्ध रचना में वह समृद्ध है और कोमलता के कारण मधुर है। समस्त भाषाओं का प्राकृत भाषा में सन्निवेश होता है, सब भाषाएँ इसमें से प्रादुर्भूत हुई हैं; जैसे समस्त जल समुद्र में प्रविष्ट होता है, और समुद्र से ही उद्भूत होता है। इसके पढ़ने से विशिष्ट हर्ष होता है, नेत्र विकसित-मुकलित हो जाते हैं तथा बहिर्मुख होकर हृदय विकसित हो जाता है।" संक्षेप में प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्यों की भाषा, शब्द-भण्डार और भावप्रकाशन की दृष्टियों से पूर्णरूपेण समृद्ध है।

●

---

१. गउडबहो—गाथा संख्या ९२, ९३ एवं ९४ देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

HISTORICAL ROLE OF JAINISM

P. KISHORE KUMAR*

According to traditions, Jainism remained in association with Andhra Pradesh from the earliest times, but the substantial and historical evidence is from the second century B. C. as it is clear from the Guṇṭupalli inscription of Khārvela. Jainism gradually developed in this region because of the royal patronage, munificence of the bankers and the great efforts of the religious teachers. The kings, their ministers and bankers built temples and installed images in them. They also gave different kinds of charities. The religious teachers preached ethics, but not religious dogmas. Besides, they placed high idealism of their character before the people. They wanted to bring about moral uplift of the people. As a result, Jainism was accepted by a large number of people. Besides, these religious teachers were great scholars, and they wrote many works on different subjects. Thus, they enriched Indian literature.

1. LEGENDARY ASSOCIATION OF JAINISM BEFORE MAHĀVĪRA

There are legendary traditions of the early association of Jainism with Andhra Pradesh. It is said that Bāhubalī, son of the first Tīrthaṅkara Prabhādeva, established his kingdom with Podana as his capital. Podana is identified with Bodhana in the Nizāmābād district of Andhra Pradesh.[1] This place contains many Jaina antiquities including sculptures and inscriptions. Further, the tenth Jaina Tīrthaṅkara Sītalanātha[2] was born at Bhadalpura or Bhadrapura[3] which is identified by some with Bhadrachalam on the river of Godāvarī[4].

2. JAINISM DURING THE PERIOD OF MAHĀVĪRA (Cir. 600 B.C.)

There are traditions even of Mahāvīra's visit to South India. Mahāvīra lived during the sixth century B. C. The *Jīvandharacharita*, of Bhāskara, informs that Jīvandhara, who was the ruling chief of this region at this time, was a Jaina. He cordially received Mahāvira and became an ascetic after obtaining *dīkṣa* from him. Jīvandhara seems to

---

*Ujjain (M. P.).

1. B. S. L. Hanumantha Rao : *RA*, p. 144.
2. *EI*, XX, p. 85.
3. *IA*, II, p. 136.
4. *Ibid.*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

be an imaginary name, actually speaking, there was no such ruler whose kingdom extended to and comprised southern India during this period.

Further, there are literary tradition recorded in the *Haribhadrīya vṛiṭṭi*,[1] which states that Mahāvīra himself preached his doctrine[2] in the region of Kaḷiṅga, which comprised the Northern frontiers of the Āndhra country.[3] As these traditions are of later period, they cannot be relied upon.

K. P. Jayswal infers from the fourteenth line of the Hatigumpha inscription of Khārvela, that Mahāvīra actually preached his *dharma* from Kumari Hill (Udayagiri) in Kaḷiṅga.[4] The latest archaeological discoveries also tend to support the evidence of Jaina literature which takes back the advent of Jainism into Āndhra Deśa to the Pre-Mauryan period.

3. JAINISM DURING THE NANDA PERIOD (Cir. 400 B. C.)

The Nanda's ruled over Magadha in about the fourth century B. C. onwards. From the Hatigumpha inscription of Khārvela, it is known that Khārvela brought back from Magadha the image of *Ādi Jaina* of Kaḷiṅga which the Nanda King, evidently, Mahapadmananda had carried away as a trophy.[5] This reveals that Jainism was prevelant in Kaḷiṅga when it was attacked by the Nanda ruler of Magadha.

Regarding Ādi Jaina, it is difficult to identify with any Tirthaṅkara whether it is either Ṛṣabha or Pārśvanātha or Mahāvīra.

4. JAINISM DURING THE MAURYAS (Cir. 321-184. B. C.)

The Mauryas ruled from Cir. 321 B. C. to 184 B. C. and this Āndhra region was the part of their empire. Aśokan inscriptions have been discovered at some places in Āndhra Pradesh.

It is also known that Chandragupta Maurya, grandfather of Aśoka, during the last years of his reign, returned to Śrāvaṇabelagola in the company of his preceptor Bhadrabāhu.[6] This also leads to believe that Jainas might have also migrated to Andhra Pradesh during his period. Samprati, the grandson of Aśoka, was a great patron of Jainism.[7] Sehastin

---

1. *Karnataka through the Ages.* Published by the Āgamedaya Samiti. pp. 218-220.
2. *EI*, Vol. XX, p. 88 and n. 11.
3. P. B. Desai; *Jainism in South India*, p. 3.
4. *JBORS*, XIII, p. 245.
5. *EI*, XX, p. 72 ff.
6. *The Cambridge History of India*, 1, p. 147.
7. J. P. Jain; *The Jaina Sources of the History of Ancient India*, p. 105.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

was his preceptor.[1] At the and of third century B. C.[2] Saṁprati is known to have sent missionaries to Āndhra and Dramiḷa countries to revive the fortunes of Jainism which suffered under Aśoka and is hailed as Jaina-Asoka.[3]

5. JAINISM UNDER THE CHEDIS AND THE ŚĀTAVĀHANAS (Cir. 200 B. C. to 225 A. D.)

(*i*) *The Chedi Period* (Cir. 200 B. C.) : During the second century B. C., Āndhra region was ruled by the Chedi Dynasty of Kaḷiṅga, which included the Northern districts of Andhra Pradesh. King Khārvela was the ruler of Kaḷiṅga. He made all efforts for Jainism. From the Hatigumpha inscription, it is known that[4] Khārvela was a great patron of Jainism. He invited Jaina saints to Kaḷiṅga and built caves for their dwelling. Though he was follower of Jainism, he was liberal in the religious matters. He also honoured the ascetics of other sects. Further, he brought back the Jaina image from Magadha which was carried by the Nanda ruler.

Besides the Hatigumpha inscription, Khārvela's another inscription at Guṇṭupalli[5] records the construction of steps by a lady disciple Sūyananāth, who was residing in the caves[6]. The Jaina caves of the second century B. C. at Guṇṭupalli in the East Godavari district, prove that Jainism was very popular during the reign of Chedis.

(*ii*) *The Śātavāhna Period* (185 B. C. to 225 A. D.): The Śātavāhanas or Śālivāhanas ruled Āndhra region from about 185 B. C. to 225 A. D. Śālivāhana was patron of Jainism, and built many Jaina temples and *Chaityas*. Śālivāhana is identified with Simukha Śātavāhana. Very recently coins of Simukha Śātavāhana have been found from the Jaina Cave on the right bank of river Godavari in *Munula Guṭṭa* near the village Kappārāopeṭ, Peddapalli Tāluk, Karimnagar District by P. V. P. Sastri[7] in course of his epigraphical survey.

1. *IA* XI, p. 246. and also See. *CHI*. II, p. 359.
2. P. B. Desai; *Op. cit.*, p. 9.
3. Vincent Smith; *Early History of India*, (3rd Edn), p. 193.
4. *JBORS* XIII, pp. 223, 245-246.
5. R. Subrahmanyam; *Guṇṭupalli Brāhmī Inscription of Khārvela*, 1958.
6. B. S. L. Hanumantha Rao : *Op. cit.* pp. 142-143.
7. *Legends of the coins of Śātavāhana*—presented a paper to the IV Epigraphical Conference, Madras, 1978.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The Jaina literature[1] contains many references to the early Śātavāhana kings and their patronage of Jainism. The Jaina *Avasyāka sūtra*[2] refers to a Śālivāhana of Pratisṭānapura (Paithan) as a devotee of Jaina *deva*. Jaina Prabhāsūri, in his *Kalpapradīpa* records that Śimukha was a patron of Jainism. Further, he writes that there were fifty two warriors in the court of Śālivāhana of Paithan, and they built many Jaina temples and *Chaityas*[3] in their own names.

According to the *Prabhāvikāra charita*, Śri Śātavāhana built a Jaina *tirtha*.[4] *The Kalakāchārya Kathānaka*[5] informs us, that Kalaka was the Jaina teacher of the Śātavāhana who ruled over Paithan. Some Jaina works mentioned, Śaktikumāra, son of Śālivāhana.[6] He is identified with Śaktiśrī, son of Śātakarṇi and Nāgamika[7]. The history of the above works are doubtful; but they clearly indicate how the Jaina writers cherished the memory of the liberal patronage. They enjoyed at the hands of the Śātavāhana Kings.

Jainism also flourished greatly during this period, because of efforts of the great *ācharya* of Jainism called Kunda Kunda, who lived on the hill Konakoṇḍla in the Anantapur district. A damaged inscription from Konakoṇḍla[8] mentions that the eminent teacher Kunda Kunda, was the chief of the *Mūla saṁgha*. In the South, every line of teachers was proud of tracing its lineage to Kunda Kunda or *Kunda-Kundānyaya*. According to A. N. Upadhaye, Kunda Kunda lived in the beginning of the Christian era[9] i. e. first century A. D. Because of his reputation, Kunda Kunda had large followers, and is known to have founded the *Balatkāragaṇa* and *Sarśvatigachchha* or *Vakragachchha*.[10]

6. JAINISM DURING THE GAṄGA (Cir. 200-350 A. D.)

Siṁhanandin is another great figure in the early history of Jainism in Andhra Pradesh. He is known to have participated in contemporary

1. B. S. L. Hanumantha Rao : *Op. cit.* p. 147.
2. *JBORS*, XVI, Parts III and IV, p. 290.
3. *Śatvāhana and Śālivāhana Saptasati JBORS*, X, p. 133.
4. *IA*, XI, pp. 247-251.
5. *QJMS*, XIII, pp. 498 ff.
6. E. J. Rapson, *op. cit.*, 1, p. 478.
7. *Select Inscriptions*, 1, p. 190, Note. 1.
8. *SII*, IX, Pt, No. 288.
9. Introduction to *Pravathanāsāra*, p. 2.
10. J. P. Jain : *The Jaina Sources of the History of Ancient India*, pp. 120-126.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

politics and his mame is connected with the foundation of the western Gaṅgas of Talkheḍ. The tradition further informs that Siṁhanandin trained two Ikṣhvāku princes, Dāddiga and Mādhava[1], in the art of government at Perūr in the Cuḍḍapah district. Then, he enabled them in the establishment of the Gaṅga Kingdom in 350 A. D. This tradition is mentioned repeatedly in the twelfth century[2] records. Perūr was originally a Jaina centre. It appears that these two early exponents of Jaina faith in Āndhra, toured and propagated Jainism among the masses. Their tours indeed, infused new blood and vigour into Jainism.

7. JAINISM DURING THE EARLY CHĀḶUKYAN PERIOD (Cir. 624-806 A. D.)

The establishment of the Eastern Chāḷukyan Kingdom of Veṅgi in 624 A. D. ushered in, indeed a glorious phase in the history of Āndhra Jainism. The Chāḷukyas of Veṅgi were not indigenous inhabitants of the country, over which they held sway for merely four centuries. They were an offshoot of the great Chāḷukya family of Bādāmi who patronised Jainism. They came from Karṇātaka but soon identified themselves with Āndhradeśa.[3] The Veṅgi Kingdom was limited to the east coast and baulk of Western Āndhra. The regions of Telaṅgānā and Rāyalasīmā were included in the dominions of the dynasties ruling from outside Āndhra, e. g. Chāḷukyas of Bādāmi, Rāṣṭrakūṭa and western Chāḷukyan empire of Kaḷyāṇa. All these imperial powers, which swayed over Āndhra, were patrons of Jainism and they encouraged it. The kingdom of Veṅgi became a cock pit of their Sanjunary wars. Even under such political circumstances, Jainism became popular in Āndhra, only due to enlightened bonevolance of the Eastern Chāḷukyas of Veṅgī.

The first recorded Jaina establishment in Āndhra is the *Naḍuṁbi Vasadi*[4] of modern Vijayāvāḍa in the Kṛishṇā district. This is known from the Muśinikoṇḍa plates of Vishṇuvardhana III in 718-752 A. D.[5] It records the grant of the village of Muśinikoṇḍa of the *tonka-naṭavāḍi-viṣaya* to the venarable Kālibhadrāchārya for the benefit of Jaina temple i. e. *Naḍumbi-varadi*, presumably built by Ayyana Mahādevi, queen of Kubja Vishṇuvardhana (A. D. 624-641). The record renews the grant of the village Muśinikoṇḍa. It further mentions the lineage of the pontiff of the *Varadi* who belonged to the Venerable community of the

1. P. B. Desai; *JSI*, p. 10.
2. *EP*, *Carn*, Vol. VII, Ch. 4.
3. *JAHRS*, Vol VIII, p. 149.
4. *ARSIE*, 1961-17, C. P. No. 9.
5. N. Venkata Ramanayya : *The Eastern Chāḷukyās of Veṅgi*, 74.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Surāshṭara gaṇa or *Kāvūrūri gaṇa* of the *Saṅgānvaya*. Kālibhadrāchārya, who got the grant renewed, was the seventh in line from Chandraprabha, the first pontiff or the founder of the *Varadi*. It may not be wrong to infer that Chandraprabha, the founder of the *baradi*, might have migrated from the Western Deccan, where the *Kāvūrūri gaṇa* was popular. We also know that Kubja Vishṇuvardhana acted as *Yuvarāja*.[1] Therefore he was appointed as Governor of Veṅgi. Very likely, Chandraprabha might have come to Veṅgi alongwith his desciple. Then, he became a teacher of Ayyana Mahādevi, the wife of Kubjavishṇuvardhana.

Vishṇuvardhana's leanings towards Jainism are also known from the *Kollūru kaifiyat*[2] which informs that in the early years, several Jaina *rājās* Jayasiṁha, Malladeva, Sāmadeva, Saṅgideva, Permāḍideva and the Veṅgi king Vishṇuvardhana ruled over Āndhra.

In the reign of Vijayāditya son and successor of Vishṇuvardhana III, the Chāḷukyas of Bādāmi were defeated by the Rāṣṭrakūṭas about 750 A. D. Vijayāditya was also defeated by the Rāṣṭrakūṭa king Govind and was compelled to purchase peace.[3] Since then, the Rāṣṭrakūṭa influence gradually increased in Veṅgi and Vishṇuvardhana IV (771-806 A. D.) gave his daughter Sīlamahādevi in marriage to the Rāṣṭrakūṭa King Dhruva[4]. It was under Vishṇuvardhana IV, that Rāmatīrtham in the Viśākhapaṭnam district, was developed into a fine Jaina centre of learning.[5] It is also evident from the inscription on the pedastal of a broken Jaina image at Rāmatīrtham that the place was an influential centre of the Jaina faith during his period.

The greatest benefactor of Jainism among the Eastern Chāḷukyan Kings was Amma II (945-970 A. D.), the son and successor of Bhīma II. Though his inscriptions at Tāḍikoṇḍa[6] and Elavaṟṟu[7] call him in clear terms *Paramamaheśvara*. He seems to have followed a liberal policy in religious matters and dealt with all the faiths in his dominions in an impartial manner. His copper plate records, speak of his munificent patronage for the benefit of Jaina temples and priests. It is known from the copper plate grants belonging to the period of Amma II. That while

1. *Early History of Deccan*, p. 215.
2. B. Seshagiri Rao : *Studies in South Indian Jainism*, Part II, Ch. I, p. 15.
3. A. S. Altekar : *The Rāṣṭrakūṭas and their Times*, p. 43.
4. N. V. Ramanayya : *op. cit.*, pp. 85-86.
5. *MAR*, 1908-9, pp. 10-11.
6. *EI*, XXIII, p. 161 ff.
7. *IA*. XXII, p. 15.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the reigning monarch was invariably *Paramamaheśvara*, members of his royal family, high officials of state, vassal kings and feudal lords happened to be followers of Jaina faith. Moreover, it is apparent that the grants to the Jaina institutions were made at the request of others, which, indicates the king's impartial attitude towards religious matters.

His first grant is known from the Kalchuṁbaṟṟu plates[1]. It was caused to be given at the request of his favourite courtsen (*gaṇika*) Chāme-kāṁba of the *Paṭṭavardhini* family. This family has produced eminent generals who served the Vēṅgi kingdom very faithfully.[2] It is evident from the plates that the grant of the village Kalchuṁbaṟṟu modern Kanchumaṟṟu in the West Godāvarī district, was made to the Jaina teacher Arhanadin, who belonged to the *Valaharigaṇa* and the *Aḍḍakaḷi gachchha*, for making repairs to the charitable dining hall of a Jaina temple called *Sarvalokāsraya Jaina Bhavan*. Presumably, Chāmakamba was a pupil (*Śrāvika*) of Archanadin. His teacher was Ayyapotamuni whose preceptor was Sakala Chandra Siddhārita muni. They are said to have been possessors of virtues and of a measured fame. These ascetics were of *Valaharigaṇa* of the *Aḍḍakaḷi gachchha*. It is said, that these Chāḷukyan rulers were "renowned for their charitable disposition" as their desires were always bent on granting excellent food to the Jaina ascetics (*Śramaṇas*) of the four castes.[3]

The second grant of Amma II is recorded on the Muliyapūṇḍi platas[4] given to the *Kaṭakābharaṇa-Jaināla ya*, which lay in the south of Dharmapuri, Prakāśam district. No doubt, the grant was made at the request of his vassal Chief, Durgarāja, who was the great grandson of Pāṅḍuraṅga and the governor of the province of Karma Rāṣṭra. The *Kaṭakābharaṇa Jaināla ya* was obviously named after the chieftain Durgarāja, who bore the epithet *Kaṭakābharaṇa*. The pontiff of *Jaināla ya* was Śrīmān Indradevi muni of the *Yāpanīya Saṁgha*, *Koṭimāḍuva gaṇa* and *Nandi gachchha*. He possessed *Pratihāra mahima* and was praised by the learned people of the World.

His Muśulipaṭnam plates,[5] records the grant of Pedagādelavaṟṟu, which was made at the request of his generals Bhīma and Naravāhana, for constructing two *Jaināla yas* at Vijayavāḍa in the Kṛishṇa district. Jayasena was put incharge of the Jaina establishment, and was honoured

1. *EI*, VII, pp. 177-192.
2. *EI*, XII, pp. 61-64.
3. Kalchuṁbaṟṟu plates : *EI*, VII, pp. 171-192, and see also inscription No. 33 of this volume.
4. *EI*, IX, pp. 47-56.
5. *EI*, XXIV, p. 268.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

by the *Śrāvakas, Kṣhapaṇakas, Kṣhullakas* and *Ajjikas.* It may not be wrong to assume that Amma II, though devotee of Śaivate, probably made these grants to the Jaina temples in order to please his officers and keep them loyal to him. Owing to public upsurge his vassals might have requested his Lord to donate grants to *Jaina basadis* to please the people. Unfortunately, the above mentioned Jaina temples are not traceable now. They might have been extinguished in course of time.

For another century, thereafter we do not hear of Jainism again. It cannot be argued that Jainism was completely forshaken and forgotten in this land. Though the evidence for this period is lacking, we learn from an inscription belonging to the 11th century A. D. at Rāmatīrthaṁ in Viśākhapaṭanaṁ district, that Jainism continued to flourish in this land and the Rāmatīrthaṁ was still considered to be a Jaina centre even in the time of Vishṇuvardhana IV C. 771-806 A. D. An Inscription[1] of Vimalāditya informs us that the saint Trikāḷayogi-Siddāṅtadevamuni, the spiritual preceptor of the reigning king and the head of the *Deśigaṇa* came on piligrimage to Rāmatīrthaṁ and paid respects to Rāmakoṇḍa. The inscription is vaisible in Kanarese language and the teacher is said to have paid visit to Rāmatīrthaṁ. It may not be far fetched to assume that the *Āchārya* Trikāḷayogi originally hailed from Karṇāṭaka and that he apparently visited Āndhra dēśa and converted Vimalāditya to Jainism during his last years.

Thus with the liberal attitude of the Eastern Chāḷukyas of Veṅgi, Jainism became a strong rival of Hinduism. The Jainas constructed *Jaina baradis* and grants were made by the rulers and their vassals for upkeep of these establishments.

8. JAINISM DURING THE RĀṢṬRAKŪṬA PERIOD (Cir. 814 to 932 A. D.)

The Rāṣṭrakūṭas ruled over Āndhra region from 814 to 932 A. D. It is generally said that Amoghavarsha I, after defeating Guṅga Vijayāditya of Veṅgi in the battle of Veṅgavalli, became overlord of the entire Āndhra[2]. There is no recorded evidence to show that western Āndhra was under the Rāṣṭrakūṭas.

Literary as well as Epigraphical sources show that the Rāṣṭrakūṭa period marked, indeed, the zenith of Jainism in the Āndhra-Karṇāṭaka country. This period produced a marvellous galaxy of Jaina authors who produced works in different languages and on different subjects. Virasena

1. B. Seshagiri Rao : *op. cit.*, Part II, p. 20.
2. *Early History of Deccan*, p. 275.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

wrote *Dhavala, Jayadhavala* and *Mahādhavala*, Jaina Senasūri Punnāta's *Harivaṁśa Purāṇa, Jinasenasvāmin's Jayadhavala, Ādipurāṇa*, Guṇabhadra's *Mahāpurāṇa* (last two Chapters only) and Ugrādityas *Kaḷyāṇakāraka* are well known. It is rather surprising to find that many of the Rāṣṭrakūṭa generals like Baṅkeya, Śrīvalaya and Narasiṁha were staunch Jainas. In a word, under the Rāṣṭrakūṭas, Jainism had a career of prosperity for a few centuries alongwith Śaiva and Vaishṇava forms of Hindu religion. Some of the kings of Rāṣṭrakūṭa dynasty were devout Jaina's themselves.

Amoghavarsha Nṛipatuṅga I (814-888 A. D.) had strong leanings towards Jainism which is evidenced by the fact that Jīnasena, the author of *Ādipurāṇa*, was his *guru*.[1] Further, Mahāvīrāchārya, a Jaina mathematician described him as a follower of *Syādvāda*.[2] He also appointed Guṇabhadra, a famous Jaina monk and scholar, as tutor to his heir apparent Kṛishṇa. He seems to have also granted land for *Jainālaya* at the request of his Jaina general Baṅkesaraya.[3] According to A. S. Altekar, Amoghavarsha I often put his *yuvarāja* or the minister-in-charge of the administration, in order to pass some days in retirement and contemplation, in the company of his Jaina *gurus*.[4] Though there is no recorded evidence to extend Amoghavarsha's reign in the coastal area, the Jaina centre like Rāmatīrtham in the Viśākhapaṭnam district and Biccavolu in the East Godāvari district are frequently to have received his patronage.[5]

As we have stated above, Baṅkeya was the Viceroy of Banvāsi and a staunch follower of Jainism. It is known from an inscription at Hemāvati[6] in the Anantapur district that Baṅkeya's son Kundate died after *Sanyāsana* for thirty days. We know from the Konnūs epigraph[7] that Baṅkeya had a son named Kundate who was ruling over Niḍuguṇḍage twelve division under his father Baṅkeya in the twentieth regnal year of Amoghavarsha I. Now it is obvious that not only Baṅkeya but also his son had a great reverence towards Jainism, but both were Jainas, observing the path preached by Jainism.

King Amoghavarṣha's son and successor was Kṛishṇa II, who was like his father a devout of Jaina. As we know, his education was conducted by Guṇabhadra. He himself tells us in the last five chapters of his

1. R. G. Bhandarkar, *Early History of Deccan*, p. 76.
2. A. S. Altekar; *op. cit.* p. 88.
3. *EI*, VI, No. 4.
4. *Rāṣṭrakūṭas and their Times*, p. 88.
5. S. Gopalakrishna Murthy : *Jaina Vestiges in Andhra*, Chapter IV.
6. *Studies in Indian Epigraphy*, II, pp. 76-80.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

teacher Jainasena's work, *Ādipūrāṇa,* that King Kṛishṇa II was his desciple[1]. Though there is no epigraphical evidence to show that Kṛishṇa gave gifts to Jaina establishments in Āndhra, it may be presumed that the Jaina centres which are maintained by his father's support, might have received his patronage, as the Jaina sculptures from Danavulāpāḍu in the Cuḍḍapah district, Pedatuṁbhalam in the Kurnool district, Konakoṇḍla in the Anantapūr district, reveal the Rāṣṭrakūṭa influence.[2]

Indra III, the successor of Kṛiṣhṇa II, was also a parton of Jainism. During his reign, Bodhana in the Nizāmabād district and Danavailapāḍa in the Cuḍḍapaḥ district became the flourishing *tīrthās.* Podana, the present Bodhana, appears to have been a stronghold of Jainism even, in early times. It is celebrated in the Jaina literature as the capital of Bāhubali.[3] It is also mentioned in connection with the life of Pārśvanātha.[4] Even now, the village Bodhana possesses innumerable Jaina sculptures and inscriptions. It is also known from one of the Śravanabelagola inscriptions[5] that the emperor Bharata, son of Ādinātha caused to be made Podanapura i. e. Bodhan an image of Bāhubali, 525 bows high. But no trace of it is to be found there now. Indra III is also known to have built as stone pedastal for the bathing ceremony of Śāntinātha,[6] at Danavalapāḍu. Innumerable inscriptions engraved on sculptured pillars, pedastals of images and stone tablets have been traced here by archaeologists.[7] Herein was excavated chamber of bricks in which was enshrined an image of Pārśvanātha. It is also evident from an epigraph[8] that Śrīvijaya, who was the great commander of Indra III, observed the vow of *Sanyāsana* and terminated his life.

From the table inscriptions[9] on the *niṣhīdhi* memorials, as said above, we learn that it was the place to which pious Jainas restored and observed then the vow of *Sallekhana.* It is apparent that Danavalpāḍu was considered to be a sacred place and faithful followers of the Jaina religion thronged there from distant places in order to observe the vow of *Sallekhana* for terminating their lives. The word *Sallekhana* is a 'death by slow starvation'. This vow is generally undertaken with the

1. *JBBRAS*, XXII, p. 85.
2. S. Gopalakrishna Murthy, *op. cit.* Ch. IV.
3. *Ādipurāṇa*, IX, 65 — Phase passage XIV, 43.
4. *Bhārata* (Telugu monthly) 1933, Sept. p. 26.
5. *EI*, II, No. 234.
6. *SII*, IX, Pt. 1, No. 63.
7. *ASR*, 1905-6, pp. 121-122.
8. *EI*, X, p. 147 ff.
9. *ARSIE*, 1905-6, p. 121.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

object of accomplishing what is known as *Samādhimaraṇa* (peaceful passing away), or *Sanyāsamaraṇa* (the wise man's demise), which is the ambition of every pious person.[1] According to Jaina mythology, *Sallekhana* is nothing but a wise rightous and planned preparation for the inevitable death, because the manner how one meets his end often determines the nature and prospects of his life and death. We also know from the Jammala maḍugu Kaifiyat[2] that the original name of the village Danavalapāḍu was Kurumaili. The village acquired the present name is Danavulapāḍu which means the residence of Dānavas. Those are the Rāṣṭrakūṭas or Demons.

The other kings of this dynasty like Govinda III and Govinda IV were influenced by Jaina tenets. For instance, Kadaba copper plate grant dated S. 735[3], says that the king Prabhūtavarṣa or Govinda III, at the request of one Chākirāja, granted the village of Jalamaṅgaḷa to a Jaina monk, Arkakīrthin on behalf of the *Jainālaya* at Śālagrāma. Further, it is obvious from the Halaharavi inscription dated Ś. 854[4] that during the reign of the Rāṣṭrakūṭa king Nityavarṣa or Govinda IV, Chāndıyabbe, the wife of his vessal Kannaramalla, constructed a *basadi* in Nandavāra and endowed with land and three gold *gādyānas*.

Kṛishṇa III, the later king of the Rāṣṭrakūṭa dynasty and his vassals the Vemulavāḍa Chāḷukyas were patrons of Jaina Scholarships. The court of Kṛishṇa III at Mānyakheṭa was adorned by scholars and poets that migrated from Āndhra. His minister Gajānakūsa was a poet of great reputation.[5] Ponna or Ponnamayya, the author of the famous *Śāntipurāṇa* and *Jainākṣaramāla* in Kannada lived at his court and was given the *birudu* of *Abhayakavi Chakravartin.*[6] According to G. S. Dikshit, Ponna went to Mānyakheṭa from Panganūr[7] in Kammanāḍu or Guṇṭūr district. He is also believed to have written *Ādipurāṇa* in Telugu. According to N. Venkata Rao, he is even said to have translated *Visāṭapurāṇa* from the *Mahābhārata* into Telugu.[8] Owing to lack of extant literature, this suggestion still remains a conjucture.

1. J. P. Jain, *Religion and Culture of the Jains*, pp. 97-99.
2. *IA*, 1, p. 209.
3. *EI*, IV, p. 340.
4. *SII*, IX, pt. 1, No. 62.
5. Salotgi pillar inscription, *EI* No. 6.
6. Kavicharite, 1, pp. 40-41.
7. Veṅgi and Karnāṭaka, *PIHE*, 1953, pp. 151-153.
8. *Lives of Telugu Poets*, p. 87.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The last prominent ruler in the Rāṣṭrakūṭa dynasty is that of King Indra IV. He is known to have accepted death in the typically Jaina fashion called *Sallekhana*. Indra's epitap[1] describes him as the bravest of the brave. Neither he nor his matrimonial uncle, however, could hold their own dominion against Taila. Both of them were signally defeated. Eventually, they became Jaina monks and died by the vow of *Sallekhana*. His uncle passed away in 975 A. D. and Indra IV in 982 A. D.

A. S. Altekar appears to be absolutely right in saying[2] that "about one third of the population of present Āndhra-Karṇāṭaka professed Jainism during the hay days of the Rāṣṭrakūṭas. Jainism had a firm ground in Āndhra. The Jaina centres like Rāmatīrtham, Biccavolu, Bodhan, Rāyadurgaṁ and Danavalapāḍu in Andhra Pradesh flourished under the Rāṣṭrakūṭas.

9. JAINISM UNDER THE CHĀḶUKYAS OF VEMULA VĀḌA (930-1000 A. D.)

The Vemulavāḍa Chāḷukya chiefs were vessals of the. Rāṣṭrakūṭas and bestowed liberal patronage to Jaiṅism and Jaina writers, Arikesarin II (930-955 A. D.) was perhaps the most remarkable personage of his family. He was patron of Pampa, the first great in Kannaḍa. The Kurkyāla inscription[3] gives us interesting details pertaining to Pampa's native place, his patronage and family, the habitat of his ancestors etc. It is also known from the Kurkyāla inscription that Pampa had a brother named Jaina-Vallabha who was also a poet of distinction like his brother. The main object of the epigraph appears to be to enumerate the pious deeds of Jaina Vallabha. Like his brother Pampa, he embraced Jainism and built a *Jainālaya* called *Tribhuvanatilaka*, after erecting the images of all the *Tīrthaṅkaras* and of Chakrēśvari on Bommalaguṭṭa near the village Kurkyāla in the Karīmnagar district.

The later member of this royal family Boddega, had strong leanings towards Jainism. An inscription on the pedastal of a Jaina image in the compound of the *Rajarājeśvara* temple at Vemulavāḍa[4] in the Karīmnagar district states that Baddega II built a Jaina temple named *Subhādama-Jainālaya* in the capital of Leṁbulapāṭaka, modern Vemulavāḍa for his teacher Somadevasuri of *Gauḍa Saṁgha*.

---

1. *The Rāṣṭrakūṭas and their Times*, 11. 131-132.
2. A. S. Altekar, *op. cit.* p. 313.
3. *EI.* II, pp. 27-30.
4. *ARSIE*, 158 of 1946-47.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Arikesarin III, son of Boddega II, was also a Jaina. In his Prabhaṇi plates,[1] dated Ś. 888, Arikesarin III is said to have given a gift of the village *Kuṭṭam-vriṭṭi Vanikaṭupalu* in the midst of Repaka, Twelve in the *Sabbi* and thousand to Somadevasūri who was perhaps the *Stānapati* of the *Subhādāma Jainalaya.*

The Chāḷukya's of Vemulavāḍa, though a petty dynasty, were, indeed, great patrons of Jainism and men of letters. It was under them that Jainism in Āndhra enjoyed a glorious career. The great Jaina scholars like Paṁpa and Somadevasūri, who were held in great esteem by many kings of the age, flourished under the aegis of the Chāḷukyas of Vemulavada.[2] Under them, the Jaina organisations became important seats of learning where the monks taught the day disciples all the branches of knowledge.

10. JAINISM UNDER THE LATER CHĀḶUKYAS OF KAḶYĀṆA (Cir. 1000 to 1100 A. D.)

The later Chāḷukyas of Kaḷyāṇa, who succeeded the Rāṣṭrakūṭas in Āndhra, were also patrons of Jainism. A large number of inscriptions, ascribed to this period, bear testimony to their patronage and their rich contribution to the glorious career of Jainism in Āndhra during their hegimony. Mālkhed, for a time was the temporary capital of the early rulers and later Poṭalakire and finally Kaḷyāṇa founded by Somēśvara, were the capitals in succession. Out of them, Poṭalakire was of great strategic importance to the Chāḷukyan Empire, from its inception. It was the town from which Brahmeśvara, a powerful advocate of Jaina Law and author of two Kannaḍa works, hailed.[3] It was also the capital of Jayasiṁha II according to the Kannaḍa *Baravapurāṇa.* It was very important Jaina centre comprising 500 Jaina *basadis* then. Numerous Jaina images of that period belonging to this town have been collected and are preserved in the Khajāna building Museum at Hyderabad. This ancient Poṭalakiṛe is identified with the present Paṭhāncheruvu, 27 km from the city of Hyderabad.

Jagadekamalla (i.e. Jayasiṁha II), whose capital was Paṭhāncheruvu, patronised Jainism. Inscription No. 39 from Māski[4], deposited in the State Museum Hyderabad and assigned to Jayasiṁha II (A. D. 1027), registers the gift of 50 *mattars* of black-soil, 50 *mattars* of *akaḍi* etc., to the Jaina *Besadi,* constructed by Basavoja in the year S. 949 (A. D.

1. N. V. Ramanayya : *op. cit.* pp. 92-98.
2. S. Gopalakrishna Murthy : *op. cit.*, Pt. XI and XII.
3. *Karṇāṭaka Kavichanite*, 1, p. 131.
4. Māski record, *HAS*, XVIII, p. 42-33.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1027). Āhavamalla Someśvara I (i.e. Trailokyamalla), the successor of Jagadekamalla was also a good patron of Jainism and this is borne out by a Śrāvaṇabelagola inscription which records that the Jaina teacher Svāmin won the title *Sabdachaturmukha* at the hands of king Āhavamalla. Besides this, one there are several other records, showing his liberal patronage to Jainism. The Chilkūra inscription, assigned to Vikramāditya[1] V, and belonging to A. D. 1012, registers a land gift to Jaina temple whose presiding deity was *Pārśvanāthadeva* and Vikramāditya VI was ruling over his flourishing kingdom.

His successor, Tribhuvanamalla Deva (i. e. Vikramāditya VI), the distinguished prince of the dynasty, is also celebrated in several records for his patronage. During his reign, many Jaina establishments in Āndhra received patronage from the Chāḷukyan princes and their vassals. He is also praised for his *mahādānas* including Viśvachakra.[2] Bodhan, Kona—koṇḍla, Ujjili, Pudūr, Bairanṭpalli, Kolanupāk, Gabbūru, Chilkūru, Anumakoṇḍa, Bānājpeṭ, Togarakuṅṭa etc., were the prosperous Jaina *tīrthas* and gifts were given by the overlord and his vassals.

One inscription from Jeḍcharla[3], dated A. D. 1126, refers to the reign of *Bhūlokamalla* (i. e. Somēśvara III) in which a certain merchant named Bommiseṭṭi constructed a *Chaityālaya* at Gaṅgāpūr, while Bhūlokamalla was ruling from Kalyāṇa and his younger brother Tailapa ruled over Kandūr-nādu. This *Chaityālaya* may safely be identified with the present Jaina *basadi* in Gollattagudi near Gangapur, in the Mahaboobnagar district. The presiding deity of the *Chaityālaya* is mentioned as *Parśvanātha*[4] and Mahāvīra as hitherto believed. There are two records referring to Tribhuvanamallavīra Somēśvara IV, the last ruler of the dynasty as a patron of Jaina faith and its supporter.

The analysis of these records goes to prove that Jainism was widespread and the rulers invariably supported and patronised it. Among the subordinate powers of the later Chāḷukya's, the early Kākatiyas, the Polavasa chiefs and the Nalaṁba Pallavas were important. Moreover, they were all patrons of Jainism too.

11. JAINISM UNDER THE KĀKATĪYAS (1140 to 1200 A. D.)

The early Kākatīya's patronised Jainism. The epigraphs as well as the *Kaifiyats* inform us that Warangal flourished as a Jaina *tīrtha* during

1. *EA*, IV, pp. 50-55.
2. *SII*, IX, pt. 1. 158-160.
3. *EA*. VI, pp. 49-53.
4. Jaḍcherlarecord, *EA*, IV, see Text line 22.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the early Kākatīyas. The Warangal *Kaifiyat* informs that there was a hill called '*Hanumadgiri*' to the north-east of *Hidamhaśrama* in north *Daṇḍaka*, the seat of *devas* and *ṛiṣhis*. This Hanumadgiri was discovered by a person called Ekāmbaranātha (the *muni* with a single cloth), probably a Śvetāmbara Jaina *muni* who established several dieties in it, Siddheśvara in the middle, Devi Padmākṣī in the west, Durgā *Śakti* in the north, Gopalamūrti in the south and Bhadrakāḷi in the east. It is, therefore, likely that these deities indeed be the later Śaivate variants of the original Jaina deities Siddha and Padmāvati.

Regarding the patronage of the early Kākatīyas, it is known from the Kāzipet Dargā inscription[1] that Prola I obtained Anumakoṇḍa *Vishaya* as brief from Trailokyamalla Someśvara I (A. D. 1042-1068). According to the Padmākṣi temple inscription[2] Beta II, son, of Prola I, under the able guidance of his minister Vaija, managed to annex Sabbi-1000 to his existing Anumakoṇḍa *Vishaya* and got it ratified by his over lord, Vikramāditya VI. Further, the same inscription records that Vaija's son, Pergaḍa Beta, who became the minister of Kākatīya Prola II, constructed some temples and his wife Mailama built a *Kaḍalālaya Basadi*, on the top of the hill at Anumakoṇḍa and endowed it with some land. In the light of the epigraph and the existing Jaina images, it has been aptly observed that the present Goddess Padmākṣi near Anumakoṇḍa was originally a Jaina goddess, probably, Padmāvati, the *Śāsanadevi* of Pārśvanātha. H. Krishna Sastry[3] is perhaps right in saying that during the time of Prola II, the goddess must have been popularly known as Padmāvati. P. V. P. Sastri[4] further says that it is also reasonable to suppose that this goddess was installed by Beta I, the first Kākatīya chief and the people generally called it *Kākati* as it was set up by a Kākatīya chief. From the Sanigaram record[5] the son of Beta's minister Vaijarāja is known to have renovated the *Duddhamalla Jainālaya* of the village Sanigaram. The local record[6] informs us that the Jainas that were prosecuted at places like Rājaḥmundry resorted to Anumakoṇḍa for protection. Since, then, Anumakoṇḍa continued to be a Jaina centre even in the time of Pratāpasudra as is evidenced by the Jaina work *Jainendrakaḷyāṇa*, written by Appayyāchārya a disciple of Pushpasena in A. D. 1139. According to C. Vira Bhadra Rao, the early Kākatīyas

1. No : 15, *Inscription of Andhra Pradesh Warangal district.*
2. No. 22, *Inscription of Andhra Pradesh Warangal district.*
3. *EI.* IX, p. 257.
4. *JAHRS*, XXXVI, Part I, p. 38.
5. No. 14, *Inscriptions of Andhra Pradesh, Karimnagar District.*
6. *Orugellu Kaifiyat, L. R.* XI, pp. 133 ff.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

are believed to have been the followers of Digambara sect.[1] Later, the policy of the Kākatīyas changed and they patronised Śaivism.

12. JAINISM UNDER THE POLAVĀSA CHIEFS (1250-1300 A. D.)

In the neighbouring territory of the Kākatīyas, there flourished a petty family called Polavāsa with its principality in the region extending from Polavasa to Narasaṁpeṭ in the Warangal district. This family consists only five members[2] claiming their origin from Mādhavavarman. Govindapuram, Bājājipeṭ and the Padmākṣi temple inscriptions register the gifts of these chiefs to Jaina *Basadis*. Bājājipeṭ and Padmākṣi temple epigraphs inform us that Meḍarāja built Vīra Kamala *Jainālaya* and made gifts to Kaḍalālaya *Basadi*. His Govidapuram epigraph,[3] which begins with invocation to the feet of *Jainadeva*, informs us that Nāgarāja, the minister of Meḍarāja, installed the image of Pārśvanātha Jinadeva. Further, the epigraph mentions four Jaina preceptors named Bālachandra, Meghachandra, Padmanandin and Meghachandra belonging to the school of *Krāṇūrgaṇa* and *Meshapāshāṇa gachcha*. It is to be noticed that during the reigning periods of the early Kākatīyas and Polavara chiefs, Anumakoṇḍa, Bājājipeṭ and Sanigaram must have flourished as prosperous Jaina centres.

13. JAINISM UNDER THE NALAṀBA PALLAVAS

The Nalaṁba Pallavas, as contemporary chiefs of the later Chāḷukyas, ruled over a kingdom that comprised parts of Āndhra and Karṇāṭaka with their capital at Hemāvati in the Anantapūr district. Under their hegemony the tract of the Meḍakśira Taluk became a flourishing abode of the Jaina faith. This is corroborated by the study of antiquities such as temples, *Nishīdhi* memorials and inscriptions found in a considerable number in the village of Hemāvati. Amarāpuram, Sivaram, and Jammaḍahalli, Mahendra and his son Ayyappa, Iṛuṅgola II and his queen, Alapādevi of the Nalamba family, were liberal patrons of Jainism. The Hemāvati inscription (No. 35) belongs to the Nalaṁba Pallava ruler Mahendra I and his son Ayyappa and registers a gift of land made by the King to a *basadi* and for the feeding of its *tāpasvins*.

Further, another inscription from Pātaśivaram (No. 72) informs us that when *Tribhuvanamalladeva* Bhogadeva Choḷa Mahārāja of Nalaṁba Pallava family was ruling from Henjeru i.e. modern Hemāvati, there lived

1. C. Vira Bhadra Rao : *Āndhrula Charita*, III, pp. 150-152.
2. No. 26, *Inscriptions of Andhra Pradesh, Warangal district : Govindapuram Epigraph.*
3. *JAHRS*, XXXVI, Pt. 1, pp. 38 ff.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

a renowned Jaina teacher namad Padmaprabha Maladhāri who is a memorable personality in the history of Jaina literature. He wrote the commentary *Tātparya-vṛitti* on the *Niyamāsāra* of Kundakunda. He described himself as *Sukavi Janāpāyājamitra*, *Panchāndriya prasāra-varjita* (free from all protected activities of the five scenes) and *gaṭnamātuaparigraha* (one chose only possession was his physical body). Relying on the last two epithets of the Pātaśivaram inscription P. B. Desai[1] has rightly identified Padmaprabha with the author of above works. Under the Nalamba Pallavas, Chippagiri, Alusu Taluk, Kurnool district also became a celebrated *tīrtha* of the Jainas. Thus we have seen how Jainism was patronised under the reign of the Nalamba Pallavas.

14. JAINISM UNDER THE TELUGU CHOḶAS (1100 to 1350 A. D.)

The Telugu Choḷas ruled over some Nadigullu, in the Anantapur district as the vassals of the Eastern Chāḷukyas of Kaḷyāṇa. In the present districts of Rāyalasīma, a few more records of the same family have come to light. One record No. 62 dated Ś 1200 of the same branch from Amorāpuram, Meḍakesari tāluk, Anantapur district, is included. It belongs to Mahāmaṇḍaleśvara Tribhuvanamalla Nirśaṅkapratā-pachakravartin vīradānava-murāri īrungoṇeḍeva Choḷa Mahārāja. It states that in the Śaka year 1200, a certain Mall Seṭṭi gave Tāmmaḍahalli, the 2000 *areca* trees to the Pārśvadeva *besadi* of Tailanger known as *Jainālaya*, while Irungoṇḍa Choḷadeva was ruling from Niḍigallu. The present ruined temple at Amarāpuram from where the present record is copied is quite possibly identifiable with the *Brahma Jainālaya* of the records though the Pārśvanātha image is not traceable at present. Through the private record, it is perhaps plausible to think that Irunoṇḍadeva Choḷa Mahārāja of Niḍugallu branch also patronised Jainism.

At the same time in Guṇṭur and Nellore districts, Jainism seems to have flourished under the patronage of Chāḷukya Choḷas. During the reign of Kuloffuṅga Choḷa I, son of Rājarāja Narendra, Munugoḍu, Sattanapalli tāluk, Guṇṭur District became a flourishing centre of Jainism. From the available records of Monagoḍu, it is known that during the 37th regnal year of Kuloffuṅga Choḷa I i. e. the 11th century A. D. his subordinate chief, Goṅka-bhūpa, who was then ruling from Chandavolu Guntur district, and his soldier built the *Pṛithvi Tilaka Jainālaya* and endowed with gifts.

Similarly, Pramīlādevi, a lay disciple of Matisāgaradeva, is known to have constructed steps for the *Karikāḷa Jainālaya* at Kanupartipāḍu in the Nellorc district during the 37th regnal year of Rājarāja III i. e.

1. *IHQ*, XXXVII, pp. 181-185.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1253 A. D. All these Jaina *Basadis* are not traceable at present, though we have recorded evidence about them. However, this recorded evidence is enough to show a flourishing state of Jainism in Āndhra during the 11th and 13th centuries under the hegamony of the Chāḷukya-Choḷas.

Besides, Bhogapuram in the Viśakhapaṭnam district became a flourishing Jaina centre under the patronage of the Kaḷiṅga Gaṅgas. It is obvious from a record of Bhogapuram that a certain merchant Kunnamanāyaka built a *Rājarāja Jainālaya* in A. D. 1178 and endowed it with a gift of land during the reign of Anantavarman Rājarājadeva. Thus, it leads to the conclusion that the king was a patron of Jainism and extended necessary financial help in the construction of *Jainālaya* which was christened after his own name.

Thus, patronised by the rulers and members of royal families and warmly supported by the populalce, Jainism grew from strength to strength and finally became a victim of religious persecution and was at least completely stumped out from the surface of Āndhra during the period of Muslim invasions.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Abbreviations

EI	: Epigraphica Indica.
JBORS	: Journal of the Bihar and Orissa Research Society.
IA	: Indian Antiquairy.
CHI	: Comprehensive History of India, K. A. N. Sastri.
QJMS	: Quarterly Journal of of Mythic Society.
SII	: South Indian Inscriptions.
Ep, Carn	: Epigraphica Carnatica.
JAHRS	: Journal of the Andhra Historicl Research Society.
ARSIE	: Annual Reports of South Indian Epigraphy.
MAR	: Mysore Archaeological Reports.
ASR	: Archaeological Survey of India, Reports.
PIHC	: Political History of Ancient India, H. C. Rayachaudhry.
EA	: Epigraphica Andrica.
LR	: Local Records in the Government Oriental Manuscripts. Madras Library.
IHQ	: Indian Historical Quarterly.
RA	: Religion in Andhra, B. S. L. Hanumantharao.

E. J. Rapson : The Cambridge History of India.

P. B. Desai : Jainism in South India.

N. V. Ramanaiah : The Eastern Chalukyas of Vemulavada.

B. Seshagiri Rao : Studies in South Indian Jainism.

A. S. Altekar : The Rastrakutas and their Times.

S. Gopala Krishna Murthy : Jaina Vestiges in Andhra.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन वाङ्मय में अनध्याय

प्रो० हृषिकेश तिवारी*

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय या अध्ययन करना चाहिए। अनध्याय काल में स्वाध्याय वर्जित है।

जैनागम भी सर्वज्ञाता, देवाधिष्ठित तथा स्वर संयुक्त होने के कारण इनका भी आगमों में अनध्याय काल वर्णित किया गया है।

दश आकाश से सम्बन्धित, दश औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं, जिनका वर्गीकरण संक्षिप्त में निम्नप्रकार से किया जा सकता है[1]—

आकाश सम्बन्धी दश अनध्याय

१. उल्कापात (तारापतन)—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्त वर्ण की हो अर्थात् ऐसी मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४. गर्जन और विद्युत—प्रायः ऋतु स्वभाव से होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—विना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो पहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्लपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया को संध्या की प्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा थोड़े-थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिट्टिका श्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जल रूप धुंध मिट्टिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

---

* पटना।

१. स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १० एवं ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. रज-उद्‌घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। तब तब यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।[2]

उपर्युक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं। इन तथ्यों का स्पष्टीकरण एवं समर्थन मूलाचार के इस संदर्भ से प्राप्त होता है—"उत्पात् से दिशा का अग्निवर्ण होना, तारा के आकार का पुद्‌गल का पड़ना, बिजली चमकना, मेघों में संघट्ट से उत्पन्न वज्रपात, ओले का पड़ना, धनुष के आकार पंचवर्ण पुद्‌गलों का दीखना, दुर्गन्ध लाल पीले वर्ण के आकार का सांझ समय, बादलों से अच्छादित दिन, चन्द्रमा, ग्रह, सूर्य, राहु के विमानों का आपस में टकराना। लड़ाई के वचन, लकड़ी आदि से झगड़ना, आकाश में धुआँ के आकार रेखा दीखना, धरती कंप, बादलों का गर्जना, महापवन का चलना, अग्निदाह इत्यादि बहुत से दोषों में स्वाध्याय वर्जित किया गया हैं। अर्थात् दोषों के होने पर नवीन पठन-पाठन नहीं करना चाहिए। जब मेघरहित आकाश में उत्पान वायु धूलि और भस्म से भरा हुआ है, तब वह शस्य घातक एवं महाभयंकर होता है।[3]

वास्तव में प्राचीनकाल में शिक्षा के साधनों की अल्पता थी, अतएव प्रकृति का प्रकोप होने पर स्वाभाविक रूप से अध्ययन बन्द कर दिया जाता था।

औदारिक सम्बन्धी दश अनध्याय

११-१३. हड्डी, मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च की हड्डी, माँस, रूधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि माँस और रूधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशान भूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह पर्यन्त अस्वाध्याय काल माना गया है।

---

२. मूलाचार २७४–२७५। भगवती आराधना ११३।२६०।

३. भद्रबाहु संहिता ९।४८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाह संस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ़ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाय, और उसके पश्चात् भी एक दिन रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक १०० हाथ तक निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वध्याय के उपर्युक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गए हैं।

मूलाचार के इस उद्धरण से इन बातों की पुष्टि होती है—

दशाहं द्वादशाहं वा पापवातो यदा भवेत्।
अनुबन्ध तदा विन्द्याद् राजमृत्यं जनक्षयम्॥[4]

अशुभ वायु दस दिन या बारह दिन तक लगातार चले तो उससे सेनादिक का बन्धन, राजा की मृत्यु और मनुष्यों का क्षय होता है, ऐसा समझना चाहिए (अर्थात् ऐसे समय में अध्ययन, चिन्तन में बाधा होती है)।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न तथा दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के द्रव्य, क्षेत्र एवं काल का सम्यक् विवेचन "धवलाकार" ने इस प्रकार किया है—

(क) द्रव्य

यम पट्टह का शब्द सुनने पर, अङ्ग से रक्तस्राव होने पर, अतिचार के होने पर तथा दाताओं के अशुद्धकाय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। तिल, मोदक, चिउड़ा, लाई, पुआ आदि चिकना एवं सुगन्धित भोजन के खाने पर तथा दवानल का धुआँ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। एक योजन के घेरे में सन्यास विधि, महोपवास विधि, आवश्यक क्रिया एवं केशों का लोंच होने पर तथा आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन का प्रतिबन्ध है। उक्त घटनाओं के एक योजन मात्र में होने पर तीन दिन तक तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन नहीं करना

४. भद्रबाहु संहिता ९।४७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिए। प्राणी के दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निर्वतन (एक बीघा) मात्र में तिर्यञ्चों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।[5]

(ख) क्षेत्र

उतने मात्र स्थावर काय जीवों के घात रूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्ध के आने पर, ठीक अर्थ समझ न आने पर अथवा अपने शरीर से शुद्धि से रहित होने पर मोक्ष सुख के चाहने वाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त के अनरूप अध्ययन नहीं करना चाहिए। व्यंतरो के द्वारा भेरी ताड़न करने पर, उनकी पूजा का संकट आने पर, कर्षण के होने पर, चण्डाल बालकों के समीप झाड़ा-बुहारी करने पर, अग्नि जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नहीं होती। ऐसे क्षेत्र या स्थान पर अध्ययन निषिद्ध माना गया है।[6]

(ग) काल

साधु पुरुषों ने बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ माना है। इसलिए विद्वानों को स्वाध्याय न करने के दिनों को जानना चाहिए।

पर्व दिनों, नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों और सूर्य, चन्द्र ग्रहण होने पर विद्वान व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए। अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों का वियोग करने वाला होता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है। यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावास्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश वृत्ति को प्राप्त होते हैं। मध्याह्न काल में अध्ययन जिण रूप को नष्ट करता है। दोनों संध्या कालों में किया गया अध्ययन व्याधि को प्राप्त करता है तथा मध्य रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं। अतिशय तीव्र दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।[7]

---

५. धवला ९।४, १, ५५, गाथा ९६–१००।

६. धवला ९।४, १, ५४, गाथा १०१, १०२, १०५, १०६।

७. धवला—९।४, १, ५४, गाथा १०८—११४।
विशेष द्रष्टव्य—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन पृष्ठ सं० २८२।
(क) व्यवहार भाष्य—७, २८१-३१९।
(ख) याज्ञवल्लभ स्मृति १, ६ १४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन एवं बौद्ध शिक्षा के उद्देश्य तथा विषय

विजय कुमार*

मानव जीवन का विकास शिक्षा पर आधारित होता है। किन्तु शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर विद्वत्जनों में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग शिक्षा का लक्ष्य 'विद्या की प्राप्ति' को मानते हैं तो कुछ लोग 'चरित्र का उन्नयन तथा मानव जीवन का सर्वांगीण विकास बताते हैं'। लेकिन शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को विद्या या विकास का ज्ञाता बनाने के अतिरिक्त नैतिक, मानसिक और शारीरिक सभी दृष्टियों से योग्य, सदाचारी व स्वावलम्बी आदि बनाना भी है। अन्य प्रकार से इस तरह कहा जा सकता है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति द्वारा बुद्धि विकास अथवा विवेक जागृत करना है, जिससे मनुष्य प्रत्येक विषय पर स्वयं निर्णय ले सके और दृढ़ता से उसका पालन कर सके। शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ए० एस० अल्तेकर ने कहा है—'भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण था।'[1]

भारतीय संस्कृति अध्यात्ममूलक संस्कृति है जिनमें दो प्रकार की संस्कृतियाँ समान रूप से प्रवाहित हो रही हैं—ब्राह्मण और श्रमण। श्रमण संस्कृति पूर्णरूपेण विशुद्ध साधनों पर आधारित है। श्रमण संस्कृति को जैन एवं बौद्ध विचारधारा में शिक्षा को दो भागों में विभाजित किया गया है—(i) आध्यात्मिक शिक्षा (ii) लौकिक शिक्षा। दोनों ही विचारधाराएँ आध्यात्मिक उन्नति को प्रथम तथा लौकिक उन्नति को दूसरे स्थान पर रखती हैं। मोक्षोपयोगी अर्थात् मोक्ष को केन्द्रबिन्दु मानकर जीव और जगत् आदि सम्पूर्ण ज्ञेय तत्व आध्यात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं तथा जीवकोपार्जन के लिए शिक्षा प्राप्त करना लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं।

आध्यात्मिक शिक्षा के उद्देश्य

जैन शिक्षा का मूल उद्देश्य आत्मा की चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करना अर्थात् आध्यात्मिक चरम पद की उपलब्धि करना तथा मानव में सुप्त अन्तर्निहित आत्मशक्तियों का विकास करना रहा है।[2] व्यक्तित्व की चरम विकास की अवस्था को हो जैन दर्शन में मोक्ष कहा गया है। इस जगत् में जो वस्तु नश्वर है, क्षणभंगुर है, वह अधर्म है। शरीर विनाशी है परन्तु जीव या आत्मा अविनाशी है, अजर-अमर है। यह अविनाशी आत्मा अनेक बार अनेक रूपों में जन्म लेती है। जीव द्वारा मन-वचन और शरीर से किए गये प्रत्येक कर्म-अकर्म का

---

*. दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. अल्तेकर, एन्सियन्ट इण्डियन एडूकेशन, पृ० ८-९।

२. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ० १९४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभ-अशुभ कर्म-बन्ध होता है। जब जीव सच्चे ज्ञान द्वारा अपने कर्मों को क्षीण करता है तब परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

बौद्ध ग्रन्थ 'माध्यमिककारिका' में कहा गया है कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों जीवन के योग्य बनाती है।[१] पारमार्थिक जीवन से तात्पर्य निर्वाण से है। अतः बौद्ध दर्शन के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति कराये। निर्वाण की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से किया है। कुछ विद्वानों ने 'निर्वाण' का अर्थ जीवन का अन्त किया है तो कुछ ने बुझ जाना। किन्तु बौद्ध परम्परा में निर्वाण का अर्थ 'जीवन का अन्त' ग्रहण नहीं किया गया है बल्कि जिस प्रकार दीपक का निर्वाण अर्थात् दीपक का बुझ जाना है, उसी प्रकार वासना की अग्नि का बुझ जाना ही निर्वाण है। निर्वाण में लोभ, घृणा, क्रोध और भ्रम की अग्नि बुझ जाती है अथवा कामास्रव, भवास्रव एवं अविद्यास्रव आदि मन की अशुद्धि का नष्ट हो जाना निर्वाण है।[२] धम्म-पद में निर्वाण को एक आनन्द की अवस्था, परमानन्द, पूर्णशान्ति और दुःखों का अन्त कहा गया है।[३] और इस आनन्द की अवस्था को प्राप्त करना ही आध्यात्मिक शिक्षा का उद्देश्य है।

आध्यात्मिक शिक्षा के विषय

पं० सुखलाल संघवी ने प्राणी तथा उसके सुखों को दो वर्गों में विभाजित किया है—पहले वर्ग में अल्प विकास वाले ऐसे प्राणी आते हैं जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक सीमित हैं। दूसरे वर्ग में अधिक विकास वाले ऐसे प्राणी आते हैं जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की प्राप्ति में सुख न मानकर आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में सुख मानते हैं। किन्तु दोनों में यही अन्तर है कि पहला सुख पराधीन है तथा दूसरा स्वाधीन।[४] लेकिन जब तक मनुष्य सजीव और निर्जीव पदार्थों में आसक्ति रखता है तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।[५] आचारांग में भी कहा गया है कि काम अर्थात् कामनाओं का पूर्ण होना असम्भव है, और जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता। कामेच्छुक मनुष्य शोक किया करता है, संताप और परिताप उठाया करता है। जब तक मानव जीवन में आसक्ति बनी हुई है, मानवीय दुःख बने हुए है।[६] इन दुःखों से मुक्ति तभी मिलती है जब मानव सांसारिक विषयों से निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है।

---

१. द्वेसत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
   लोक संविति सत्यं च परमार्थना॥ —माध्यमिक कारिका २४।८।

२. संयुक्त निकाय ३—२५१, २६१, ३७१।

३. धम्मपद—२०, २३३।

४. तत्वार्थसूत्र—पृ० १।

५. सूत्रकृतांग—१, १, ३।

६. कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवहगं
   काम कामी खलु अयं पुरिते से सोयई; जूरई तिप्पई परितिप्पई।—आचारांग २,९२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्वार्थसूत्र में जैनाचार्य उमास्वाति ने निहित अर्थात् मोक्ष के तीन मार्ग बतलाये हैं—**सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र।** इन्हें 'त्रिरत्न' के नाम से भी जाना जाता है। साथ ही इन्हें शिक्षा-साधना का कल्याणपथ माना जाता है। सम्यग्चारित्र के अन्तर्गत 'पंच-महाव्रत' आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त मैत्री, गुणिजनों के प्रति प्रमोदवृत्ति, करुणावृत्ति और माध्यस्थ्यवृत्ति आदि चार भावनाएँ तथा क्षमा, मार्दव, ओर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आदि दस धर्म आध्यात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों को सिखाया जाता है।

आध्यात्मिकता के विषय में बौद्ध मतावलम्बी स्पष्ट नहीं हैं। क्योंकि एक बार मालुंक्य-पुत्र ने बुद्ध से लोक के शाश्वत्-अशाश्वत्, अन्तवान-अनन्त होने तथा जीव-देह की भिन्नता-अभिन्नता के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा पर, बुद्ध ने अव्याकृत बतलाकर उनकी जिज्ञासा को शान्त कर दिया।[1] इसी प्रकार के प्रश्न पुनः पोट्ठपाद परिव्राजक ने भी किया तो भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"न यह अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध अर्थात् क्लेशनाश के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न संबोधि अर्थात् परमार्थ ज्ञान के लिए और न निर्वाण के लिए। इसीलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा मैंने व्याकृत किया है। दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपत् को।"[2] इन्हें ही चार आर्य सत्य के नाम से जाना जाता है। विज्ञान भिक्षु[3] और व्यास[4] ने अध्यात्मशास्त्र को चिकित्साशास्त्र के समान चतुर्व्यूह बताया है—'जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य हैं उसी प्रकार अध्यात्म शास्त्र में संसार अर्थात् दुःख, संसारहेतु अर्थात् दुःख का कारण, मोक्ष यानी दुःख का नाश तथा मोक्ष के उपाय ये चार सत्य माने जाते हैं। इन चार आर्य सत्यों के चौथे यानी मोक्षगामिनी प्रतिपत् के अन्तर्गत ही अष्टांगिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि आदि) आ जाते हैं। ये आठों मार्ग त्रिरत्न में समाहित हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा ही त्रिरत्न के नाम से जाने जाते हैं। शील का तात्पर्य सात्विक कार्यों से है। इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं—अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का त्याग जिन्हें पंचशील की संज्ञा से विभूषित किया गया है। समाधि के द्वारा चित्तशुद्धि होती है। इसके चार अंग बताये गये हैं—पहली अवस्था में साधक एकाग्रचित्त हो जाता है, दूसरी अवस्था में साधक के सन्देह दूर हो जाते हैं, तीसरी अवस्था में साधक का ध्यान आनन्द

---

१. चूलमालुक्यसुत्त—६३, मज्झिमनिकाय (अनु०) पृ० २५१-५३।
२. पोढपाद सुत्त—१।९, दीघनिकाय, पृ० ७१।
३. सांख्य प्रवचन भाष्य—पृ० ६।
४. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो, रोग हेतुः आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदपिशास्त्रं चतुर्व्यूहं—तद् यथा, संसारः संसार हेतुः मोक्षो, मोक्षोपाय।
व्यासभाष्य—२।१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से भी अलग हो जाता है और चौथी अवस्था में ध्यान-जन्य आनन्द, दैहिक-सुख आदि किसी का भी बोध नहीं रहता है। यही पूर्ण शान्ति तथा पूर्ण निरोध की अवस्था होती है। प्रज्ञा का उदय होना ही अविद्या का नाश है। इसके भी तीन प्रकार बताये गये हैं—श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी। ये सभी आध्यात्मिक शिक्षा के विषय हैं। यद्यपि बुद्ध और उनके अनुयायियों ने अध्यात्म के विषय को अव्याकृत कहा है, लेकिन दुःख से निवृत्ति के जो उपाय या मार्ग बताये गये हैं, वे क्या हैं? वही तो अध्यात्म विद्या है और अध्यात्म विद्या के द्वारा ही परम आनन्द, परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

लौकिक शिक्षा का उद्देश्य

भौतिक सामग्रियों को एकत्रित करना और उनको सुख का साधन मानकर उनमें आसक्त रहना ही लौकिक शिक्षा का उद्देश्य है। लेकिन इससे शाश्वत सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती है। मानव अपने सुख के कितनी भी भौतिक उपलब्धि प्राप्त कर ले फिर भी उसकी इच्छायें कभी भी शान्त नहीं हो पाती हैं। मानव को जीवन धारण करने के लिए जैसे रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीवन की सुरक्षा के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुद्धि और आजीविका के साधन इन तीनों की आवश्यकता है और, यही कारण है कि प्राचीनकाल से मानव को सुसंस्कारी बनाने के लिए तथा जीवकोपार्जन की योग्यता अर्जित करने के लिए कलाओं का गहराई से अध्ययन करने पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इन कलाओं के अध्ययन के पीछे एक ही लक्ष्य निहित है और वह है लोक व्यवहार में निर्वाह करने की क्षमता और प्राकृतिक पदार्थों को अपने लिए उपयोगी बनाने और उनका समीचीन उपयोग करने की योग्यता अर्जित करना। जैन ग्रन्थों में उल्लिखित कलाओं की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० हीरालाल जैन ने बताया है कि जैन धर्म में गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य एवं शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्बों की तथा समाज एवं देश की सेवा करता हुआ उन्नत बन सके।[1] जैन आगमों में बालकों को उनके शिक्षण-काल में शिल्पों एवं कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है। यहाँ गृहस्थों के लिए जो षट्कर्म बताये गये हैं उनमें असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य के साथ-साथ शिल्प का भी उल्लेख है।[2]

बौद्ध शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व को सुखी बनाने[3] तथा देश-व्यवहार के ज्ञान को प्राप्त कराना है।[4] विद्यार्थी को धर्म और विनय की आवश्यक बातें समझाना जिससे कि वह यह भली-भाँति समझ सके कि गलत सिद्धान्त कौन से हैं और वाद-विवाद करके अन्य व्यक्तियों को सही सिद्धान्त ग्रहण करने और गलत सिद्धान्त को छोड़ने के लिए राजी कर

१. प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २८४।
२. वही, पृ० २८४।
३. जातक (हिन्दी अनुवाद) जि० २, पृ० ४२५।
४. वही, जि० ३, पृ० ३९७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सके।[1] एक जातक में लिखा है कि राजा लोग, चाहे उनके नगर में ही अच्छे विद्वान् हों, अपने पुत्रों को दूर की शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने के लिए भेजते थे ताकि उनमें अभिजात कुल में जन्म होने के कारण जो अहंकार होता है, वह दूर हो जाए, वे गर्मी और सर्दी को सहन कर सकें और लोक व्यवहार से परिचित हो सकें।[2]

लौकिक शिक्षा के विषय

जैन सूत्रों यथा—समवायांग[3], ज्ञाताधर्म[4] कथा, औपपातिक[5], राजप्रश्नीय सूत्र[6] आदि ग्रन्थों में बहत्तर कलाओं का वर्णन आया है किन्तु सभी में कुछ न कुछ अन्तर देखने को मिलते हैं। यहाँ समवायांग[6] के अनुसार बहत्तर कलाओं का वर्णन किया जा रहा है—

(१) लेखन (२) गणित (३) रूप सजाने की कला (४) नाटक करने की कला (५) गीत गाने की कला (६) वाद्य बजाने की कला (७) स्वर जानने की कला (८) ढोल आदि वाद्य बजाने की कला (९) समान ताल बजाने की कला (१०) जुआ खेलने की कला (११) वार्तालाप की कला (१२) नगर संरक्षण की कला (१३) पासा खेलने की कला (१४) पानी और मिट्टी के सम्मिश्रण से वस्तु बनाने की कला (१५) अन्न उत्पन्न करने की कला (१६) पानी को उत्पन्न करने तथा शुद्ध करने की कला (१७) वस्त्र बनाने की कला (१८) शय्या निर्माण करने की कला (१९) कविता निर्माण करने की कला (२०) प्रहेलिका निर्माण की कला (२१) छन्द विशेष बनाने की कला (२२) प्राकृत भाषा में गाथा निर्माण की कला (२३) श्लोक बनाने की कला (२४) सुगन्धित पदार्थ बनाने की कला (२५) मधुरादि छह रस संबंधी कला (२६) अलंकार निर्माण व धारण की कला (२७) स्त्री को शिक्षा देने की कला (२८) स्त्री लक्षण (२९) पुरुष लक्षण (३०) अश्व लक्षण (३१) हस्ती लक्षण (३२) गो लक्षण (३३) कुक्कुट लक्षण (३४) मेढ़े के लक्षण (३५) चक्र लक्षण (३६) छत्र लक्षण (३७) दण्ड लक्षण (३८) तलवार के लक्षण (३९) मणि के लक्षण (४०) काकिणी चक्रवर्ती के रत्न विशेष के लक्षण (४१) चर्म लक्षण (४२) चन्द्र लक्षण जानने की कला (४३) सूर्य आदि की गति जानने की कला (४४) राहु आदि की गति जानने की कला (४५) ग्रहों की गति जानने की कला (४६) सौभाग्य का ज्ञान (४७) दुर्भाग्य का ज्ञान (४८) रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान (४९) मन्त्र साधना आदि का ज्ञान (५०) गुप्त वस्तु को जानने की कला (५१) प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान (५२) सैन्य का प्रमाण आदि जानना (५३) सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला (५४) व्यूह रचने की कला

१. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, ओमप्रकाश, पृ० २२६।
२. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, ओमप्रकाश, पृ० २२६।
३. समवायांग—सम० ७२।
४. ज्ञाताधर्म कथा—१।९९।
५. औपपातिक—४।
६. राजप्रश्नीय सूत्र, ७ सं० मधुकरमुनि, पृ० २०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५५) प्रतिव्यूह रचने की कला (५६) सेना के पड़ाव का प्रमाण जानना (५७) नगर का प्रमाण जानने की कला (५८) वस्तु का प्रमाण जानने की कला (५९) सेना के पड़ाव आदि डालने का परिज्ञान (६०) प्रत्येक वस्तु के स्थापन कराने की कला (६१) नगर निर्माण का ज्ञान (६२) इषत् को महत् करने की कला (६३) तलवार आदि की मूठ बनाने की कला (६४) अश्व शिक्षा (६५) हस्ति शिक्षा (६६) धनुर्वेद (६७) हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक बनाने की कला (६८) बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला (६९) सूत बनाने की, नली बनाने की, गेंद खेलने की वस्तु के स्वभाव जानने की, चमड़ा बनाने की कला का ज्ञान (७०) पत्रछेदन, वृक्षांग विशेष छेदने की कला (७१) सजीव, निर्जीव अर्थात् संजीवनों विद्या (७२) पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला।

बहत्तर कलाओं के अतिरिक्त जैन सूत्रों में निम्नलिखित विषयों का वर्णन आया है—

(i) वेद—जैन ग्रन्थों में तीन वेदों का उल्लेख मिलता है यथा—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद।[1] लेकिन आदिपुराण में अथर्ववेद का भी उल्लेख किया गया है।[2]

(ii) वैदिक ग्रन्थों में निम्नलिखित शास्त्रों का उल्लेख है—

छः वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और निघंटु।

छः वेदांग—गणित, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष, छः उपांगों में, वेदांगों में वर्णित विषय और षष्ठितंत्र।[3]

(iii) उत्तराध्ययन की टीका[4] में चौदह विद्यास्थानों को गिनाया गया है। जो निम्नप्रकार से हैं—छह वेदांग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।

(iv) अनुयोगद्वार[5] और नन्दिसूत्र[6] में भी लौकिकश्रुत का वर्णन मिलता है—भारत, रामायण, भीमासुरोक्त, कौटिल्य, शकटभद्रिका, घोटकमुख, कार्पासिक, नागसूक्ष्म, कनकसप्तति, वैशेषिक, बुद्धवचन, त्रैराशिक, कापिलीय, लोकायत, षष्टितंत्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातञ्जलि, पुष्यदैवत, लेख, गणित, शकुनिरुत, नाटक अथवा बहत्तर कलाएँ और चार वेद अंगोपांग सहित विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

स्थानांग सूत्र[7] में नौ पापश्रुत स्वीकार किये गये हैं—

---

१. स्थानांग—३.१८५।
२. आदिपुराण—२१४८।
३. व्याख्याप्रज्ञप्ति २.१, औपपातिक ३८, पृ० १७२।
४. उत्तराध्ययन—३, ५६—अ।
५. अनुयोगद्वार—सूत्र ४० आदि।
६. नन्दिसूत्र—सूत्र ७७ पृ० १५५।
७. स्थानांग सूत्र—९.६.६६९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(i) उत्पात—रुधिर की दृष्टि अथवा राष्ट्रोत्पात का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र। या प्रकृति विप्लव और राष्ट्र विप्लव का सूचक शास्त्र।

(ii) निमित्त—अतीतकाल के ज्ञात का परिचायक शास्त्र, जैसे कूटपर्वत आदि।

(iii) मंत्रशास्त्र—भूत, वर्तमान और भविष्य के फल का प्रतिपादक शास्त्र।

(iv) आख्यायिका—मातंगी विद्या जिससे चांडालिनी भूतकाल की बातें कहती है।

(v) चिकित्सा—रोग निवारक औषधियों का प्रतिपादक आयुर्वेद शास्त्र।

(vi) लेख आदि बहत्तर कलायें अर्थात् कलाश्रुत—स्त्रीपुरुषों की कलाओं का प्रतिपादक शास्त्र।

(vii) आवरण (वास्तुविद्या)—भवन निर्माण की वास्तु विद्या का शास्त्र।

(viii) अज्ञान—भारत, काव्य, नाटक आदि लौकिक श्रुतशास्त्र।

(ix) मिथ्याप्रवान—बुद्धशासन आदि कुतीर्थिक मिथ्यात्वियों के शास्त्र।

बौद्धकालीन लौकिकशिक्षा के प्रमुख विषय कला कौशल थे जिनकी संख्या शान्तिभिक्षु शास्त्री ने छानवें बतायी है।[1] जो निम्न प्रकार से हैं—(१) लंघित (२) लिपि (३) मुद्रा (४) गणना[2] (५) संख्या[3] (६) सालम्भ (७) धनुर्वेद (८) जवित (९) प्लवित (१०) तरण (११) इष्वस्त्र[4] (१२) हस्तिग्रीवा (१३) अश्वपृष्ठ (१४) रथ (१५) धनुष्कलाप (१६) स्थैर्य स्थाम (१७) सुशौर्य (१८) बाहुव्यायाम (१९) अङ्कुशग्रह (१०) पाशग्रह (२१) उद्यान (२२) निर्याण (२३) अवयान (२४) मुष्टिग्रह (२५) पदबन्ध (२६) शिखाबन्ध (२७) छेद्य (२८) भेद्य (२९) दालन (३०) स्फालन (३१) अक्षुण्णवेधित्व (३२) मर्मवेधित्व (३३) शब्दवेधित्व (३४) दृढ़प्रहारित्व (३५) अक्षक्रीड़ा (३६) काव्यकरण (३७) ग्रन्थ (३८) चित्र (३९) रूप (४०) रूप कर्म (४१) (अ)धीत (४२) अग्निकर्म (४३) वीणा (४४) वाद्य (४५) नृत्य (४६) गीत (४७) पठित (४८) आख्यान (४९) हास्य (५०) लास्य (५१) नाट्य (५२) विडम्बित (५३) माल्यग्रंथन (५४) संवाहित (५५) मणिराग (५६) वस्त्रराग (५७) मायाकृत (५८) स्वप्नाध्याय (५९) शकुनिरुत (६०) स्त्रीलक्षण (६१) पुरुष-लक्षण (६२) अश्वलक्षण (६३) हस्तिलक्षण (६४) गोलक्षण (६५) अजलक्षण (६६) मिश्रुलक्षण (६७) श्वरलक्षण (६८) कौटुभ (६९) निर्घण्ट (७०) निगम (७१) पुराण (७२) इतिहास (७३) वेद (७४) व्याकरण (७५) निरुक्त (७६) शिक्षा (७७) छन्दस्विनी (७८) यज्ञकल्प (७९) ज्योतिष (८०) सांख्य (८१) योग (८२) क्रियाकल्प (८३) वैशिक (८४) वैशेषिक (८५) अर्थविद्या (८६) बार्हस्त्य

१. शान्तिभिक्षु शास्त्री, ललितविस्तर–पृ० २९६।

२. दिव्यावदान–२।१६, ४२७।२९।

३. वही–१।१६, ४२७।२८।

४. महावस्तु जि० २।४३४।१६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८७) अग्निभर्य (८८) आसुर्य (८९) मृगपक्षिरुत (९०) हेतुविद्या (९१) जलयन्त्र (९२) मधूच्छिष्टकृत (९३) सूचीकर्म (९४) विदलकर्म (९५) फाच्छेद्य (९६) गन्धयुक्ति ।

इस प्रकार शान्तिभिक्षु शास्त्री ने छानबें कलाओं का उल्लेख किया है जिनमें वेद, पुराण, इतिहास, व्याकरक, निरुक्त, सांख्य योग, वैशेषिक, ज्योतिष तथा शिक्षा आदि का भी कलाओं के अन्तर्गत समाहित किया है। जब कि कला का अर्थ होता है कार्य को भलीभाँति करने का कौशल, योग्यता आदि। अतः पुराण, इतिहास, वेद आदि शास्त्रों को कला के अन्तर्गत रखना उचित नहीं जान पड़ता।

बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपञ्ह[1] के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सभी शिक्षाएँ सभी व्यक्तियों के लिए नहीं थीं। सम्भवतः जाति एवं वर्ण के आधार पर उसका विभाजन किया गया था। क्योंकि वर्णन है—ब्राह्मण चार वेद, इतिहास, पुराण कोश, छंद, उच्चारण विद्या, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष, छः वेदांग, शरीर के शुभ-सूचक चिह्नों का ज्ञान, शकुन विज्ञान, स्वप्न और चिह्नों का विज्ञान, ग्रहों, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, गणित, वितर्क विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करते थे। क्षत्रिय हाथियों, अश्वों, धनुर्विद्या, रथों, खड्ग विद्या, युद्ध विद्या, दस्तदिजों का ज्ञान और मुद्रा विज्ञान का अध्ययन करते थे। अवशेष बचे हुए, जैसे—कृषि विज्ञान, वाणिज्य और पशुपालन की शिक्षा वैश्य और शूद्र प्राप्त करते थे।

जातकों में अट्ठारह[2] प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है। जो इस तरह हैं—(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद (२) स्मृति (३) व्याकरण (४) छन्दोविचित (५) निरुक्ति (६) ज्योतिष (७) शिक्षा (८) मोक्षज्ञान (९) क्रिया विधि (१०) धनुर्वेद (११) हस्ति शिक्षा (१२) कामतन्त्र (१३) लक्षण (१४) पुराण (१५) इतिहास (१६) नीति (१७) तर्क तथा (१८) वैद्यक।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध, दोनों ही शिक्षाएँ निवृत्ति प्रधान हैं। दोनों के उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है। विकास का अभिप्राय व्यक्ति के अंतरंग एवं बाह्य सभी गुणों से है। जैन शिक्षा व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को मोक्ष कहती है तो बौद्ध शिक्षा दुःखों के अन्त को निर्वाण कहती है। यद्यपि दोनों के उद्देश्य एक ही हैं लेकिन मार्ग अलग-अलग हैं। जहाँ तक विषयों का सवाल है तो जैन शिक्षा के विषय अपने आप में पुष्ट तथा सर्वमान्य हैं। लेकिन बौद्ध शिक्षा के विषयों को लेकर कहीं-कहीं विरोधाभास नजर आते हैं यथा—एक ओर विनयपिटक[3] में कहा गया है कि लोकायत नहीं सीखना चाहिए, जो सीखे उसे दुक्कट का दोष हो। वही दूसरी ओर सेलसुत्त जातक में शैल नामक एक ब्राह्मण

१. मिलिन्दपञ्हपालि—४।३।१६ तथा देखें आर० के० मुखर्जी, एन्सिएण्ट इण्डियन एजूकेशन—पृ० ४७५।

२. जातक (अनु०) हिन्दी जिल्द १, पृ० ३८३।

३. विनयपिटक, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का वर्णन आया है जो निघंटु, कल्प, अक्षर भेद सहित तीनों वेद, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायतशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र में निपुण था।[1] जैन ग्रन्थों में चार वेदों के अध्ययन का वर्णन है और बौद्ध ग्रन्थों में तीन वेदों का।

यदि कलाओं की ओर दृष्टिपात किया जाये तो दोनों सम्प्रदायों की कला-संख्या में भिन्नता है। संख्या में यह जो भिन्नता है वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि कलाओं का संबन्ध शिक्षण के साथ है और प्रायः एक का दूसरी में समावेश हो जाता है। मुख्य बात यह है कि दोनों ही सम्प्रदायों में कलाओं का चयन इस दूरदृष्टिता से किया गया है कि जीवन के सभी अंग उसमें समाहित हो जाते हैं।

१. जातक कालीन भारतीय संस्कृति, मोहनलाल महतो 'वियोगी', पृ० ९८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलिकाल-सर्वज्ञ कुन्दकुन्द : शिलालेखों के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी*

श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान है। शिलालेखों, पुरातात्त्विक विश्लेषणों, भाषा वैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान् अब यह स्वीकृत करने लगे हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह श्रमण या आर्हत्-संस्कृति होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैनधर्म के आदि—तीर्थंकर वृषभ या ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग-जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर से प्राप्त तत्त्वज्ञान और धर्मोपदेशों के आधार पर श्रमणसंस्कृति के अमर गायक और उन्नायक सहस्रों जैन आचार्यों ने प्रायः सभी भारतीय भाषाओं एवं सभी विधाओं में अपने श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से भारतीय साहित्य और चिन्तन-परम्परा में श्रीवृद्धि की है।

तीर्थंकर महावीर और गौतम गणधर के बाद की उत्तरवर्ती जैन आचार्य-परम्परा में यद्यपि अनेक महान् आचार्यों का नाम श्रद्धापूर्वक लिया जाता है, किन्तु उन सब में आचार्य कुन्दकुन्द ही एक महान् आचार्य हैं, जिनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने अपने को उनकी सम्पूर्ण विरासत से जोड़ने में गौरव माना और उनकी मूल परम्परा तथा ज्ञान-गरिमा को एक स्वर से मान्य करते हुए कहा—

मंगलं भगवदो वीरो मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुंदाइ, जेण्ह धम्मोत्थु मंगलं ॥

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द आज हमारे समक्ष नहीं हैं, किन्तु उनके लोक-कल्याणकारी तथा महान् आध्यात्मिक चिन्तन से युक्त विशेष साहित्य का स्पर्श करते हैं तब उनके अनुपम व्यक्तित्व के माध्यम से हम उन्हें आज भी अपने नजदीक पाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द अब से दो हजार वर्ष पूर्व हुए थे, किन्तु आज भी उनके चिन्तन की परम्परा इसलिए प्रवाहित है क्योंकि आज के इस भौतिकवादी युग में विश्व को उसकी अधिक आवश्यकता है। इसलिए हम उनके लोक-मंगलकारी कार्यों, उपलब्धियों एवं उनकी सम्पूर्ण चिन्तन परम्परा और अपने गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति तथा विश्लेषण करके अपनी सुप्त चेतना को जगाते हैं साथ ही उनके महान् व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से प्रेरणायें प्राप्त करते हैं। क्योंकि इन महापुरुषों की ज्योति जगाने के लिए उनकी वह स्मृति ही सर्वाधिक कारगर हेतु है। इस दृष्टि से शिलालेखों, स्तम्भ एवं मूर्तिलेखों, पट्टावलियों एवं ग्रन्थ प्रशस्तियों आदि का अध्ययन बहुत उपयोगी है।

---

*. अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी—पिन २२१००२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुतः जैन शिलालेखों, ताम्रपटों, ग्रन्थ-प्रशस्तियों आदि का जैनधर्म, संस्कृति, इतिहास और समाज के इतिहास निर्माण में जितना महत्त्व है, उससे अधिक भारतीय इतिहास के लिखने में है। इनमें प्राचीन इतिहास की बहुमूल्य सामग्री बिखरी पड़ी है। वैसे इन बहुमूल्य उपादानों की उपेक्षा भी कम नहीं हुई है, किन्तु सर्दी, गर्मी और वर्षा आदि के आघातों से सुरक्षित इन लेखों के अटल तथ्यों को अनदेखा कर देने से हमारी बहुत हानि होगी। क्योंकि शिलालेखों में मात्र इतिहास ही नहीं होता अपितु उनमें तत्कालीन चिन्तन, आस्था, समता एवं लोककल्याण की भावना का भी अपूर्व संयोजन रहता है। जहाँ इनमें उल्लिखित काल से अनेक आचार्यों के काल निर्णय और उनकी परम्पराओं के निर्णयों में बहुत सहयोग मिला है, वहाँ आनुषंगिक उल्लेखों से अनेक राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की भी विशेष जानकारी प्राप्त हो जाती है। इसलिए देश, धर्म और समाज के इतिहास में ये अभिलेख सर्वाधिक प्रामाणिक भी माने जाते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास का तभी से विधिवत् अध्ययन भी प्रारम्भ हुआ जब से इनके अध्ययन, अनुशीलन और महत्ता की ओर विद्वानों का ध्यान गया। जैन संस्कृति, इतिहास और साहित्य आदि के क्षेत्रों में तो बहुत उत्क्रान्ति हुई। अनेकों टूटी हुई कड़ियाँ जुड़ीं, नये-नये स्थानों, आचार्यों, श्रावकों, राजाओं और राजवंशों का ज्ञान हुआ। युग-युगान्तर का लेखा-जोखा करना सम्भव हुआ। पट्टावलियों से हमें दीर्घकालीन आचार्य परम्पराओं की लम्बी सूचियों की जानकारी हुई।

यहाँ हम शिलालेखों आदि की महत्ता को समझने की दृष्टि से उदयगिरि-खण्डगिरि की हाथी गुम्फा अभिलेख का उदाहरण प्रस्तुत करके अपने प्रतिपाद्य विषय पर आयेंगे। हमारे साहित्य में ईस्वी पूर्व की दूसरी शती के कलिंग नरेश महामेघवाहन महाराज खारवेल का कहीं कोई नामो-निशान नहीं पाया जाता, किन्तु उनका जीवन चरित्र उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर के पास उदयगिरि-खण्डगिरि की हाथीगुम्फा में जो लेख है, उसने जैनधर्म के प्राचीन इतिहास को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। इस लेख से यह स्पष्ट है कि वे वंशानुक्रम से ही जैन धर्मावलम्बी थे। उनका यह लेख ही "नमो अरहंताणं, नमो सवसिधानं"—रूप महामन्त्र से प्रारम्भ होता है। इस लेख में यह भी स्पष्ट उल्लिखित है कि जिस "कलिंग जिन" के रूप में प्रसिद्ध और पूज्य जैन-प्रतिमा को नन्दवंशी-राजा कलिंग से मगध ले गये थे, उसे इस खारवेल सम्राट ने वहाँ से पुनः लाकर विधिवत् अपनी राजधानी में प्रतिष्ठित किया। खारवेल के जीवन में धार्मिक, नैतिक तथा लौकिक भावनाओं और घटनाओं का अद्भुत समन्वय इस अभिलेख के माध्यम से ही हमें देखने को मिलता है।

खारवेल के इस एक ही उदाहरण से शिलालेखों आदि की महत्ता का अनुमान स्वतः ही लगाया जा सकता है। क्योंकि १९वीं-२०वीं शती के कुछ तथाकथित विद्वानों ने जिस प्राचीनतम जैनधर्म को हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म की शाखा मात्र कहकर उसके मौलिक तात्त्विक चिन्तन, विशाल-साहित्य एवं संस्कृति की उपेक्षा करने की अब तक कोशिश की है, उनके समक्ष मोहनजोदड़ो-हड़प्पा एवं सिन्धुघाटी से प्राप्त मूर्तियों, सिक्कों आदि के रूप में प्राप्त प्रमाणों, वेदों आदि के श्रमण संस्कृति विषयक वातरसना, व्रात्य, शिश्नदेव, केशी आदि के उल्लेख

३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा हाथी गुम्फा का पूर्वोक्त लेख और प्राचीनतम साहित्य प्रस्तुत करना आवश्यक हैं, क्योंकि निष्पक्ष दृष्टि से इन सब प्रमाणों का गहन अध्ययन करने से श्रमण (जैन) संस्कृति की अति प्राचीनता सिद्ध होती है ।

भारत के प्रत्येक प्रदेशों में प्राचीन जैन शिलालेख, मूर्तिलेख आदि उपलब्ध हैं। यद्यपि बहुत से उपेक्षावश नष्ट हो गये और अनेकों अज्ञातावस्था में पड़े हैं किन्तु यथासम्भव भारत के कोने-कोने से सहज उपलब्ध हजारों शिलालेखों का संग्रह करके श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई और भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ने "जैन शिलालेख संग्रह" नामक ग्रन्थ को पाँच भागों में तथा अन्य स्थानों से इस तरह के ग्रन्थ प्रकाशित करके जैन संस्कृति का बहुत उपकार किया हैं। इनका अध्ययन सभी को अवश्य करना चाहिए ताकि हम अपने वैभव और गौरवपूर्ण अतीत को पहचान सकें।

जब से इन शिलालेखों आदि का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है तब से जैन-धर्म, संस्कृति, संघ, साहित्य एवं इतिहास की समृद्धि और प्राचीनता की ओर तो लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ ही, इसके लेखन में विशेष प्रौढ़ता और प्रामाणिकता भी दृष्टिगोचर होने लगी, साथ ही एक व्यवस्थित एवं सुदृढ़ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी समावेश हुआ है। जैनेतर विद्वानों की इस ओर विशेष अभिरुचि भी कम श्लाघनीय नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस देश के कोने-कोने में शिलालेखादि प्राप्त हुए हैं किन्तु इस विषयक साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि दक्षिण एवं पश्चिम भारत में इनका विशेष प्राचुर्य देखने में आया है। अकेले श्रवणवेलगोल में ही ५०० महत्त्वपूर्ण शिलालेख उपलब्ध हैं। सभी शिलालेखों एवं मूर्तिलेखों आदि के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि धर्मप्राण महिलावर्ग एवं पुरुषवर्ग सारे जीवन को धर्म को आराधना में व्यतीत कर अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक देहोत्सर्ग करता था। लोग अपने कल्याण के लिए, माता-पिता, भाई-बहिन आदि के कल्याण के लिए, गुरू की स्मृति हेतु, राजा आदि के सम्मानार्थ अथवा इसी तरह के अन्य शुभ कार्यों के लिए एवं पुण्यार्जन के लिए अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक मंदिर या मूर्ति का निर्माण कराते थे, साथ ही उनकी सुरक्षा, पूजा आदि के लिए, नूतन निर्माण के लिए, मुनियों को आहारदान के लिए और शास्त्रों की लिपि करने वाले लिपिकारों आदि के लिए लोग दान देते थे।

प्रस्तुत निबन्ध द्वारा भी मात्र यह प्रयास किया गया है कि कुछ प्रमुख जैन शिला-लेखों आदि में आचार्य कुन्दकुन्द का किस-किस रूप में उल्लेख प्राप्त है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के अनुपम व्यक्तित्व और कर्तृत्व के विषय में विद्वानों द्वारा काफी लिखा जा चुका है। विशेषकर इस समय पूरे देश में आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी समारोह पिछले वर्ष से ही मनाया जा रहा हैं। अतः इस समय उनके साहित्य का भी काफी प्रकाशन हुआ है और विभिन्न जैन पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक महत्त्वपूर्ण शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हो रहे हैं। इन सब में प्रायः विद्वानों ने उसका समय ईसा पूर्व प्रथम शती का अन्तिम चरण और ईसा की प्रथम शती के प्रारम्भ का माना है। इसके लिए विद्वानों ने अनेक ठोस प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। मेरी दृष्टि में तो उनके द्वारा लिखित विशाल और अनुपम प्राकृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य ही सबसे सबल प्रमाण है। अनेक प्रमाणों द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द के विषय में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं—१. जन्मकाल—ईसापूर्व प्रथम शती, २. दीक्षाकाल—ग्यारह वर्ष की आयु में, (ईसा पूर्व ९७ से ६४ के लगभग), ३. आचार्य पद प्राप्ति एवं कुल आचार्य-काल—ईसा पूर्व ६४ से १२ तक, ४. स्वर्गारोहण काल—ईसा पूर्व १२ के लगभग, ५. कुल आयुष्य—९६ वर्ष के लगभग।[1]

यद्यपि कुछ विद्वान् आ० कुन्दकुन्द को पाँचवीं-छठी शती का भी सिद्ध करने में प्रयत्नशील हैं।[2] लगता है मूल दिगम्बर परम्परा के महान् पोषक होने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अनुपम व्यक्तित्व और कर्तृत्व के धनी आचार्य की उत्कृष्ट मौलिकता एवं कीर्ति को कुछ विद्वान् सहन नहीं कर पा रहे हैं, इसीलिए उन्हें परवर्ती सिद्ध करने के लिए तथ्य रहित आधार बतलाकर अपने को सन्तुष्ट मान रहे हैं। वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द या अन्य जैनाचार्य द्वारा श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण का उद्देश्य स्व-पर कल्याण करना था, न कि आत्म-प्रदर्शन या लौकिक-यश की प्राप्ति। इसीलिए आज अनेकों ऐसे उत्कृष्ट अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें उसके लेखक ने अपना नाम लिखना उचित न समझा। आचार्य अमृतचन्द्राचार्य (८-९वीं शती) के पूर्व तक कुन्दकुन्द के साहित्य पर किसी द्वारा टीका आदि न लिखे जाने का यह अर्थ नहीं कि वे ५-६वीं शती के थे, अपितु बहुत कुछ साहित्य का नष्ट होना, भाषायी आक्रमण और साथ ही आज जैसे प्राचीन काल में विविध सम्पर्क और साधनों का अभाव कारण है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ ही उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता को कह रहे हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में "सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भगवओ जयओ"—कहकर अपने को बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता, गमकगुरू (प्रबोधक) भगवान् श्रुतज्ञानी-श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है।[3] भद्रबाहु को अपना गमकगुरु कहने का यही अर्थ है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द को प्रबोध करने वाले गुरु थे। इसीलिए समयसार को भी उन्होंने "श्रुतकेवली भणित" कहा है। यथा—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोपमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं॥ समयसार-१.

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर महनवमी मण्डप में दक्षिण मुख स्तम्भ पर शक सं० १०८५[4] के लेख संख्या ४० में श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के बाद आचार्य कुन्दकुन्द

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द—पृष्ठ १०, (ले० डॉ० राजाराम जैन एवं डॉ० विद्यावती जैन)।
२. श्रमण भगवान् महावीर : पृ० ३०६, लेखक पं० कल्याण विजयगणी, विशेष—लेखक ने पुस्तक में दस कमजोर प्रमाणों (प्वाइंटों) द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द को छठी शती का माना है।
३. बोध पाहुड गाथा ६०-६१।
४. शक संवत् में ७८ जोड़ देने पर उसका ईस्वी सन् निकल आता है, ६०५ जोड़ देने पर वीर निर्वाण संवत् तथा १३५ संख्या जोड़ देने पर विक्रम संवत् निकाल लिया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके बाद आ० उमास्वाति का उल्लेख करके इन्हें भद्रबाहु के अन्वय का ही बतलाया है। इस लेख का मुख्यांश इस प्रकार है—

श्रीभद्रः सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥

चन्द्रप्रकाशोज्वलचान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद् वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्॥
तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वाति मुनिश्वरोऽसावाचार्य्य-शब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेष-पदार्थ वेदी॥

पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य का ही अपर नाम है। टीकाकार जयसेनाचार्य तथा ब्रह्मदेव ने कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव को भी कुन्दकुन्दाचार्य का गुरु बतलाया है,[1] जबकि नन्दिसंघ की पट्टावली में जिनचन्द्र को गुरु बतलाया है।[2] किन्तु भद्रबाहु को आचार्य कुन्दकुन्द ने 'गमकगुरु' के रूप में जिस तरह स्मरण किया है उससे आ० भद्रबाहु को ही उनका गुरु मानना अधिक उपयुक्त है। आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म स्थान आन्ध्रप्रदेश के पेदथनाडु जिले में कौण्डकुन्दपुर अपरनाम कुरुमरई माना जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनेक नाम तथा विशेषण

साहित्य और शिलालेखों में इनके विभिन्न नामों का उल्लेख मिलता है, जिनमें कौण्डकुन्द (कुन्दकुन्द), पद्मनन्दि, वक्रग्रीव, एलाचार्य, महामुनि, गृद्धपिच्छ प्रमुख नाम हैं। नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के १३८६ ई० के एक शिलालेख में तथा नन्दिसंघ पट्टावली में इस तरह नामों का उल्लेख है—

श्रीमूलसं(घ)ऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्य।
तत्रापि सारस्वतनाम्निगच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी॥

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥[3]

वि० सं० ९९० में रचित आचार्य देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थ में मात्र 'पद्मनन्दी' नाम से उनका उल्लेख किया है।[4] वि० सं० १६वीं शती के षट्प्राभृत के

---

१. (क) समय प्राभृत भूमिका पृ० ४.
   (ख) पञ्चास्तिकाय पर ब्रह्मदेव (१२वीं सती) की टीका की उत्थानिका.
२. जैनसिद्धान्त भास्कर वर्ष १ अंक ४, पृ० ७८.
३. जैनसिद्धान्त भास्कर (आरा) भाग १, किरण ४, पृष्ठ ९०.
४. दर्शनसार ४३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने उनके पाँच नामों का उल्लेख करते हुए उन्हें आकाश में गमन करने वाला (चारणऋद्धिधारी), विदेह क्षेत्र जाकर सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनने वाला तथा 'कलिकाल सर्वज्ञ' रूप विशेषताओं से युक्त बतलाया है। प्रायः प्रत्येक प्राभृत के अन्त में इस तरह की पुष्पिका पायी जाती है।

श्रीपद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्ष भव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता बोधप्राभृतस्य टीका परिसमाप्ता[1]।

श्रुतसागरसूरि द्वारा आ० कुन्दकुन्द के लिए "कलिकालसर्वज्ञ" विशेषण भी विशेष महत्वपूर्ण है।

विदेहक्षेत्र गमन और चारणऋद्धि सम्बन्धी उल्लेख

अनेक ग्रन्थों और शिलालेखों में आ० कुन्दकुन्द के विदेहगमन और चारणऋद्धि सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि आज के कुछ विद्वानों ने विदेहगमन और वहाँ सीमंधर स्वामी के समवसरण में पहुँचकर दिव्य-ध्वनि श्रवण की इस घटना को सही नहीं माना है; किन्तु सदियों प्राचीन इन उल्लेखों को नजर-अन्दाज भी कैसे किया जा सकता है? विदेहगमन की घटना का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य देवसेन ने किया है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥[2]

इस गाथा में कहा है कि पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) स्वामी ने सीमन्धर स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्तकर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया। यदि वे प्रबोधन कार्य न करते तो श्रमण सुमार्ग किस तरह प्राप्त करते?

जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की टीका में उक्त विदेहगमन वाली घटना को "प्रसिद्ध कथा" कहा है। अनेक शिलालेखों में भी उन्हें चारणऋद्धिधारी अर्थात् पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर आकाश में अनेक योजन तक गमन करने वाला कहा है।[3] श्रवणबेलगोल नगर के मठ की उत्तर गोशाला में शक सं० १०४१ के शिलालेख संख्या १३९ में इस तरह लिखा है—

स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।
श्रीकौण्डकुन्दनामाभूच्चतुरङ्गुलचारणः ॥[4]

---

१. अष्टपाहुड : पृष्ठ २०५, श्रीशान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी, १९६८ (अनु० पं० पन्नालाल जैन।
२. दर्शनसार : गाथा ४३।
३. जैन शिलालेख संग्रह भाग १, शिलालेख सं० ४०, ४१, ४२, १०५, १३९, २८७।
४. वही पृ० २८६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् वर्द्धमान के शासन में परिपूर्ण रूप से निष्णात, चार अंगुल ऊपर जमीन से चलने वाले कुन्दकुन्दाचार्य हुए।

महनवमी मण्डप के उत्तर में एक स्तम्भ पर शक सं० १०९९ के लेख सं० ४२ में नागदेव मंत्री द्वारा अपने गुरु श्री नयकीर्ति योगीन्द्र की विस्तृत गुरु-परम्परा का उल्लेख है जिसमें आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द), उमास्वाति–गृद्धपिच्छ, बलाकपिच्छ, गुणनन्दि आदि आचार्यों के नामोल्लेख हैं। इनमें भी आ० कुन्दकुन्द को चारणऋद्धिधारी बतलाया है। यथा—

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणद्धिः ॥४॥[1]

यही श्लोक चामुण्डराय वस्ति के दक्षिण की ओर मण्डप के प्रथम स्तम्भ पर शक सं० १०४५ के लेख सं० ४३ में लिखा है।[2]

श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर सिद्धरबस्ती में उत्तर की ओर एक स्तम्भ पर शक सं० १३२० के लेख सं० १०५ में स्पष्ट रूप से आचार्य कुन्दकुन्द को अनेक विशेषणों सहित भूमि से चार अंगुल ऊपर गमन करने वाला कहा है—

शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि सजगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥१३॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्ब्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ॥१४॥[3]

विविध संघ और आचार्य कुन्दकुन्द एवं कुन्दकुन्दान्वय

आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व और कर्तृत्व इतना अनुपम था कि दिगम्बर जैन परम्परा के प्रायः सभी संघों ने अपने को कुन्दकुन्दाचार्य का मानने में अपने को गौरवशाली अनुभव किया। यही कारण है कि मूलसंघ के अनेक भेद-प्रभेद हो जाने अथवा स्वतंत्र अन्यान्य संघ बन जाने के बावजूद सभी संघ आचार्य कुन्दकुन्द या कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा का अपने को सच्चा अनुयायी मानते हुए भावनात्मक एकता, जैनशासन की अभ्युन्नति एवं आत्मकल्याण के लक्ष्य में एकजुट होकर लगे रहे। और यही कारण है कि जब हम उस लम्बे समय के जैन साहित्य, संस्कृति, धर्म-दर्शन और आचार-विचारों की श्रेष्ठता तथा जैनधर्म को शाश्वतता प्रदान करने हेतु उनके त्याग की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमारा मस्तक गौरव से ऊँचा उठ जाता है और हमें अपने अन्दर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि हम अपने भारत की इस महान् धरोहर के उत्तराधिकारी और अनुयायी हैं। किन्तु हम सभी को भी इस बड़े उत्तरदायित्व का बोध होने और इसके विकास के लिए चेष्टा करते रहने एवं इस विषय में निरन्तर सोचते रहने की बड़ी आवश्यकता है।

---

१. जै० शि० संग्रह भाग १ पृ० ४२.
२. वही : लेख सं० ४३ एवं ४७.
३. वही : पृ० १९७–१९८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसा कि यहाँ कहा गया है कि दिगम्बर जैन परम्परा के प्रायः सभी संघों ने कुन्दकुन्द की परम्परा के अन्तर्गत अपने को घोषित किया। इनमें द्रविडसंघ, नन्दि, सेन और काष्ठासंघ—ये चार प्रमुख हैं। इन सभी के कुन्दकुन्द अन्वय से सम्बन्धित होने के शिलालेखादि में उल्लेख प्राप्त होते हैं। अंगदि से प्राप्त शिलालेख संख्या १६६ में द्रविड़संघ कोण्डकुन्दान्वय लिखा है। शिलालेख सं० ५३८ में सेनगण के साथ कुन्दकुन्दान्वय जुड़ा हुआ ही है और नन्दिसंघ तो मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय, देशियगण, पुस्तकगच्छ से सम्बद्ध था ही।[1] मूलसंघ दिगम्बर परम्परा में प्रमुखता से मान्य रहा है। मूलसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख गंगवंश के महाराजा माधववर्मा द्वितीय और उनके पुत्र अविनीत (सन् ४००-४२५ के करीब) के लेखों में पाया जाता है।[2] इसी मूलसंघ का उल्लेख अब तक मूर्तिलेखों आदि में प्रचलित भी है।

कुन्दकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवीं-नौवीं शती के शिलालेख में देखा गया है तथा मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लेख सं० १८० (लगभग १०४४ ई०) में इस प्रकार पाया गया है—"श्रीमूलसंघ देशियगण, पुस्तक-गच्छ कोण्डकुन्दान्वय इङ्गुलेश्वरद बलिय ··· ···· शुभचन्द्रदेवर ··· ···।[3] अन्यान्य शिलालेखों में उल्लेख द्रष्टव्य हैं।[4]

श्रवणबेलगोल में कत्तिले बस्ती के द्वारे से दक्षिण की ओर के पूर्वमुख पर शक सं० १०२२ के लेख सं० ५५ पर भी लिखा है कि—

श्रीमतोवर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।
श्रीकोण्डकुन्द-नामाभून्मूलसङ्घाग्रणी गणी ॥३॥[5]

श्रवणबेलगोल के महनवमी मण्डप में शक सं० १२३५ के लेख सं० ४१ कहा है—

श्रीमूलसङ्घ-देशीगण-पुस्तकगच्छ कोण्डकुन्दान्वये।
गुरुकुलमिह कथमिति चेद्ब्रवीमि सङ्क्षेपतो भुवने ॥२॥

---

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ शि० सं० ५३८, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ पृ० ९०।
२. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ की प्रस्तावना।
३. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ शि० सं० १८० पृष्ठ २२०—यह लेख दोड्ड—कणगालु में गौण के खेत के दूसरे पाषाण पर उत्कीर्ण है।
४. जैन शि० संग्रह भाग ३. लेख सं० ३०७, ३१३, ३१४, ३३५, ३५२, ३५६, ३६४, ३७२, ३७७, ३८४, ३८९, ३९४, ४०२, ४११, ४३९, ४४९, ४६६-७, ४७८, ५१४, ५२१, ५२४, २२६, ५३८, ५४७, ५५१, ५६०, ५६१, ५८०, ५८२, ५८४, ५८५, ५९०, ६००, ६२१, ६७३, ७०२, ७५५, ८३४, ८३६.
५. वही, भाग १ पृ० ११५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुप्पुटूरु (कन्नड) के लेख सं० २०९ शक सं० ९९७ में भी कहा है[1]—

आतर्क्यं-गुणजलधिकुण्डकुन्दाचार्य्यर् ।

आ-कोण्डकुन्दान्वयदोलु । श्री कुण्डकुन्दान्वय-मूलसंघे .... ।

विन्ध्यगिरि पर्वत पर सिद्धरबस्ती में उत्तर की ओर एक स्तम्भ पर शक सं० १३२० के विस्तृत लेख संख्या १०५ में अनेक आचार्यों के नामोल्लेख सहित उत्कीर्ण है कि—

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्य-द्वितयेन रेजे ।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिवकल्पभूजः ॥२५॥
अर्हद्बलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुण्डान्वयमूलसङ्घं ।
कालस्वभावादिह जायमानद्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥[2]

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द और कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख अनेकों शिलालेखों में है। उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, मैसूर, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, दिल्ली आदि स्थानों के शिलालेखों में आ० कुन्दकुन्द का और इनके अन्वय का उल्लेख है। इन शिलालेखों को जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ में देखा जा सकता है।[3]

कुन्दकुन्दाचार्य के नामोल्लेख तथा उनकी यशोगाथा से सम्बन्धित शिलालेख दृष्टव्य हैं—

यह श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बस्ती में एक स्तम्भ लेख सं० ५४, जो कि शक सं० १०५० का है, इसमें कहा है—

वन्द्योविभुर्म्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः ।
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु - चारण - कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥ ५ ॥

विन्ध्यगिरि पर्वत पर सिद्धरबस्ती में दक्षिण ओर के एक स्तम्भ पर शक सं० १३५५ के लेख सं० १०८ में कहा है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला ।
बभौ यदन्तर्म्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुन्डकुन्दोदित चण्डदण्डः ॥ १० ॥

वेरावल (सौराष्ट्र) में १२वीं सदी के एक संस्कृत लेख सं० २८७ में लिखा है[4]—

बभूवुः कुन्दकुन्दाख्या साक्षात्कृतजगत्त्रयाः ॥ १३ ॥
येषामाकाशगामित्वं व्यातपंचकमुज्वलं ॥

---

१. जैन शिलालेख सं० भाग २ पृष्ठ २६९ ।
२. वही, भाग १ पृष्ठ १९९ ।
३. वही भाग ५ पृष्ठ ३५, ३८, ५४, ५६, ५७, ५८, ६३, ७२, ७३, ७५, ८४, ९२, १०२, १०५, ११०, ११२, ११४ ।
४. जैन शिलालेख सं० भाग ४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार शताधिक शिलालेखादि में आचार्य कुन्दकुन्द की यशोगाथा उल्लिखित है। किन्तु मैंने यहाँ कुछ प्रमुख उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि यहाँ सर्वप्रथम मर्करा के उस ताम्रपत्र वाले लेख का उल्लेख होना चाहिए था जो आ० कुन्दकुन्द के उल्लेख वाला सर्व प्राचीन लेख है किन्तु इसकी प्रामाणिकता विवादग्रस्त[1] होने के कारण इसके कुछ अंश अन्त में ही उद्धृत किये जा रहे हैं—

स्वस्ति जितं भगवता गतघनगगननाभेन पद्मनाभेन श्रीमद् जाह्नवीय कुलामल-व्योमाभासनभास्कर ··विभूषणविभूषितकाण्वायन सगोत्रस्य····विद्वत्सु प्रथमगण्य श्रीमान् कोङ्गणिमहाधिराज अविनीत नामधेय दत्तस्य देसिग गणं कोण्डकुन्दान्वयगुणचन्द्रभटारक-शिष्यस्य अभयणन्दि भटार···।[2]

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके अन्वय की गौरवशाली परम्परा रही है। और प्राचीन काल से अब तक निरन्तर चल रही इस परम्परा के उल्लेख आज भी प्रायः सभी प्रतिष्ठित मूर्तियों के मूर्तिलेखों में प्रचलित है, जिनके परिपेक्ष्य में हम उनके महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ ही भारतीय मनीषा को उनके अनुपम योगदान की परख कर सकते हैं।

●

---

१. देखिये जै० शि० सं० भाग २ की प्रस्तावना पृ० ३ में डॉ० हीरालाल जैन ने इसे बनावटी कहा है।

२. मर्करा का यह संस्कृत-कन्नड़ लेख शक सं० ३८८ (४६६ ई०) का है। अविनीत कोङ्कणिका मर्करा पत्र (मर्करा के खजाने में से प्राप्त ताम्रपत्र) लेख में चेर राजाओं की वंशावली इस दान पत्र में दी गयी है। इसी में देसिग (देशीय) गण कोण्डकुन्द अन्वय के गुणचन्द्र भटार (भट्टारक) के शिष्य अभयणदि भटार आदि की परम्परा का उल्लेख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE IMPACT OF SHRAMANISM ON INDIAN SOCIAL LIFE

Dr. NAND KISHORE PRASAD*

Some religious cults of ancient India were branded as 'Śramaṇa dharma' or 'ascefic religious cults'. Among these Jainism, Buddhism and Ajivikism were prominent. But Jainism and Buddhism are the only ones extant today. Ajivikism, however, became an obsolete religious cult long ago.

The term 'Śramaṇa' generally stands in adversative combination with the term 'Brāhmaṇa'. It has been said that material purity was the main characteristics of the Brahmanical cults. But the Shramanical cults were founded on rules of ethical conduct. It cannot be said that the Brahmanical religions were entirelay bereft of the rules of the ethical conduct. But we may assume that at the time of the advent of Jainism and Buddhism the Brahmanical religion had turned out to be more formalistic than ethical.

Religion is a social necessity of man. So it is necessary that it should remain socially relevant. Whenever a religion became predominantly formal it loses its social relevance. Then it is time for the priests to incarnate and redefine religion to make it subservient to the social purpose.

The Buddha in the sixth century B. C. perceived that the religions of the time had swerved from their proper objectives. So he evolved a a religion which would be relevant to life in all intents and purposes. After all it is for life and not for itself. Naturally the Buddha concentrated on life and he perceived the four noble truths (*cattāriariyasaccāni*) :—

1. *Dukkha* (suffering).
2. *Dukha-samudaya* (origin of suffering),
3. *Dukha-nirodha* (extinction of suffering) and
4. *Dukhanirodhagāminī-paṭipadā* (the path leading to the extinction of suffering).

The Buddha explained that the path leading to the extinction of suffering was eight-fold. It consisted of (*1*) *Sammā diṭṭhi* (right view),

* Director-in-charge, Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(2) *Sammā saṃkappo* (right aspiration), (3) *Sammā vācā* (right speech), (4) *Sammā Kammanto* (right action), (5) *Svmmā ājīvo* (right livelihord), (6) *Sammā vāyāmo* (right efforts), (7) *Sammā sati* (right mindfulness) and *Sammā samādhi* (right concentration).

In his first sermon delivered at Sarnath, the Buddha explained how the eight-fold path was relevant and conducive to good and desirable life. The right understanding is the understanding of things as they really are. It eliminates transcendental abstractions as alien to life. For a good life one's thought should be free from ill-will, lust and cruelty. This is what constituted right thought. The Buddha explained right speech as abstinence from lies and harsh words. From experience the Buddha knew that people told lies to serve their covetous and sinful design. They spoke ill of others to create dissension and rejoice. They also used harsh language to show of and assert their power. All these led to a bad life. In right speech all these have to be avoided. In this way the Buddha showed with illustrations how the eight-fold path was conducive to a good and noble life.

As such Buddha's teachings made a direct appeal to the masses who adopted them in their life. The inscriptions of emperor Ashoka evince that the teachings of the Buddha proved to be relevant not only socially but politically as well. The great emperor based his polity on the teachings of the lord and emerged as one of the great rulers and benefactors of mankind.

Like Buddhism, Jainism too has the ethical conduct of man as its foundation stone. In their views right conduct consists of the five vows namely :

(1) *Pāṇāivāya veramaṇa* (abstinence from inflicting injury to living-beings),

(2) *Musāvāya veramaṇa* (abstinence from speaking lie),

(3) *Adinnādāna veramaṇa* (abstinence from stealing),

(4) *Mehuṇā veramaṇa* (practising celebacy), and

(5) *Apariggaha* (abandonment of all possessions).

All these vows are obviously conducive to a good and peaceful individual and social life. With a view to making religion practical and purposeful, the vows have been categorised as major (*mahāvrata*) and minor (*aṇuvrata*). In their strict and stringent aspect, the vows are said to be major. In their mild and more practical form, they are said to be minor. In this form they are to be practised by the house-holders. For example,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the major vows of non-violence consists of complete abstinence from causing injury to life. But in the minor aspect it permits violence in self-defence and in pursuit of an inevitable vocation. This measure of taking the religious conduct to two different planes evinces a practical and pragmatic approach to make it relevant to life and society.

History tells us that Jainism continued incessantly, but Buddhism disappeared from the land of its birth. When India attained fredom it aspired to inculcate the old values and traditions. The Indian National Government adopted the wheel and lion symbol from Buddhism. In the middle white portion of the national flag there is the wheel symbol. In Buddhism the wheel symbolises the turning of the wheel of religion by the Buddha. The four lion-heads joined together constiutes of our national emblem. It has been adopted from the head of an Ashokan pillar found at Sarnath. These two events show the respect which the Indian people have for Buddhism even today.

Thus if we give a deep thought to our Indian ways of life, we will find that both Jainism and Buddhism have taken deep roots in Indian life not to be eliminated from any walk of life and at any point of time. Although apparently, Buddhism as a formal religion might have disappeared from India at some point of time, its spirit certainly got amalgamated with Indian life and culture. In the same way the essence of Jainism is not only confined to Jainism as a sect. It has permeated the whole Indian life and culture. Both these humanistic religions prominently manifested themselves in the thought and conduct on the medieval saints like Nanak and Kabir and the modern teachers and reformers of Indian society like Raja Rammohan Roy and Mahatma Gandhi.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेतुबन्ध में बिम्ब-विधान

डा० राय अश्विनी कुमार*/डा० हरिशंकर पाण्डेय**

हिन्दी में बिम्ब शब्द का प्रयोग आंग्ल "इमेज" शब्द के स्थान पर किया जाता है। 'इमेज' का अर्थ होता है—किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसिकी प्रतिकृति,[1] कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र या प्रतिकृति जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है[2]। मनोविज्ञान की भाषा में "मानसिक पुनर्निर्माण" बिम्ब है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में अंकित है कि "बिम्ब वे सजग स्मृतियाँ हैं, जो मूल प्रेरक अवधारणा की अनुपस्थिति में किसी पूर्व अवधारणा को समग्र अथवा आंशिक रूप में पुनर्प्रस्तुत करती हैं। बिम्ब-निर्माण पूर्णतः मानसिक व्यापार है और मस्तिष्क की आंखों से देखी जाने वाली वस्तु है[3]।

प्रख्यात विचारक सिसिल डे लेविस के अनुसार काव्य-बिम्ब शब्दात्मक ऐन्द्रिय चित्र है जो कुछ अंशों में रूपकात्मक होते हुए मानवीय भावों का अभिव्यंजक होता है। साथ ही किसी विशिष्ट काव्यात्मक संवेदना से सम्प्रेरित हो पाठक तक उसी भाव को सम्प्रेषित करता है[4]। इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि बिम्ब वह शब्द-चित्र है जिसके द्वारा कवि अपने भावों एवं विचारों को उदाहृत, सुस्पष्ट एवं अलंकृत करता है। भाव एवं संस्कार सहृदय-मन में अन्तरवस्थित होते हैं, अमूर्त्त रूप में निवास करते हैं, उन्हीं का ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति बिम्ब है।

बिम्ब कोई नई वस्तु नहीं बल्कि कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभासम्पन्न कवि के अन्तश्चेतन में विद्यमान अमूर्त्त भावों का मूर्त्त इन्द्रियगम्य अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा कवि अपनी भावनाओं तक पहुँचाने में समर्थ होता है।

जेम्स आर० क्रूजर के अनुसार जो वस्तु सामने नहीं है उसे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य बना देना बिम्ब का कार्य है। बिम्ब किसी अमूर्त्त विचार या भावना की पुनर्निर्मिति है[5]।

स्वयं दृष्ट, अनुभूत एवं प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का श्रोताओं के सामने प्रत्यक्षीकरण बिम्ब है[6]। इस प्रकार अनुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति बिम्ब है। कैरोलियन स्पर्जियन ने शेक्सपियर के बिम्बों के विश्लेषण के क्रम में बिम्ब विषयक अवधारणा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार—"बिम्ब कवि द्वारा अपने विचारों को उदाहृत सुस्पष्ट एवं अलंकृत करने के लिए प्रयुक्त एक लघु शब्दचित्र है। यह किसी अन्य वस्तु के साथ वाच्य या प्रतीयमान साम्य या उपमा के द्वारा प्रस्तुत किया गया एक वर्णन विचार है। कवि अपने वर्ण्य-विषय को जिस ढंग से देखता, सोचता या अनुभव करता है, बिम्ब उसकी समग्रता, गहनता, रमणीयता एवं विशदता

---

*. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय बोधगया।

**, वरीय यू० जी० सी० फेलो, संस्कृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय बोधगया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कुछ अंश को अपने द्वारा उद्‌बुद्ध भावों एवं अनुषंगों के माध्यम से पाठक तक सम्प्रेषित करता है[७]।"

आधुनिक हिन्दी आलोचक काव्य-बिम्ब में चित्रात्मकता एवं इन्द्रियगम्यता को अनिवार्य मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार काव्य-बिम्ब पदार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है[८]।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कवि के हृदयगत एवं संस्कारगत मनोभावों की बाह्याभिव्यक्ति अथवा पाठक संसार तक उसका संक्रमण काव्य-बिम्ब है। सहृदय पाठक के सामने काव्य-श्रवण मात्र से ही विविध प्रकार के भाव अभिव्यंजित होने लगते हैं, चित्र उभरकर सामने आने लगते हैं।

सेतुबन्ध में बिम्ब

सेतुबन्ध में १६ बार बिम्ब शब्द का प्रयोग छाया, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति आदि अर्थों में हुआ है। चन्द्र-बिम्ब एवं सूर्य-बिम्ब के रूप में इसक अधिक प्रयोग हुआ है यथा—

ससि बिम्बम् १/२५, ३/३६, ९/७१, ९/७७, १०/३४, १०/३५, १२/४, १०/८०, १५/४२।

पडिबिम्बम् २/२।

दिवाअर बिम्बम् १०/३८।

दिणअर बिम्बम् १०/१०, १५ रई बिम्बम् १०/८ रईबिम्बणिहा १४/२।

बिम्बो १०/ ४८।

वर्गीकरण

सर्वप्रथम हम सेतुबन्ध में प्राप्त बिम्बों का वर्गीकरण स्रोतों के आधार पर करेंगे। उसमें दो वर्ग हैं (क) मानवीय और (ख) मानवेतर। मानवीय बिम्बों में राम, सीतादि के बिम्ब परिगृहीत हैं। मानवेतर बिम्बों के अनेक वर्ग हैं—प्रकृति, युद्ध, प्रकाश, पेयद्रव्य, एवं देवादि से सम्बद्ध बिम्ब।

यतः बिम्बों का ग्रहण मुख्यतः इन्द्रियाँ ही करती हैं, अतएव इन्द्रियों के आधार पर भी बिम्बों का विभाजन करेंगे—

(१) बाह्यकरणेन्द्रिय ग्राह्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

(२) अन्तःकरणेन्द्रिय ग्राह्य—भाव, प्रज्ञा।

(क) भाव बिम्ब—भक्ति, रति, अनुराग, लज्जा, अरति, मद, संताप, व्याधि, हर्ष, विषाद, उत्साह, शोक, संशय, काम, मूर्छा, वेदना।

(ख) प्रज्ञा बिम्ब—कीर्ति, यश, नियम, मन्त्र, आज्ञा, चरित्रादि।

इन दो विभागों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी विभाजन किए जा सकते हैं, लेकिन विस्तार भय से सबका विवेचन संभव नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(क) मानवीय बिम्ब

राम—राम भारतीय संस्कृति के आदर्श पुरुष हैं। संस्कृत-प्राकृत के अधिकांश कवियों ने राम के आदर्शों के वर्णन में अपने को समर्पित किया है। वाल्मीकि रामायण में राम के अनेक बिम्ब मिलते हैं—बालक, किशोर, धनुर्धर, लोकरक्षक, मर्यादा पुरुषोत्तम आदि। सेतुबन्ध का कवि भी राम के अनेक रूपों का रमणीय बिम्ब उपस्थापित करता है।

सर्वप्रथम राम विरहव्यथित और वर्षा ऋतु से आहत सीता-मिलन की आशा से रहित, अतएव विषण्ण दिखाई पड़ रहे हैं। राम का यह कारुणिक बिम्ब कितना मनोज्ञ है। राम ने वर्षा ऋतु में विभिन्न प्रकार के कष्ट सहे, लेकिन अब शरदागमन पर सीतान्वेषण या सीता प्राप्ति के उत्साह से रहित होने के कारण थके-थके लग रहे हैं—

गमिआ कलम्बवाआ दिट्ठं मेहन्धआरिअं गअणअलम् ।
सहिओ गज्जिअसद्दो तह वि हु से णत्थि जीविए आसङ्को ॥[९]

इस गाथा में राम के विरहव्यथित हृदय के अतिरिक्त वर्षाकालीन पवन, घनान्धकार युक्त आकाश तथा मेघ गर्जन के सुन्दर बिम्ब एक ही साथ उपस्थित हैं, इसलिए श्लिष्ट बिम्ब चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है—

छिज्जइ छिण्णावि तणू अट्ठिअवाहं पुणो परुण्णं व मुहम् ।
रामस्स अईसन्ते आसाबन्धे व्व चिरगए हणुमन्ते ॥[१०]

क्षीण शरीर में स्थित वाष्प (अन्तःअश्रु) से राम का मुख पुनः रोते हुए की तरह दिखलाई पड़ रहा है। आह ! सीता-मिलन की कितनी व्यग्रता है राम में। यह तो कोई रामसदृश पुरुष-नायक ही जान सकता है। रुआँसे मुख का बिम्ब अत्यन्त रमणीय है।

हनुमान् के द्वारा सीता विषयक समाचार सुनाए जाने पर राम की स्थिति अत्यन्त भावात्मक हो जाती है। जब हनुमान् ने कहा कि 'सीता को देखा है' तो राम ने विश्वास नहीं किया, 'क्षीण शरीर वाली हो गई है' यह जानकर आकुलित होकर उन्होंने गहरी साँस ली. 'तुम्हारी चिन्ता करती है', प्रभु रोने लगे और 'सीता सकुशल जीवित हैं'—यह सुनकर राम ने हनुमान् का गाढालिङ्गन किया—

दिट्ठ त्ति ण सद्दहिअं क्षीण त्ति सबाहमन्थरं णीससिअम् ।
सोअइ तुमं ति सण्णं पहुणा जिअइ त्ति मारुई उवऊढो ॥[११]

इस गाथा में विरही मन के विभिन्न भावों के बिम्ब एक साथ उपस्थित हो रहे हैं तथा खोयी वस्तु की सहसा प्राप्ति पर विश्वास नहीं होता—इस लोक-शास्त्र प्रथित सैद्धान्तिक तथ्य का रूपायन भी किया गया है।

रावण के अपराध का चिन्तन कर राम का क्रोधाभिभूत मुख सूर्यमण्डल की तरह कठिन दर्शन योग्य हो गया है—

बाहमइलं पि तो से दहमुहचिन्ताविअम्भमाणामरिसम् ।
जाअं दुक्खालोअं जरढाअन्तरविमण्डलं मिवव्वमणम् ॥[१२]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोधाभिभूत मुख का चित्रण अत्यन्त रमणीय है। उसकी उपमा सूर्य मण्डल से दी गई है जिससे मुख-बिम्ब अत्यन्त स्पष्ट एवं सहज संवेद्य हो जाता है।

एक गाथा में कवि ने राम के त्रैलोक्य उद्धारक, अत्यन्त विस्तृत एवं सर्वव्यापक चित्र को बिम्बित करने का श्लाघनीय प्रयास किया है—

रक्खिज्जइ तेल्लोक्कं पलअसमुद्दविहुरा धरिज्जइ वसुहा।
उअरद्धन्तपहुत्ते विमुहज्जइ साअरे त्ति विह्मअणिज्जम् ॥[13]

एक स्थल पर कृश राम बायें हाथ से प्रिय पयोधर-स्पर्श-सुख से विमुख वक्षःस्थल को सहलाते हुए दिखाई पड़ रहे हैं—

तो पाअडवोच्चलं पह्मट्ठपिआपओहरप्फरिससुहम्।
वच्छं तमालणीलं पुणो पुणो वामकरअलेन मलेन्तो ॥[14]

उनके शरीर की कृशता, स्पर्श सुख राहित्य, तथा नीले-नीले वक्षःस्थल का बिम्ब अत्यन्त रमणीय है।

चतुर्दश आश्वास में धनुर्धर राम का अत्यन्त आकर्षक बिम्ब संघटित हो रहा है। रावण को प्राप्त न करने से अलस भाव से राम राक्षसों का वध कर रहे हैं। उनके भयंकर बाणों के भय से राक्षस दिशाओं में भाग रहे हैं, अतएव वानर राक्षसों को न मार सकने के कारण खिन्न हो इधर-उधर घूम रहे हैं। राक्षसों के अस्त्र राम-बाण से मध्यमार्ग में ही क्षीण हो जाते हैं, वानरों तक नहीं पहुँच पाते।

इस प्रकार लगभग १४ गाथाओं में धनुर्धर राम का बिम्ब अत्यन्त सुन्दर एवं आह्लादक है।

एक तरफ धनुर्धर एवं वीर राम का चित्र अत्यन्त उत्साहवर्धक है तो दूसरी तरफ नाग पाश से आविद्ध होकर गिरे हुए विवश एवं असहाय राम का बिम्ब अत्यन्त कारुणिक है। राम और लक्ष्मण के सम्पूर्ण शरीर सर्पमय बाणों से विदीर्ण हो गये हैं, अवयव छिन्न-भिन्न हो गए हैं तथा थोड़े-थोड़े दिखाई देने वाले बाण-मुख में रुधिर जम गये हैं। इस प्रकार सर्प-बाण से कसकर जकड़ जाने के कारण संज्ञाहीन होकर गिरे राम और लक्ष्मण का बिम्ब अत्यन्त हृदयविदारक रूप में प्रस्तुत हो रहा है।[15]

लक्ष्मण-मरण की आशंका से शोक-संतप्त एवं विलाप करते हुए राम का बिम्ब सहृदयों के हृदय में करुणा का उद्रेक कर रहा है।

लक्ष्मण—महाकवि प्रवरसेन ने अनेक स्थलों पर लक्ष्मण का रमणीय बिम्ब उपस्थापित किया है। सीतान्वेषण काल में रामानुगामी तथा विरहकातर रूप में, युद्धकाल में वीरधनुर्धर के रूप में तथा नागपाश एवं शक्तिबाण से आहत लक्ष्मण का बिम्ब अत्यन्त हृद्य बन पड़ा है। नागपाश में लिपटे संज्ञाहीन राम के साथ लक्ष्मण का बिम्ब मर्मविदारक है—

ताण भुअङ्गपरिगआ दुक्खपहुव्वन्तविअडभोगावेढा।
जाआ थिरणिक्कम्पा मलअअडुव्वण्णचन्दणदुम व्व भुआ ॥[16]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन राघव वीरों (राम और लक्ष्मण) की विकट नागों द्वारा आवेष्टित बाहुएँ मलय पर्वत की तराई में लगे चन्दन वृक्षों के समान स्थिर और स्पन्दनहीन हो गयी हैं। यहाँ नाग-पाश से आबद्ध लक्ष्मण की भुजाओं की उपमा मलयाचल में लगे चन्दन वृक्षों से दी गयी है। जिस प्रकार सर्पों से निगडित चन्दनवृक्ष स्थिर एवं स्पन्दनहीन हो जाते हैं उसी प्रकार लक्ष्मण की भुजाएँ भी हो गयी हैं। यहाँ लक्ष्मण की भुजाओं का बिम्ब अत्यन्त सुन्दर है।

पन्द्रहवें आश्वास में वीर धनुर्धर लक्ष्मण का दृश्य चित्त का विस्तार करता है।[१७] उनकी ओजस्वी वाणी शब्द-बिम्ब बनकर उत्साह सम्बर्धित करती है।[१८]

सीता—सेतुबन्ध की नायिका सीता का चरित्र अत्यन्त उदात्त, उत्कृष्ट एवं मानवीय रूप में चित्रित हुआ है। सीता का शील-सौन्दर्य एवं रूप-लावण्य अनेक स्थलों पर कवि ने सफलतापूर्वक रूपायित किया है। मुख्यतः सीता का कारुण्य रूप ही प्रतिबिम्बित हुआ है। मायाशीश को देखकर सीता की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी है। वह मूच्छित होकर धरती पर गिर पड़ी है—

आलोइए विसण्णा उवणिज्जन्तम्मि वेविउं आढत्ता।
सीआ रअण्डिअरेहि रामसिर त्ति भणिए गअ च्चिअ मोहम् ॥[१९]

राम का मायाशीश देखकर सीता म्लान मुख हो गयी, समीप लाए जाने पर काँपने लगीं और यह कहे जाने पर कि यह राम का शीश है, वह मूच्छित हो गई। सीता के म्लान, वेपनशील एवं मूच्छित इन तीन रूपों के चित्रण से यह स्थल अत्यन्त मर्मान्तक बन पड़ा है। सीता के मन में उबलने वाली प्रतिशोध की भावना से सम्बद्ध बिम्ब तदनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में पूर्णतया सक्षम है। राम के मायाशीश को देखकर सीता के मरण का मार्ग प्रशस्त हो गया पर रावण के प्रति अपना प्रतिशोध पूर्ण न हो सकने के कारण सीता अत्यन्त विषण्ण हैं—

तुह बाणुक्खअणिहअं दच्छिम्मि दहकण्ठमुहणिहाअं त्ति कआ।
मह भाअधेअवलिआ विवराहुत्ता मणोरहा पल्हत्था ॥[२०]

इस गाथा में मरणातुरा विषण्णमना सीता के रूप का स्पष्टरूपेण अंकन हुआ है।

रावण—सेतुबन्ध का प्रतिनायक रावण है। यद्यपि वह वीर, पराक्रमी तथा ज्ञानी भी है लेकिन अपने गर्ह्य कर्मों के द्वारा अत्यन्त दुर्दान्त राक्षस के रूप में सामने उपस्थित होता है। उसका अद्भुत पराक्रम, शौर्य, धैर्य, युद्धोल्लास आदि का बिम्ब अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है तथापि वाल्मीकि के रावण की अपेक्षा सेतुबन्ध का रावण भीरु एवं कामुक के रूप में ही अधिक दिखाई पड़ता है। ग्यारहवें आश्वास में उसकी सीता-विषयक काम-व्यथा का विस्तृत चित्रण हुआ है।

युद्ध के समय रावण की वीरता अतुलनीय है। वह राम का समर्थ प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होता है—

छिण्णो णिडालवट्टो ण अ से फुडभिउडिविरअणा विहडिआ।[२१]

मस्तक कट जाने पर भी वह कबन्ध रावण पर भीषण बाणों की वर्षा करता है तथा राम के बाणों का तीखा उत्तर भी देता है।

३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वानर

वानर की गणना पशु-योनि में होती है लेकिन सेतुबन्ध में उसका चित्रण मानवीय रूप में होने के कारण प्रस्तुत सन्दर्भ में वानर-विषयक बिम्बों को मानवीय बिम्ब के अन्तर्गत ही रखा गया है।

जाम्बवान्, हनुमान, सुग्रीव, नल-नील, आदि अनेक वानरों का कमनीय बिम्ब सेतुबन्ध में उपलब्ध होता है। समुद्र दर्शन से वानर-त्रस्त, व्याकुल, डर से काँपते हुए शरीर वाले एवं चित्रलिखित की भाँति स्तम्भित दिखाई पड़ रहे हैं—

साअरदंसणहित्था अविअत्तोसरिअवेवमाणसरीरा।
सहसा लिहिअव्व ठिआ णिप्पन्दणिराअलोअणा कइणिवहा ॥[२२]

इस गाथा में सागर दर्शन से त्रस्त, कंपनशील एवं जडवत् वानरों का सुन्दर बिम्ब रूपायित हो रहा है।

सीतान्वेषण कार्य को सम्पादित कर लौटे हुए उत्फुल्ल मुख वाले हनुमान् राम के साक्षात् मनोरथ के समान प्रतीत हो रहे हैं—

रामस्स अईसन्ते आसाबन्धेव्व चिरगये हणुमन्ते ॥[२३]

"सीता जीवित है" यह मंगल समाचार सुनकर राम के द्वारा आलिङ्गित पवनपुत्र का बिम्ब कितना हृदयावर्जक है—

जिअई त्ति मारुई उवऊढो ।[२४]

सेतुबन्ध के अनेक स्थलों पर सुग्रीवादि की वीरता एवं पराक्रम के सुन्दर बिम्ब उपलब्ध होते हैं।

(ख) मानवेतर बिम्ब

(i) प्राकृतिक बिम्ब

मानवेतर बिम्बों के अन्तर्गत हम सर्वप्रथम प्राकृतिक बिम्बों को रखते हैं जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

ऋतु—सेतुबन्ध में शरद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। शरद् ऋतु के आगमन का बिम्ब अत्यन्त स्पृहणीय है—

तो हरिवइजसवन्थो राहवजीअस्स पढमहत्थालम्बो।
सीआबाहविहाओ दहमुहवज्झदिअहो उवगओ सरओ ॥[२५]

सुग्रीव के यश के मार्ग के समान, राघव के जीवन के प्रथम अवलम्ब के समान और सीता के अश्रुओं का अन्त करने वाले रावण के वध-दिवस के समान शरद् ऋतु आ पहुँची।

इस गाथा में शरद् की शुभ्रता, आशारूपता आदि का सुन्दर बिम्ब बिम्बित हो रहा है, साथ-साथ 'शारदागमन पर नई शक्ति एवं आशा का सञ्चार होता है' इस तथ्य का भी किया गया है।

शारदीय आकाश का बिम्ब कितना मनमोहक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रइअरकेसरणिवहं सोहइ धवलब्भदलसहस्सपरिगअम्‌ ।
महुमहदंसणजोग्गं पिआमहुप्पत्तिपङ्कअं व णहअलम्‌ ॥[२६]

शारदीय आकाश विष्णु की नाभि से निःसृत उस अपार विस्तृत कमल के समान सुशोभित हो रहा है जिसमें ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, सूर्य की किरणें ही जिसमें केसर हैं और सफेद बादलों के सहस्रों खण्ड दल हैं। यहाँ पर आकाश की अतिव्यापकता एवं शुभ्रता का प्रतिपादन प्रस्तुत बिम्ब के द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त १/१८-३४ गाथाओं में शरद् का रमणीय वर्णन मिलता है।

(ii) काल (समय)

सेतुबन्ध से प्रातःकाल, सन्ध्यादि का सुन्दर बिम्ब भी उपलब्ध होता है—

प्रातःकाल

हंसउलसद्दमुहलं उग्घाडिज्जन्तदसदिसावित्थारम्‌ ।
ओसरिअतिमिरसलिलं जाअं पुलिणं व पाअडं दिअसमुहम्‌ ॥[२७]

दशों दिशाओं में विस्तार वाला हंसों के कलरव से ध्वनित, एवं अन्धकार के हटने पर दिवस का प्रथम-प्रहर (प्रातःकाल), जलराशि रहित सागर-पुलिन के समान व्यक्त हो रहा है।

प्रस्तुत गाथा में प्रातःकाल का सुन्दर बिम्ब स्थापित हो रहा है। दिशाओं में परिव्याप्त एवं शुभ्र तथा हंसों के कलरव से दिवस का प्रथम प्रहर का बिम्ब अत्यन्त हृद्य है।

आरुहइ व दिवसमुहे उद्धाअन्तुद्धमण्डलाउरतुरओ ।[२८]

प्रातःकाल में सूर्य ऊर्ध्व गमनोत्सुक घोड़ों द्वारा मानो सुवेल पर्वत पर चढ़ रहे हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है। प्रस्तुत गाथा में प्रातःकालीन सूर्य का बिम्ब अत्यन्त सुन्दर है।

सन्ध्या—दिनावसान (संध्या) में सूर्य अपने सम्पूर्ण मण्डलों को संकुचित करते हुए सुवेल पर्वत से उतरता हुआ-सा प्रतीत हो रहा है।[२९]

इसमें सांध्य-बिम्ब स्पष्ट रूपायित हो रहा है।

दिवस

अहिणवणिद्धालोआ उद्धदेसासारदीसमाणजललवा ।
णिम्माअमज्जणसुहा दरवसुआअच्छविं वहन्ति व दिअहा ॥[३०]

स्निग्ध आलोक से पूर्ण, एकदेश में वर्षा होने से जललवों से युक्त, धुले हुए शरत्कालीन दिवस किञ्चित् शुष्क शोभा को धारण करते हुए से प्रतीत हो रहे हैं।

प्रस्तुत गाथा में प्रकाशवान् कोमल शारदीय दिवस का चारु वर्णन किया है।

प्रदोष

इअ पहसिअकुमुअसरे मइलिअमुहपङ्कअविसद्धचन्दालोए ।
जाए फुरन्ततारे लच्छिसअंगाहणवपओसे सरए ॥[३१]

इस प्रकार तालाब में प्रहसित कुमुदों तथा शत्रु की स्त्रियों के मुखपंकज को म्लान करने वाले चन्द्रमा के आलोक से युक्त प्रदोषकाल में राम और अधिक क्षीण हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ प्रदोष का अत्यन्त सुन्दर बिम्ब रूपायित हो रहा है ।

निशा

चन्दाअवधवलाओ फुरन्तदिअसरअणन्तरिअसोहाओ ।
सोम्मे सरअस्स उरे मुत्तावलिविब्भमं वहन्ति णिसाओ ।।[32]

कान्तिमान् दिवसमणि सूर्य की आभा से अभिभूत तथा चन्द्र ज्योत्स्ना से धवलित रातें रमणीय शरद् ऋतु के हृदय पर मोती की माला के समान जान पड़ती हैं ।

शरद् ऋतु में रात्रियाँ अत्यन्त स्वच्छ, निर्दोष एवं निर्मल हो जाती हैं । ज्योत्स्ना-आवेष्टित रात्रियों की आह्लादकता एवं रमणीयता सार्वप्रथित है ।

(iii) दिशा

सेतुबन्ध के अनेक स्थलों पर दिशाओं का रमणीय बिम्ब उपलब्ध होता है—

धुअमेहमहुअराओ घणसमआअड्ढिओणअविमुक्काओ ।
णहपाअवसाहाओ णिअट्ठाणं व पडिगआओ दिसाओ ।।[33]

शरद्काल में दिशाएँ वर्षाकालीन मेघ से घुलकर अत्यन्त स्वच्छ हो गयी हैं । मेघमण्डल से विमुक्त दिशाएँ अत्यन्त शुभ्र एवं सुन्दर प्रतीत हो रही हैं ।

(iv) आकाश

रइअरकेसरणिवहं सोहइ धवलब्भदलसहस्सपरिणअम् ।
महुमहदंसणजोग्गं पिआमहुप्पत्तिपङ्कअं व णहअलम् ।।[34]

शरद्ऋतु का आकाश भगवान् विष्णु की नाभि से निकले हुए उस अपार विस्तृत कमल के समान सुशोभित हो रहा है जिसमें ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, सूर्य की किरणें ही जिनमें केसर हैं तथा सफेद बादलों के सहस्रों खण्ड दल हैं ।

प्रस्तुत गाथा में शरद्-ऋतु के स्वच्छ एवं शुभ्र आकाश का सुन्दर बिम्ब साक्षात् रूप में रूपायित हो रहा है ।

(v) ग्रह-नक्षत्र

नक्षत्र-मण्डल

पव्वअसिहरुच्छित्तं धावइ जं जं जलं णहब्भुणहुत्तम ।
तं तं रअणेहिँ समं दीसइ णक्खत्तमण्डलं व पडन्तम् ।।[35]

आकाशोन्मुख सागर जल के साथ उछले हुए रत्न नक्षत्र-मण्डल की तरह प्रतीत हो रहे हैं । यहाँ पर रत्नों की उपमा नक्षत्र-मण्डल से दी गयी है । नक्षत्र-मण्डल की भास्वरता, प्रकाशरूपता आदि का बिम्ब स्पष्टतया रूपायित हो रहा है ।

अन्य स्थलों पर तारागण (९/३८, १०/३६, ५३) तारिकाएं (९/७०) चन्द्रमा (९/५०, ९/७५) बालचन्द्र (९/५४) आदि के बिम्ब उपलब्ध होते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(vi) जलीय बिम्ब

सेतुबन्ध में अनेक जलीय बिम्ब उपलब्ध होते हैं—

रसातलजल

विहलुव्वत्तअंगा छिण्णमहासुरसिरप्पअणगम्भीरा ।
मूलुत्थङ्घिअरअणा णेन्ति रसन्ता रसाअलजलुप्पीडा ॥[३६]

राक्षसों के कटे सिरों से परिपूर्ण अतएव भयंकर, उलटे हुए सर्पों से युक्त, मूलभाग से रत्नों को उच्छालते हुए तथा भीषण रव करते हुए रसातल जल बाणों से विदीर्ण पातालविवरों से बाहर निकल रहे हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में रसातल जल की भयंकरता स्पष्टरूपेण संवेद्य हो रही है ।

सागर

सेतुबन्ध में सागर के ही सर्वाधिक बिम्ब मिलते हैं । अनेक आश्वासों में सागर का सविस्तृत वर्णन किया गया है ।

गअणस्स व पडिबिम्बं धरणीअ व णिग्गमं दिसाण व णिअलम् ।
भुअणस्स व मणितडिमं पलअस्स व सावसेसजलविच्छड्डम् ॥[३७]

आकाश के प्रतिबिम्ब के समान, पृथ्वी के निकासद्वार के सदृश तथा दिशाएं जिसमें विलीन हो जाती हैं ऐसा सागर भुवन-मण्डल की नीलपरिखा के समान प्रलय के अवशेष जल-समूह के रूप में फैला है ।

प्रस्तुत गाथा में अतिविस्तृत सागर का बिम्ब प्रतिबिम्बत हो रहा है । सम्पूर्ण द्वितीय आश्वास के अतिरिक्त भी सेतुबन्ध में सागर का विस्तृत वर्णन मिलता है ।

नदी

सरिआ सरन्तपवहा अण्णोण्णमहाणइप्पवह पल्लत्था ।[३८]
लोहिअपङ्कक्खउरा वसन्तसेलवलिआ मुहुत्तं वूढा ॥

चंचल प्रवाहों वाली, क्षुब्ध होने के कारण मैली, पर्वतों के तिरछे होने के कारण टेढ़ी हुई नदियाँ एक दूसरे के प्रवाह में तिरछी होकर गिरती हुई क्षणभर के लिए बढ़ जाती हैं ।

प्रस्तुत गाथा में चंचल प्रवाह वाली मटमैली तथा पर्वतों से गिरती हुई नदियों का बिम्ब सहज संवेद्य है । नदी (६/७९, ८१), महानदी-स्रोत (६/८७) नदी प्रवाह (१/५१) स्रोत (६/३९) मेघ (६/६२) आदि के बिम्ब भी उपलब्ध होते हैं ।

(vii) पर्वत

सेतुबन्ध में अनेक पर्वतों का बिम्ब प्राप्त होता है ।

विन्ध्य

आलोएइ अ विज्झं धणुसंठाणस्स साअरस्स भरसहम् ।
संधिअणइसोत्तसरं अवहोवासघडिअं व जीआबन्धम् ॥[३९]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राम ने धनुषाकार समुद्र की तरंगों के आघातों को सहने वाले विन्ध्यपर्वत को प्रत्यंचा के समान देखा।

इस रूपक गर्भितोत्प्रेक्षा के माध्यम से विन्ध्यपर्वत का बिम्ब अत्यन्त सुन्दर बना है। सह्य (१/५६) मलय (१/५९) के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर षष्ठ, सप्तम एवं नवम आश्वासों में पर्वतों के अनेक रूपों एवं अवस्थाओं का बिम्ब लक्षित होता है।

(viii) कन्दरा

कुहरेसु णिवाअणिप्पअम्पसरिअअम्।[४०]

सुवेल की कन्दराओं में पवन के चलने से नदियों की जलधारा शान्त है।

प्रस्तुत संदर्भ में सुवेल पर्वत में विद्यमान अनेक कन्दराओं का बिम्ब रूपायित हो रहा है। अन्यत्र ६/९२, ९/३०, ३२, १०/५५ में भी कन्दराओं का उत्कृष्ट बिम्ब संलब्ध होता है।

(xi) वनस्पतिजगत्

इस वर्ग में वन, उद्यान, वृक्ष, लता, पुष्प एवं फल इत्यादि के बिम्बों को रखा गया है।

(१) वन—कुमुदवन

कुमुअवणाण तत्थ णहअन्दलग्गआणं
रविअरदंसणे वि ण हअं दलग्गआणम्॥[४१]

सुवेल पर्वत पर विद्यमान चन्द्रमण्डल के समीपस्थ कुमुद वनों के विकास में सूर्य किरणों के दर्शन से भी विघ्न नहीं होता है।

प्रस्तुत गाथा में कुमुदवन का अतिरमणीय बिम्ब प्रतिबिम्बित हो रहा है। कुमुदवन रात्रि में ही विकसित होते है लेकिन पर्वत पर सूर्य किरणों के पड़ने पर भी उनके विकास में कोई बाधा नहीं पड़ती है, क्योंकि कुमुदवन चन्द्रमण्डल के सन्निकट अवस्थित है। इसके अतिरिक्त मलयवन (५/६७) का भी रमणीय बिम्ब प्राप्त होता है।

(२) वृक्ष—सेतुबन्ध में विविध प्रकार के वृक्षों का बिम्ब उपलब्ध होता है—

मलयवृक्ष

णवपल्लवसच्छाआ जलओअरसिसिरमासअविइज्जन्ता।
वाअन्ति तक्खणुक्खअहरिहत्थुक्खित्तभेम्मला मलअदुमा॥[४२]

नवीन पल्लवों के कारण सुन्दर आभा वाले बादलों से बीच के शीतल पवन से विजित चन्दन-वृक्ष, वानरों के हाथों उखाड़कर फेंके जाने पर तत्क्षण ही सूख रहे हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में नवीन पल्लवों, सुगन्धित पवन से युक्त तथा वानरों के हाथों उखाड़ कर फेंकने से सूखते हुए मलयवृक्ष का बिम्ब रूपायित हो रहा है। सेतुबन्ध में अन्यत्र भी मलयवृक्ष के सुन्दर एवं सुवासित बिम्ब प्राप्त होते हैं—मलयवृक्ष (६/४३), (१४/२५) ९/४५ हरिचन्दन वृक्ष की छाया ९/८, आदि। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के वृक्षों का भी बिम्ब सेतुबन्ध में मिलता है—यथा वृक्ष ६।६२ उखड़े वृक्ष ७/४४ विषवृक्ष ९/४४ आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) लता

सेतुबन्ध के अनेक स्थलों पर सुन्दर एवं कोमल लताओं का बिम्ब परिलब्ध होता है।

रहसुम्मूलिअमहिहरभअविवलाअवणदेवआण लआणम्।[४२]

वेगपूर्वक पर्वतों के उखाड़े जाने के भय से वनलतामण्डपों से वनदेवियाँ भाग गई हैं।

प्रस्तुत गाथांश में वनलता का बिम्ब रूपायित हो रहा है। भयवशात् वनदेवियों के भाग जाने से लताओं से बने मण्डप शून्य पड़े हैं, उनकी शोभा समाप्तप्राय हो गयी है। लता का बिम्ब ६/६२ तथा ७/२५ में भी प्राप्त होता है।

(४) पुष्प

कमल— रअणच्छविहुव्वन्तं वलन्तसेसपिहुलप्फणविहुव्वन्तम्।
सपरिवड्ढिअकमलं कडअलआलग्गसूररहअवकमलम्॥[४३]

सुवेल पर्वत के सरोवरों में रत्नों की प्रभा से धोए जाते हुए कमल खिले हुए हैं जो शेष के विशाल फण के नतोन्नत होने से कम्पित हैं तथा उनके मध्यप्रदेश में सूर्य-रथ की धूल पड़ी हुई है।

उद्धृत गाथा में रत्नों की छाया से खिले कमलों का रमणीय बिम्ब लक्षित हो रहा है। कमल सूर्य के किरणों के संयोग से ही खिलते हैं लेकिन सुवेल पर्वत पर रत्नों की आभा इतनी प्रखर है कि उससे भी कमल विकसित होकर सरोवरों को सुशोभित करते हैं।

अन्य स्थलों पर कमल (१/७, १/३०, १/५२), कमलदल (१०/१६) कुमुद (१०/५०) का बिम्ब मिलता है।

(x) पशु-पक्षी जगत् के बिम्ब

पशु—सेतुबन्ध में दो प्रकार के पशुओं-स्थलीय एवं जलीय का बिम्ब उपलब्ध होता है।

गज

पुट्टइ गअउलं अणलिद्धकं दरेण।[४४]

उपरोक्त पंक्ति में भयाक्रांत हो बिना पानी पीये इधर-उधर भागते हुए हाथियों का बिम्ब रूपायित हो रहा है। पर्वतों के उखाड़े जाने के कारण पर्वतीय हाथी प्राणरक्षार्थ इधर-उधर भाग रहे है। अन्य स्थलों पर हाथी समूह ६/६१, कंदरा में हाथी ६/९२, भँवर में पड़ा गज-यूथ ७/५०, वनगज ८/३६, ९/८० आदि के बिम्ब मिलते हैं।

भैंसा

अत्थाअन्ति सरोसा सलिलदरत्थमिअसेलसिहरावडिआ।
एक्कावत्तवलन्ता धुवआतम्ललोअणा वणमहिसा॥[४५]

किंचित् पानी में डूबते पर्वतशिखर से गिरकर भँवर में चक्कर खाते हुए जंगली भैंसे क्रोध से लाल आँखों को इधर-उधर फेरते हुए डूब रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत गाथा में क्रुद्ध एवं डूबते हुए जंगली महिषों का बिम्ब रूपायित हो रहा है। अन्यत्र ९/५, ३५; ९/४१; ९/७६ में भी महिष के बिम्ब मिलते हैं।

सिंह

दाढाविभिण्णकुम्भा करिमअराण थिरहत्थकड्ढिज्जन्ता।
मोत्तागब्भिणसोणिअभरेन्तमुहकंदरा रसन्ति मइन्दा॥[४६]

अपने दाढ़ों से कुम्भस्थलों को फोड़ और अपनी मुखरूपी कन्दराओं को मुक्तामिश्रित रस से भर पहाड़ी सिंह समुद्री हाथियों के सूंडों से दृढ़तापूर्वक खींचे जाते हुए विवश होकर गरज रहे हैं।

यहाँ गरजते हुए सिंहों का बिम्ब प्रतिबिम्बित हो रहा है।

हरिण

भिण्णमिलिअं पि भिज्जइ पुणो वि एक्कक्कमावलोअणसुहिअम्।
सेलत्थमणणउण्णअतरङ्गहीरन्तकाअरं हरिणउलम्॥[४७]

डूबते हुए पर्वतों के कारण ऊँची—नीची तरंगों द्वारा हरण किए जाने से व्याकुल फिर भी एक दूसरे के अवलोकन से सुखित हरिण एक दूसरे से अलग होकर मिलते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं। यहाँ पर भीत हरिणों का बिम्ब रूपायित हो रहा है।

जलीय पशुओं में मकर (५/३७) करिमकर (५/५४) जलगज (५/५७) ग्राह (७/५४, ८/८ आदि का बिम्ब प्राप्त होता है।

पक्षी

हंस— चिरआलपडिणिउत्तं दिसासु घोलन्तकुमुअरअवल्लविअम्।
भमइ अलद्धासाअं कमलाअरदंसणूसुअं हंसउलम्॥[४८]

चिरकाल के बाद वापस लौटा, मन्द पवन से प्रेरित कुमुद की रज से धूसरित हंस समूह स्वाद की आशा-आकांक्षा से कमल-सरोवरों के दर्शन की उत्कंठा से घूमता है। यहाँ मानसरोवर से आए स्वाद के लिए उत्कण्ठित हंसों का बिम्ब प्ररूपित हो रहा है। हंसों की पंक्ति, उनकी मतवाली चाल तथा उनके हृदय में विद्यमान उत्कण्ठा के भाव एक साथ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

इसके अतिरिक्त सेतुबन्ध में पक्षी (६/८२) चामर (१३/६३) एवं गरुड (१४/५८) के बिम्ब उपलब्ध होते हैं।

(xi) तिर्यञ्च

सर्प— छिण्णविवइण्णभोआ कण्ठपडिट्ठिअजीविआगअरोसा।
दिट्ठीहि वाणणिवहे डहिअग मुअन्ति जीविआइँ भुअंगा॥[४९]

शरीर के कटकर बिखर जाने पर केवल फण मात्र में शेष प्राणों के कारण क्रुद्ध सर्प अपनी-अपनी आँखों की ज्वाला से बाण को जलाते हुए अपने प्राण छोड़ रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाणों से कटे किन्तु फण मात्र जिनका शेष बचा है ऐसे सर्पों का क्रुद्धदृष्टि का बिम्ब प्रतिरूपित हो रहा है।

सर्प-फण (५/३९) भुजंगश्वांस (५/४७) सर्प कुण्डली (६/४३) आदि का बिम्ब भी सेतुबन्ध में प्राप्य है।

मच्छली

दीसन्ति विद्दुमहणा पुट्ठिपडिट्ठिअपलोट्टमन्दरसिहरा।
आसाइआमअरसा वाणवढप्पहरमुच्छिआ तिमिमच्छा ॥[५०]

मन्दराचल को धारण करने से जिनकी पीठ पर रगड़ के चिह्न हो गए हैं वैसे तिमि-मत्स्य बाणों के आघात से मूर्च्छित हो रहे हैं।

यहाँ मूर्च्छित तिमि-मत्स्यों का बिम्ब रूपायित हो रहा है जिनके पृष्ठभाग पर मन्दराचल की रगड़ से उत्पन्न चिह्न भी विद्यमान हैं। मीनकुल ६/६५ नदीमत्स्य ७/३७ आदि का भी बिम्ब प्राप्त होता है।

भौंरा

दुमकुसुमभज्झणिग्गअसरपुङ्खालग्गणिज्जमाणमहुअरम्।[५१]

युद्ध के बाद निरापदस्थान में स्थित उभय पक्ष की सेनाओं ने विस्मयपूर्वक देखा कि वृक्षों के फूलों के मध्य भाग से निकलकर भ्रमर, बाणों की पूँछों में लगे हुए नीचे चले आ रहे हैं।

इन्द्रजित भयंकर युद्ध की तैयारी में मधुपान कर रहा था। थोड़ा-सा मधु उसके बाणों की पुङ्खों में भी लग गया जिससे आकर्षित होकर भौंरे वृक्ष के पुष्पों से निकलकर आ रहे थे।

(xii) लोक

विभिन्न लोकों का बिम्ब सेतुबन्ध में प्रयुक्त मिलता है।

पृथ्वी

जह जह संखोहिज्जइ तह तह कइदेहभरसहा होइ मही।[५२]

पर्वतों के उखाड़े जाने से क्रुद्ध नागराज के फण पर स्थित पृथ्वी ज्यों-ज्यों आंदोलित होती है त्यों-त्यों वानरों के शरीर के भार को सहन करने में असमर्थ होती जाती है।

संक्षुब्ध शेष के फणों पर कांपती पृथ्वी की असमर्थ का बिम्ब रूपायित हो रहा है।

पाताल

भीअणिसण्णजलअरं पलोट्टणिअअभर भिण्णवक्खमहिहरम्।
दीसइ विहिण्णसलिलं कुविअद्धाइअभुअगमं पाआलम् ॥[५३]

प्रस्तुत गाथा में पाताललोक का बिम्ब रूपायित हो रहा है। राम बाण से भीत जलचर पाताल में निश्चेष्ट पड़े हैं, पर्वत खण्डित होकर लोट रहे हैं, क्रुद्ध सर्प दौड़ रहें हैं तथा पहाड़ों के आघात से जिसकी जलराशि फट गयी है ऐसा पाताल साफ दिखाई दे रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहां पाताल लोक का भयंकर रूप दृग्गोचर होता है।

भुवनमण्डल

मज्झकरालाइ जहिं तिण्णि वि समअं णिरन्तरपहुत्ताइं।
थोरुण्णए हरिभुए बलआइ व भुअणमण्डलाइ ठिआइं॥[५४]

सुवेल के मध्य में समान रूप से बिना अन्तर के मिले हुए तीनों भूमण्डल त्रिविक्रम की स्थूल और उन्नत भुजाओं में तीन-वलय जैसे जान पड़ते हैं।

यहां पर तीनों भूमण्डल का बिम्ब स्पष्टतया रूपायित हो रहा है। यमलोक १५/५६ का सुन्दर बिम्ब भी उपलब्ध है।

(२) युद्ध से सम्बद्ध

युद्ध, अस्त्रशस्त्र, धनुष, बाण, आग्नेयास्त्र, कवच आदि का बिम्ब सेतुबन्ध के अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

सेना

अनेक स्थलों पर सेना का बिम्ब लक्षित होता है। द्वादश आश्वास में उभय सेनाओं का बिम्ब प्रतिलब्ध होता है। द्वादश आश्वास, गाथा ३२–४५ में वानर सैन्य तथा ४६–६७ तक राक्षस सैन्य का वर्णन मिलता है।

कवच (१२/५४–६२) बाण (१४/९–१०) शक्तिबाण (१५/४६) नागपाश (१४/१७–१८) ब्रह्मास्त्र (१५/३७) आदि का बिम्ब मिलता है।

त्रयोदश, चतुर्दश एवं पंचदश आश्वासों में विभिन्न प्रकार के युद्धों का वर्णन मिलता है।

(३) प्रकाश वर्ग

इस संवर्ग में सूर्य प्रकाश, चन्द्र प्रकाश, ज्योत्स्ना, तारागणों का प्रकाश, दीपक, रत्न एवं मणिप्रकाश के बिम्बों को सम्मिलित किया गया है।

प्रभा (१/२) ज्योत्स्ना (१/७) किरण (१/४०) मणिप्रकाश (६/७२) रत्नच्छाया (९/३४, ४६) चन्द्रकान्तमणि (९/७६) चन्द्रकिरणें (१०/४६) सूर्य प्रकाश (१३/५९) तथा दीपक का प्रकाश (१०/२३) आदि के बिम्ब उपलब्ध हैं।

(४) पेयद्रव्य

पेयद्रव्य में मदिरा का बिम्ब प्राप्त होता है। दो स्थानों पर मदिरा (८/५५), वारुणी (१०/८०) तथा एक स्थान पर मदिरापात्र (१२/१४) का बिम्ब मिलता है।

मदिरा

मइरं व साअर सलिलम्।[५५]

पहाड़ों से मथा जाता हुआ सागर का सुगन्धित जल ऐसा लग रहा है मानों मदिरा निकल रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहां पर उपमान के रूप में मदिरा का बिम्ब प्रतिफलित हो रहा है।

(५) पथ संवर्ग

इस संवर्ग में सेतुबन्ध में वर्णित विभिन्न प्रकार के मार्गों के बिम्बों को अनुस्यूत किया गया है।

वानरों का गतिपथ

भग्गदुमभङ्गभरिओ उक्खित्तविसट्टपडिअमहिहरविसमो।
पवआण उअहिलग्गो लक्खिज्जइ बिइअसंकमो व्व गइवहो॥[५६]

समुद्र से लगा हुआ वानरों का गति-पथ संक्षोभ के कारण टूटे वृक्षों के खण्डों से व्याप्त तथा उखाड़कर फैलाये हुए पर्वतों से उबड़-खाबड़ दूसरे सेतु के समान प्रतीत होता है।

प्रस्तुत गाथा में वानरों के गमनागमन के मार्ग का बिम्ब लक्षित हो रहा है जो उठाकर फैलाए गए पर्वतों से ऊँच-नीच होने से द्वितीय सेतु की तरह प्रतीत हो रहा है।

इसके अतिरिक्त पर्वतमार्ग (७/२२), पुलिन पथ (८/११), रविरथमार्ग (९/१०), देवगजों का गतिमार्ग (९/६१), सूर्य-अश्वों का मार्ग (९/८१), सूर्यमार्ग (९/८३), रविचन्द्र मार्ग (९/९२), भटों का गतिमार्ग (१३/११) आदि के बिम्ब भी प्राप्त होते हैं।

(६) देववर्ग—इस संवर्ग में विभिन्न देवों, विष्णु उनके अवतारों, लक्ष्मी, सिद्धपुरुष, किन्नर आदि को रखा गया है।

देव—सेतुबन्ध का कवि काव्यारंभ में ही विभिन्न देवों की स्तुति करता है। मधुमंथन (१/१), नृसिंह (१/२), शंकर (१/५–८) आदि का सुन्दर बिम्ब प्राप्त होता है। महाकाव्य की प्रथम गाथा में सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का तथा द्वितीय गाथा में भगवान् नृसिंह का रूपदर्शन होता है। शंकर के अट्टहास, ताण्डव नृत्य आदि का बिम्ब भी (१/५-८) सुन्दर रूप में लक्षित हो रहा है।

इन्द्रियों के आधार पर बिम्बों का वर्गीकरण

बिम्ब इन्द्रियों के ही विषय होते है, अतएव इन्द्रियों के आधार पर वर्गीकरण कर उनका विवेचन करना आवश्यक है। संक्षेप में, इन्द्रिय बिम्बों का विवेचन अधोविन्यस्त है—

बाह्यकरणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

(१) शब्द बिम्ब

शब्द बिम्ब वे हैं जिनका ग्रहण कर्णेन्द्रिय के द्वारा किया जाता है। ध्वनिबिम्ब और नादबिम्ब इसी के पर्याय हैं। शब्द एक ओर अर्थ की प्रतीति कराकर वस्तु अथवा भाव का बिम्ब मनश्चक्षुओं के जगाते हैं तो दूसरी ओर ध्वनि से भी अर्थ को मुखर करके आन्तरिक श्रवणों पर ध्वनिचित्र भी उतार देते हैं। इन्हें ही ध्वनि-बिम्ब या शब्दबिम्ब कहते हैं।

सेतुबन्ध में अनेक प्रकार के शब्द बिम्ब पाये जाते हैं। काव्यालाप का एक सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलहंस,णे कलरवो ठाइ ण संठाइ परिणअं निहिविरुअसु ।[७८]

शरद् ऋतु में कलहंसों की ध्वनि किसे मनमोहक नहीं लगती। परन्तु अब शिखियों की ध्वनि अच्छी नहीं गलती। यहाँ कलहंसों की ध्वनि का बिम्ब श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है।

इसके अतिरिक्त सेतुबन्ध में हास्य ध्वनि (४/६,११,१४) धनुषटंकार (५/३२, १२/३७) धरणिधर निर्घोष (६/४४), वानरों की कलरवध्वनि (१२/३८), सिंह गर्जन (९/३०,७२), पर्वत गर्जन (१२/३९), सुरवधुओं का आक्रन्दन (१४/३०), जय शब्द (११/७), साधु-साधु ध्वनि (१३/१९), हुंकार (१५/१) और अट्टहास (१५/२) का सुन्दर बिम्ब प्राप्त होता है।

स्पर्श बिम्ब

स्पर्श बिम्बों में शीतलता एवं उष्णता, कोमलता एवं कठोरता, मसृणता एवं रूक्षता आदि का अन्तर्भाव रहता है। शृंगारिक क्रियाओं में स्पर्श बिम्ब की सम्भावना अधिक होती ये बिम्ब त्वगेन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। कवि प्रवरसेन की स्पर्श संवेदना अत्यन्त व्यापक है।

शीतलता के साथ कवि के मन में एक सुखद एवं शांतिप्रद अनुभूति जुड़ी हुई होती है। ज्योत्स्ना की शीतलता एवं आह्लादकता अत्यन्त आनन्ददायक है—

जोण्हा कल्लोला विअ ससिधवलासु रक्षणीसु हसिअच्छेआ ।[७९]

प्रस्तुत गाथा में ज्योत्स्ना का बिम्ब ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त सेतुबन्ध में प्रभातकालीन पवन (५/११), उष्मा (९।३५), वनाग्नि की उष्मा (९/३७) एवं संभोग (१०/६२) आदि का बिम्ब प्राप्त होता है।

रूप-बिम्ब

नेत्रेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों में सर्वप्रमुख है। नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य विषयरूप बिम्ब, दृश्य बिम्ब या चाक्षुष बिम्ब कहे जाते हैं। सेतुबन्ध में बहुशः स्थलों पर रूप-बिम्ब की प्राप्ति होती है। प्रभा (१/२), गर्दन (१/२), ज्योत्स्ना (१/७), आकाश (१/१७), चन्द्र (१/२५), हंस (१/२६), अन्धकार (३/३४), सेतु (३/५९), वक्ष (४/५), धूम (५/१९) आदि अनेक रूप बिम्ब हैं। लगभग सभी गाथाओं में रूप बिम्बों की स्थिति है।

स्वाद बिम्ब

जिह्वेन्द्रिय-ग्राह्य विषय को स्वाद बिम्ब या रस बिम्ब कहते हैं। खारापन, मधुरता, तिक्तता आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। सेतुबन्ध में कतिपय स्थलों पर इस बिम्ब की प्राप्ति होती है। मधुर जल (९/३३), लवण रस (९/४१) आदि का स्वाद बिम्ब उपलब्ध होता है।

गन्ध बिम्ब

घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य विषयों को गन्ध बिम्ब कहते हैं। सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। सेतुबन्ध में अनेक स्थलों पर गन्धबिम्ब लब्ध है। यथा कदम्ब गन्ध (१२/२०), सप्तच्छद गन्ध (१/२३), गजमदगन्ध (१३/८७), परिमल गन्ध (१५/४८), वकुलवन का गन्ध (९/४०) और हरिताल का गन्ध (९/४१) आदि। शरद् ऋतु में सप्तच्छद का गन्ध किसे मनमोहक नहीं लगता—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्तच्छआणं गन्धो लग्गइ हिअए खल्लइ कलम्बामोओ ॥[६०]

यहाँ पर सप्तच्छद एवं कदम्ब का गन्ध घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य है।

अन्तःकरणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

भाव बिम्ब और प्रज्ञा बिम्ब इस संवर्ग के अन्तर्गत आते हैं—

(१) **भावबिम्ब**—हृदय के विभिन्न भावों यथा हर्ष, उत्साह, शोकादि का ग्रहण भाव-बिम्ब के अन्तर्गत होता है। सेतुबन्ध के अनेक स्थलों पर इस संवर्ग के बिम्ब उपलब्ध होते हैं—

धैर्य (११/५), अनुराग (१०/८२), हर्ष (११/४), उत्साह (३/१७), प्रसन्नता (१०/७०), विषाद (११/४), लज्जा (१०/७३), विरह (५/१), क्रोध (५/२, १०/३-४), संशय (५/१८), काम (१०/६, ११/१०), रोष (९/३६) आदि हृदयगत भावनाओं के बिम्ब प्राप्त हैं।

(२) **प्रज्ञा बिम्ब**—बुद्धिन्द्रिय-ग्राह्य विषयों को प्रज्ञा बिम्ब कहते हैं। यश, मान, ज्ञान, कल्याण आदि का ग्रहण प्रज्ञा बिम्ब के अन्तर्गत आते हैं। सेतुबन्ध के अनेक स्थलों पर यशादि के बिम्ब चित्रित हैं। कीर्ति (१/४८), आज्ञा (४/३५, ६/१९), यश (६/७५), नियम (८/२५), मन्त्र (१४/५६), चरित्र (४/३०), कल्पना (११/५०) आदि के बिम्ब अत्यन्त आह्लादक हैं।

इस प्रकार सेतुबन्ध में सहस्रों बिम्बों का चित्रण हुआ है जिससे काव्य की रमणीयता और चारुता संवर्धित होती है।

पाद-टिप्पणी

(१) शार्टर आक्सफोर्ड डिक्सनरी
(२) चैम्बर्स ट्वेन्टिएथ डिक्सनरी
(३) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—१२/१०३
(४) द पोयटिक इमेज, पृ० १९
(५) जार्ज ह्वैली पोयटिक प्रोसेस, पृ० १४५
(६) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ६९
(७) शेक्सपियर इमेजरी एण्ड ह्वाट इट टेल्स अस, पृ० ९
(८) काव्य बिम्ब, पृ० ५
(९) सेतुबन्ध १/१५
(१०) तत्रैव १/३५
(११) तत्रैव १/३८
(१२) ,, १/४३
(१३) ,, ४/३९
(१४) ,, ५/४२
(१५) ,, १४/३३-३२
(१६) ,, १४/२५
(१७) ,, १५/५५
(१८) ,, १५/५६-६१
(१९) ,, ११/५३
(२०) ,, ११/८५
(२१) ,, १५/७१
(२२) ,, २/२४
(२३) ,, १/३५
(२४) ,, १/३८
(२५) ,, १/१६
(२६) ,, १/१७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२७) „ ५/१२	(२८) „ ९/६९
(२९) „ ९/६९	(३०) „ १/२०
(३१) „ १/३४	(३२) „ १/२७
(३३) „ १/१९	(३४) „ १/१७
(३५) „ ७/९	(३६) „ ५/६०
(३७) „ २/२	(३८) „ ६/५०
(३९) „ १/५४	(४०) „ ९/२२
(४१) „ ९/८८	(४२) „ ६/५२
(४३) „ ९/३४	(४४) „ ६/५६
(४५) „ ७/२३	(४६) „ ७/२५
(४७) „ ४/२४	(४८) „ १/२६
(४९) „ ५/५२	(५०) „ ५/४६
(५१) „ १३/९३	(५२) „ ६/६९
(५३) „ ७/५३	(५४) „ ९/९१
(५५) „ १८/५५	(५६) „ ६/९५
(५७) „ १/१०	(५८) „ १/२३
(५९) „ १/७	(६०) „ १/२३

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थङ्करों के रूप में बिहार की जैनधर्म को देन

प्रो० रामप्रवेश प्रसाद+

जैनधर्म चौबीस तीर्थङ्करों की परम्परा में विश्वास करता है। ये सभी तीर्थङ्कर इस अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हुए। दो तीर्थङ्करों के जन्म लेने के बीच की अवधि क्या थी? इसके बारे में ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। पर संभवतः इतना निश्चित है कि वह अवधि समान नहीं रही है। ऐसी मान्यता है कि जैनधर्म के तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म चौबीसवें और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुआ था। जैनधर्म के आदि तीर्थङ्कर ऋषभनाथ का जन्म-स्थान कोशल जनपद था और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का जन्म-स्थान वज्जी जनपद में वैशाली। बिहार की धरती पर जन्म ग्रहणकर जैनधर्म का प्रतिपादन करनेवाले महावीर अकेले तीर्थङ्कर नहीं थे, बल्कि इनके पूर्व छः और तीर्थङ्कर बिहार की धरती पर अवतरित हो चुके थे। बिहार की पवित्र धरती पर अवतरित तीर्थङ्करों पर प्रकाश डालने के पूर्व जैनधर्म के सभी तीर्थङ्करों का उनके जन्म-स्थान के साथ उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

क्रम संख्या	तीर्थङ्करों के नाम	जन्म-स्थान
१.	ऋषभनाथ	कोशल
२.	अजितनाथ	अयोध्या
३.	संभवनाथ	श्रावस्ती
४.	अभिनन्दन	विनीता
५.	सुमतिनाथ	विनीता
६.	पद्मप्रभ या सुप्रभ	कौशाम्बी
७.	सुपार्श्व	वाराणसी
८.	चन्द्रप्रभ	काशी के चन्द्रावती गाँव में
९.	पुष्पदन्त या सुविधि	अंग के काकन्दी गाँव में
१०.	शीतलनाथ	मगध के भद्दिलपुर गाँव में
११.	श्रेयांस	सिंहपुर (वाराणसी)
१२.	वासुपूज्य	चम्पा
१३.	विमलनाथ	काम्पिल्यपुर
१४.	अनन्त	अयोध्या
१५.	धर्मनाथ	रत्नपुर

+, ला० सि० त्यागी ग्रामीण महाविद्यालय, ओंगारिधाम (नालन्दा)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६.	शान्तिनाथ	हस्तिनापुर
१७.	कुन्थुनाथ	हस्तिनापुर
१८.	अरनाथ	हस्तिनापुर
१९.	मल्लि	मिथिला
२०.	सुव्रतनाथ	राजगृह
२१.	नमिनाथ	मिथिला
२२.	अरिष्टनेमि	शौरीपुर
२३.	पार्श्वनाथ	वाराणसी
२४.	महावीर	वैशाली

इन चौबीस तीर्थङ्करों में चार—आदि तीर्थंङ्कर ऋषभनाथ, उन्नीसवें तीर्थंङ्कर मल्लि, तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें तीर्थंङ्कर महावीर को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस तालिका से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म के आदि तीर्थङ्कर ऋषभनाथ का जन्म पच्छिम में कोशल जनपद में हुआ और अन्तिम तीर्थंङ्कर महावीर का जन्म पूर्व के वज्जी जनपद में। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि तीर्थङ्करों का जन्म लेना पच्छिमी भारत के कोशल जनपद से प्रारम्भ होकर पूर्वी भारत के वज्जी जनपद में समाप्त हुआ। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि जैनधर्म का उद्भव तो पच्छिमी भारत में हुआ, पर इसे फलने-फूलने का अवसर पूर्वी भारत में मिला।

अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के अतिरिक्त जिन छः तीर्थंङ्करों को जन्म देने का श्रेय बिहार को है, वे हैं—(१) नवें तीर्थंङ्कर पुष्पदन्त या सुविधि, (२) दसवें तीर्थंङ्कर शीतलनाथ, (३) बारहवें तीर्थंङ्कर वासुपूज्य, (४) उन्नीसवें तीर्थंङ्कर मल्लि, (५) बीसवें तीर्थंङ्कर सुव्रतनाथ और (६) इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ। इनका संक्षेप में परिचय निम्न प्रकार है :

१. पुष्पदन्त या सुविधिनाथ

बिहार की पावन धरती पर उत्पन्न होने वाले तीर्थङ्करों में पुष्पदन्त प्रथम हैं। जैन तीर्थङ्करों में इनका क्रम नौवाँ है। ये काकन्दी नगरी के राजा सुग्रीव की रानी रामा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। बिहार में मुंगेर जिले के काकन गाँव को प्राचीन काकन्दी बताया गया है। पुष्पदन्त की ऊँचाई १०० धनुष थी और शरीर का वर्ण चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति कान्तियुक्त था। काकन्दी नगरी के बाहर मल्लिका वृक्ष के नीचे इन्होंने केवल ज्ञान का साक्षात्कार किया था तथा दो लाख पूर्व वर्ष आयु के व्यतीत होने पर सम्मेदशिखर पर इन्होंने मोक्ष की प्राप्ति की थी। इनके संघ में दो लाख श्रमण एवं तीन लाख श्रमणियाँ थीं। वराह इनके प्रमुख शिष्य थे और वारुणी प्रमुख शिष्या।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में राजा महापद्म एवं देव अहमिन्द्र के रूप में इनके दो पूर्व भवों का उल्लेख हुआ है। अन्य परम्पराओं में इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. शीतलनाथ

बिहार में जन्म ग्रहण करनेवाले दूसरे तीर्थङ्कर शीतलनाथ हैं। जैन तीर्थङ्करों में इनका स्थान दसवाँ है। ये बिहार के हजारीबाग जिले के भद्दिलपुर निवासी दृढ़रथ और उनकी पत्नी नन्दा की सन्तान थे। इनकी ऊँचाई १० धनुष थी। शरीर का वर्ण स्वर्णिम था। जीवन के अन्तिम भाग में इन्होंने मुनि-जीवन ग्रहण कर लगातार तीन महीने तक घोर तपस्या के उपरान्त पीपल अथवा पिलक्ष वृक्ष के नीचे इन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इनके संघ में एक लाख श्रमण तथा एक लाख बीस हजार श्रमणियाँ थीं। आनन्द इनके प्रमुख शिष्य थे और सुलसा प्रमुख शिष्या। इन्हें भी सम्मेदशिखर पर मोक्ष प्राप्त हुआ था।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में पद्मोत्तर राजा और प्राणतर स्वर्ग में बीस सागर की स्थितिवाले देव के रूप में इनके पूर्व में जन्मधारण करने का उल्लेख है। अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख नहीं है।

३. वासुपूज्य

बिहार की भूमि पर अवतार लेनेवाले तीसरे तीर्थङ्कर वासुपूज्य हैं। तीर्थङ्करों में इनका स्थान बारहवाँ है। इनका जन्म बिहार के चम्पा में हुआ था। इनके पिता वसुपूज्य और माता जया थीं। इनके शरीर की ऊँचाउ ७० धनुष और शरीर का वर्ण लाल कहा गया है। इन्होंने पाटल वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इसकी शिष्य सम्पदा बहत्तर हजार श्रमण एवं तीन हजार श्रमणियों की थी। इनके प्रधान शिष्य सुधम्म और शिष्या धरणी थी। आगम ग्रन्थों के अनुसार इनका मोक्ष चम्पा में ही हुआ था।

पदमोत्तर राजा और ऋद्धिमान देव के रूप में इनके दो पूर्व भवों का उल्लेख 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में उपलब्ध है। अन्य परम्पराओं में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

४. मल्लि

जैनधर्म के उन्नीसवें तीर्थङ्कर की जन्मभूमि विदेह की राजधानी मिथिला थी। ये मिथिला के राजा कुम्भ और उनकी रानी प्रभावती की सन्तान थीं। इनके शरीर की ऊँचाई २५ धनुष और शरीर का रंग साँवला था। श्वेताम्बर जैन आगम में महावीर के साथ मल्लि का उल्लेख भी विस्तार से हुआ है। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार मल्लि के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर साकेत के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पा के राजा चन्द्रछाग, कुणाल के राजा रुक्मि, वाराणसी के राजा शंख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु और कम्पिलपुर के राजा जितशत्रु इनपर अनुरक्त होकर विवाह के लिए मिथिला आ धमके। किन्तु मल्लि ने अपने चातुर्य से इन सभी राजाओं को समझाकर वैरागोन्मुख कर दिया और सभी ने मल्लि के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के दिन ही मल्लि ने केवलज्ञान का साक्षात्कार कर लिया। मल्लि की शिष्य सम्पदा में चालीस हजार श्रमण, पचास हजार श्रमणियाँ, एक लाख चौरासी हजार श्रावक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाएँ थीं। इनके श्रमण-प्रमुख शिष्य इन्द्र थे। श्रमणी-प्रमुख शिष्या बन्धुमती थीं। मल्लि ने सम्मेदशिखर पर मोक्ष प्राप्त किया था।

महाकाल और राजा अहमिन्द्र देव के रूप में इनके दो पूर्वभवों का उल्लेख 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित' में हुआ है।

मल्लि पुरुष थे अथवा महिला—इस बिन्दु पर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद है। जैन परम्परा के अनुसार साधारणतया तीर्थङ्कर को पुरुष योनि में ही जन्म लेना चाहिए। किन्तु श्वेताम्बर आगम साहित्य में इस बात का उल्लेख है कि इस कालचक्र में घटनेवाली दस आश्चर्यजनक घटनाओं में महावीर के गर्भ का स्थानान्तरण एवं मल्लि का स्त्री-रूप में तीर्थङ्कर होना भी सम्मिलित है। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा मल्लि को पुरुष तीर्थङ्कर के रूप में ही स्वीकारती है।

५. सुव्रत

जैनधर्म के बीसवें तीर्थङ्कर सुव्रत का जन्म बिहार की पावन भूमि राजगृह में हुआ था। इनके पिता का नाम सुमित्र एवं माता का नाम पद्मावती था। इनके शरीर की ऊँचाई २० धनुष और वर्ण गहरा नीला था। जीवन के अन्तिम समय में कठोर तप के बल पर चम्पक वृक्ष के नीचे इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया था। तीस हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने के उपरान्त सम्मेदशिखर पर इन्होंने मोक्ष की प्राप्ति की थी। इनके संघ में तीस हजार श्रमण एवं पचास हजार श्रमणियाँ थीं। कुम्भ इनके प्रधान शिष्य एवं पुष्पवती प्रधान शिष्या थीं।

सुरश्रेष्ठ राजा और अहमिन्द्र देव रूप में इनके दो पूर्वभवों का उल्लेख 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' में उपलब्ध है। अन्य परम्पराओं में इनका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

६. नमिनाथ

जैनों के इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ का जन्म मिथिला के राजपरिवार में हुआ था। मिथिला के राजा विजय इनके पिता थे और रानी वप्रा माता। इनके शरीर की ऊँचाई पन्द्रह धनुष और वर्ण कांचन था। इन्होंने कठोर तप द्वारा वकुल वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था। दस हजार वर्ष की आयु पूरी होने पर इन्हें सम्मेदशिखर पर मोक्ष की प्राप्ति हुई। इनकी शिष्य सम्पदा में बीस हजार श्रमण एवं एकतालिस हजार श्रमणियाँ थीं। शुभ इनके प्रमुख शिष्य थे एवं अमला प्रमुख शिष्या।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में राजा सिद्धार्थ और तैंतीस सागर की आयुवाले अपराजित विमान के देव के रूप में इनके दो पूर्वभवों का विवरण मिलता है। ब्राह्मण परम्परा में मिथिला के राजा के रूप में तथा बौद्ध परम्परा में नमि नामक प्रत्येक बुद्ध के रूप में एक नमि का उल्लेख उपलब्ध है।

७. महावीर

जैनधर्म के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का जन्म बिहार की पावन धरती पर ही हुआ था। इनका जन्म-स्थान वैशाली के कुण्डपुर (वासुकुण्ड) नामक ग्राम को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना गया है। इनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता रानी त्रिशला थीं। महावीर के शरीर की ऊँचाई सात हाथ तथा शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान कान्तियुक्त था। महावीर का घरेलू नाम वर्द्धमान था। वर्द्धमान ने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण कर बारह वर्ष छः माह तक लगातार कठिन तपस्या के उपरान्त बयालिस वर्ष की अवस्था में ऋजुपालिका नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त किया था। तदुपरान्त तीस वर्षों तक अपना धर्म-प्रचार करते हुए बहत्तर वर्ष की आयु में पावा में कार्तिक माह की अमावस्या के दिन मोक्ष प्राप्त किया। इनकी शिष्य सम्पदा में चौदह हजार श्रमण तथा तीन हजार छः सौ श्रमणियाँ थीं।

महावीर के जीवन की कई घटनाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर सर्वप्रथम ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आये थे, जिसे इन्द्र द्वारा क्षत्रियानी त्रिशला के गर्भ में प्रतिस्थापित किया गया था। दिगम्बर सम्प्रदाय इसमें विश्वास नहीं करता है। इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार महावीर का विवाह यशोदा से हुआ था, जिससे प्रियदर्शना नामक एक कन्या भी उन्हें उत्पन्न हुई थी।

बिहार की पावन भूमि पर उत्पन्न तीर्थंङ्करों के इस विवरण के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि लगभग एक तिहाई तीर्थंङ्करों को जन्म देने का श्रेय अकेले बिहार को प्राप्त है। इनमें दो महत्त्वपूर्ण तीर्थङ्कर—मल्लि और महावीर भी सम्मिलित हैं। महावीर केवल महत्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि वे सभी तीर्थङ्करों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वह इसलिए नहीं कि वे ऐतिहासिक हैं, बल्कि इसलिए कि जैनधर्म हर दृष्टि से महावीर का धर्म है, निगाण्ठणात पुत्र का धर्म है।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिहार की जैन गुफायें

अजयकुमार सिंहा*

बिहार प्रान्त जैन धर्म एवं संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। जैन कला के नमूने-चाहे वह मूर्ति के रूप में हों अथवा गुफा के रूप में—इसी प्रान्त में सर्वप्रथम तराशे गये। जैन धर्मावलम्बियों के बीच ऐसी धारणा प्रचलित है कि बिहार प्रदेश की पावन धरा पर तीर्थंकरों ने कुल छियालिस कल्याणक मनाये जो किसी अन्य प्रदेश की तुलना में सर्वाधिक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरातन काल से ही बिहार प्रदेश जैन धर्म, कला एवं संस्कृति का उद्गम स्थल रहा है।

मौर्य काल (लगभग ३२३-१८७ ई० पू०) के प्रथम चरण में भवन निर्माण में लकड़ियों का प्रयोग किया जाता था। पाटलिपुत्र के उत्खनन[3] ने इस तथ्य को पुष्ट भी किया है परन्तु भारत पर युनानी आक्रमण ने स्थापत्य कला के इतिहास में एक नया अध्याय पाषाण भवनों के निर्माण की शुरूआत करके खोला। निस्सन्देह यह कला सुदूर पश्चिम से भारत में आयी। इसका प्रथम प्रयोग सम्राट अशोक के समय में हुआ। बड़े-बड़े भवन पत्थरों को तराश-तराशकर बनाये गये। इतना ही नहीं, गया जिले के बराबर[४] एवं नागार्जुनी[५] पहाड़ियों (पूर्व रेलवे के बेलागंज स्टेशन से १६ किलोमीटर पूर्व में स्थित कुल सात गुफायें अत्यन्त ही कठोर ग्रेनाईट पत्थर को काट-काट कर बनायी गयीं। यह जैन धर्म के लिए अत्यन्त ही गौरव की बात है कि उपर्युक्त गुफायें जैन साधकों के निमित्त सम्राट अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ ने अपार राजकीय मुद्रा व्यय करके बनवायी। मानव निर्मित ये गुफायें जैन-धर्म के लिए ही नहीं वरन् समस्त भारत के लिये अपने आप में अनूठा एवं गुफा-वास्तुकला में सर्वप्रथम प्रयोग है। इस पाषाण स्थापत्य और शिल्प-कला के उन्नत उदाहरण को देखकर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। पुरातात्विक उत्खननों से यह स्पष्ट झलकता है कि मौर्य-काल के पहले भवन-निर्माण में लकड़ी का व्यवहार बड़े पैमाने पर होता था। इसका सहज कारण इस प्रदेश में लकड़ी की प्रचुरता हो सकती है। जो भी हो, इस युग में लकड़ी से प्रस्तर का माध्यम लेकर कारीगरों ने कमाल कर दिया।

समस्त भारतवर्ष में प्राचीन काल में प्रायः १२०० गुफाएँ[६] निर्मित की गई थी। इनमें लगभग दो सौ गुफाएँ जैन-धर्म से सम्बन्धित हैं। इन सभी गुफाओं के सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि मौर्यकालीन बराबर एवं नागार्जुनी पर्वत की गुफाएँ सर्वप्रथम निर्मित हुई हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है।[७] यद्यपि सम्राट अशोक का साम्राज्य विस्तृत था, उसके प्रस्तर अभिलेख भारत की सीमाओं से बाहर भी मिले हैं, पर अन्य स्थानों पर समकालीन गुफाएँ नहीं मिलती

---

*. पुरातत्व निदेशालय, बिहार, नया सचिवालय, पटना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। बराबर एवं नागार्जुनी पर्वत मगध की प्राचीन राजधानी से समीप है, इसीलिए प्रयोग स्वरूप इस महत्वपूर्ण कार्य को अशोक ने अपनी सीधी देख-रेख में करवाया।

सम्राट अशोक ने बराबर पर्वत पर चार गुफाओं-कर्नकोपर, सुदामा, लोमश ऋषि तथा विश्वझोपड़ी को कठोर काले ग्रेनाइट पत्थर में खुदवाया।[८] इस पर्वत का प्राचीन नाम खलतिक पर्वत[९] है। गया से पटना जाने वाली रेलवे पर बेला स्टेशन से लगभग आठ मील पूर्व यह स्थित है। कहीं तो एक गुफा में दो कोष्ठ हैं और कहीं एक ही दीर्घ प्रकोष्ठ। इन गुफाओं में अशोक कालीन बज्रलेप की पालिश दिखाई पड़ती है।

सुदामा गुफा इन गुफाओं में सबसे पुराना है। इसके प्रवेश द्वार के पूर्वी दीवार पर मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख उत्कीर्ण है जिससे पता चलता है कि यह गुफा अशोक के राज्यकाल के बारहवें वर्ष में (लगभग २५२ बी० सी०)[१०] में आजीविक साधुओं के निमित्त निर्मित कराई गई। इस गुफा का नाम इस अभिलेख में निगोह-कुभा अर्थात् बटवृक्ष गुफा अंकित है। मूल अभिलेख इस प्रकार है—

लाजिना पियदसिना दुवाइस वसाभिसितेना इयं निगोह कुभा विना आजीविकेहि।

सुदामा गुफा की बनावट देहात की झोपड़ी के सदृश है, जिसका ऊपरी भाग आधी गोलाई लेकर बनाया जाता है और दो किनारों पर बांस के खम्भे सहारा के लिए जमीन में स्थिर किये जाते हैं। इसी दीवार में लम्बवत कटान है, जो बांस के खंभों की याद दिलाती हैं। उसी ग्रामीण स्थापत्य को पत्थर में खड़ा किया गया है। इसके मुख्य द्वार की स्थापत्य कला पर मिश्र की कला का प्रभाव है। इसके अन्दर के गोलाकार कमरे का वृत्ताकार माप लगभग १९ फीट है, जबकि बाहर के कमरे का ३२ फीट १ इंच लम्बाई एवं १९ फीट ६ इंच चौड़ाई है। इस गुफा में भारत की सबसे पुरानी चित्रकारी भी है।[११] यह चित्रकारी सफेद रंग से चमकीले दीवारों पर की गई है। इसी गुफा से सटे प्रसिद्ध लोमश ऋषि गुफा के मुख्य द्वार पर उत्कीर्ण हाथियों के समूह का अंकन विश्वविख्यात है। यह गुफा भी सम्भवतः आजीविकों के निमित्त ही सम्राट अशोक ने निर्मित कराया था। यदि सुदामा गुफा एवं लोमश ऋषि गुफा के दो कमरों को मिला दिया जाय तथा बीच की दीवार एवं द्वार को हटा दिया जाय तो पश्चिम भारत के अर्धवृत्ताकार चैत्य का रूप स्पष्ट हो जाता है।[१२]

इन गुफाओं से लगभग एक हजार गज पूर्व में विश्वझोपड़ी गुफा[१३] अवस्थित है। इसका मुख्य द्वार दक्षिण की ओर है। सुदामा गुफा की तरह यह भी दो कमरों का है। इसकी बाहरी कक्ष की माप १४″ × ८४″ है। जबकि अन्दर का वृत्ताकार कमरा लगभग ११ फीट का है। बाहर का कमरा चमकदार है। अन्दर का कमरा अधूरा सा है। इसके मुख्य द्वार की दाहिनी दीवार पर एक अशोककालीन अभिलेख उत्कीर्ण है, जिससे पता चलता है इसे भी उसने अपने राज्यकाल के बारहवें वर्ष में आजीविक साधुओं के लिए निर्माण करवाया था। अभिलेख में इस पर्वत का नाम खालतिक उत्कीर्ण है[८]—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाजिना पियदसिना दुवाडसवसाभिसितेना इयं
कुभा खलतिक पवतसि दिना आजीविकेहि ।

चौथी गुफा कर्नकोपर[15] है । इसका मुख्यद्वार उत्तर की ओर है । इसमें मात्र एक ही कक्ष है, जिसका माप साढ़े तैंतीस फीट लम्बाई एवं चौदह फीट चौड़ाई है । इसके पश्चिमी दीवार के पास एक आयताकार लगभग डेढ़ फीट ऊँचा प्लेटफार्म बना है, जिसे कुछ विद्वानों ने मूर्त्ति स्थापित करने के निमित्त बनाया हुआ बताते हैं । परन्तु लेखक का मत है कि इस पर आजीविक संघ के प्रमुख बैठ कर प्रवचन देते होंगे । इस प्लेटफार्म पर चमकदार पालिश नहीं है । स्पष्ट है कि जब जैन-धर्म कठिन साधना एवं सांसारिक सुखों को त्यागने का मार्ग प्रशस्त करता है तब उसके मार्गदर्शक (जैन मुनिगण) चमकदार चिकने आसन को ग्रहण कैसे कर सकते थे ? इसके मुख्य द्वार के दाहिने ओर की दीवाल पर एक अशोककालीन अभिलेख[16] उत्कीर्ण है । इससे ज्ञात होता है कि इस गुफा (अभिलेख में सुपिया गुफा अंकित) का निर्माण सम्राट अशोक के राज्यकाल के उन्नीसवें वर्ष में किया गया था ।

बराबर पहाड़ से सटे नागार्जुनी[17] नामक पर्वत है । यह पर्वत भी ग्रेनाइट पत्थरों का है । इस पहाड़ी का गुफा—निर्माण के निमित्त चयन सम्राट अशोक के पौत्र दशरथ ने किया । यहाँ पर अवस्थित तीन प्रस्तर गुफाएँ—गोपिका, वहिजक एवं वडलहिक-बराबर की गुफाओं की भाँति चमकदार पालिशयुक्त है । गोपिका गुफा[18] सबसे बड़ी लगभग साढ़े छियालिस फीट लम्बी तथा सवा उन्नीस फीट चौड़ी है । इसकी दीवार दोनों ओर लगभग साढ़े छः फीट ऊँची है जबकि मध्य में यह लगभग साढ़े दस फीट ऊँची है । इसमें जो चमकदार पालिश है, वह बराबर की गुफाओं की चमकदार पालिश से अति निम्नस्तर का है । इस गुफा की लम्बाई एवं चौड़ाई इस बात को बताती है कि यह आजीविको के निवास स्थल के रूप में प्रयोग की जाती होगी । इसका मुख्य द्वार दक्षिण मुख का है, जो गुफा के बिल्कुल मध्य में अवस्थित है । लगभग साठ फीट ऊँचाई पर निर्मित इस गुफा का निर्माण मौर्य राजा दशरथ के सिंहासनारूढ़ होने के वर्ष अर्थात् लगमग २१४ ई० पू० में हुआ था । अभिलेख में इसे गोपिका वुभा अंकित किया गया है ।[19]

दूसरी गुफा का नाम वहिजक[20] है । छोटे आकार की इस गुफा का माप लगभग पौने सत्रह फीट लम्बा तथा ग्यारह फीट चौड़ा है । इसके बाहर में लगभग छः फीट का चतुर्भुजाकार ओसारा है । इसमें चमकदार पालिश नहीं की जा सकी है । इसके बगल में वडलहिक[21] या वेदथिक नामक गुफा है । यह लगभग साढ़े सोलह फीट लम्बी है । इसका मुख्य द्वार भी अन्य गुफाओं की भाँति मिश्र की स्थापत्य कला पर आधारित है । इसमें बेहतरीन चमकदार पालिश की गयी है । मौर्य राजा दशरथ का एक अभिलेख इस गुफा में उत्कीर्ण है, जिसका मुख्य अंश निम्न प्रकार हैं—

वडथिका वुभा दषलथेना देवानं आनंतलियं ।
अभिषेतना (आं० जी०) विकेहि.........॥[22]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त वर्णित गुफायें जैन धर्म के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखती है। वस्तुतः जैन धर्म के अञ्चल में ही जैन कला पनपी एवं पुष्ट हुई। इसका उद्देश्य जीवन को ऊँचा उठाना रहा। जैन धर्म के प्रसिद्ध मुनि मंखाति गोशाल[२३] जो चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के परम शिष्य थे, कुछ सैद्धान्तिक मतभेद के कारण जैन धर्म से पृथक् हो गये और इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय निकाल लिया। मंखलि गोशाला का यही सम्प्रदाय आजीविक सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। सम्राट् अशोक जो धार्मिक सहिष्णुता का प्रथम भारतीय स्तम्भ था, इस नवगठित आजीविक सम्प्रदाय का भी प्रश्रयदाता बना एवं असंख्य राजकीय मुद्राओं को व्यय करके कठोर पत्थर में इन गुफाओं का निर्माण कराया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आजीविक सम्प्रदाय जैन धर्म के अति निकट था और इसी कारण केवल दो-तीन शताब्दियों तक ही अपना कुछ अलग अस्तित्व बनाये रखने के पश्चात् जैन धर्म की मुख्य धारा में विलीन हो गया।[२४]

बराबर एवं नागार्जुनी पर्वतों पर सम्राट् अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ द्वारा निर्मित ये जैन गुफाएँ निस्सन्देह भारतीय संस्कृति तथा कला पर जैन कला के महत्वपूर्ण योगदान के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित ये महान् कृतियाँ कुछ उपेक्षित-सी हैं। इनके रख-रखाव के निमित्त कुछ कारगर कदम उठाना आवश्यक प्रतीत होता है।

सन्दर्भ संकेत

१. बलभद्र जैन—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (बम्बई—१९७५) पृ० ४।
२. एल० ए० वैडेल—रिपोर्ट आंन दी-एस्केवेशन ऐट पाटलीपुत्र पृ० ४७।
३. सिन्हा और नारायण—पाटलीपुत्र एक्सवेशन्स, १९५५-१९५६ (पटना—१९७०)
४. अजय कुमार सिन्हा—केमस आफ बराबर हिल्स; बिहार इनफोरमेशन वर्ष १८ अंक ९ (पटना—१९७१) पृ० ४—६।
५. डब्लू० डब्लू हंटर—दी स्टैटिस्टीक्स एकाउंट आफ बंगाल, भोल्युम × ११ (लन्दन—१९८८) पृ० ५८९।
६. उपाध्याय वासुदेव—प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा और बिहार (पटना—१९७२) पृ० १४२।
७. परसी ब्राउन—इंडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) (बम्बई—१९५६) पृ १५।
८. जेम्स फर्गुसन—हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इस्टर्न आर्केटेकचर, खण्ड। (लन्दन—१८७६), पृ० १३०—१३३।
९. बी० सी० लाहा—इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन दी अर्ली टेक्सट्स आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० २७।
१०. सीस० शिवराममूर्ति—दी आर्ट आफ इण्डिया, (न्यूयार्क—१९७४) पृ० ४४७—४४८।
११. अजय कुमार सिन्हा—केभ पेंटिंग्स आफ बराबर हिल्स, जर्नल आफ बिहार पुराविद् परिषद्, भोल्युम ११ (पटना—१९७८), पृ० ४०—४३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. डा० वी०पी० सिन्हा—भारतीय कला को बिहार की देन, (पटना—१९५८) पृ० ५४।

१३. डी० आर० पाठिल—दी एंटिक्युरियन रिमेन्स इन बिहार, (पटना—१९६३) पृ० १६।

१४. दिनेशचन्द्र सरकार—इन्सक्रीप्सन्स आफ अशोक (नई दिल्ली—१९७५) पृ० ५८।

१५. वी० पी० सिन्हा (स०)—दी कम्प्रीहैंसिव हिस्ट्री आफ बिहार भोल्युम १ खण्ड १ (पटना—१९७४) पृ० ७३५।

१६. निहार रंजन राय—मौर्य एण्ड पोस्ट मौर्य आर्ट (कलकत्ता—१९७५) पृ० ४५।

१७. विजेन्द्र कुमार माथुर—ऐतिहासिक स्थानावली (दिल्ली—१९६९) पृ० ६१०—६११।

१८. अलेक्जेंडर कनीथंम—आर्कलौजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, भोल्युम १ (कलकत्ता—१८८७) पृ० ४९।

१९. सी० पी० सिन्हा—प्राचीन भारतीय अभिलेखिकी और लिपी (पटना—११६) पृ० ११५।

२०. एस० पी० गुप्ता-दी रूट्स आफ इंडियन आर्ट, (दिल्ली—१९८०) पृ० १९३।

२१. वासुदेव नारायण—आर्कलौजी आफ बिहार; दी जर्नल आफ बिहार पुराविद् परिषद्, भोल्यूम—१ (पटना—१९७७) पृ० ३१।

२२. पी० एल० गुप्त—प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (वाराणसी—१९७९) पृ० ८२।

२३. असीम कुमार चटर्जी—ए कम्प्रीहेंसिभ हिस्ट्री आफ जैनिज्म (कलकत्ता—१९७८) पृ० २८।

२४. बलभद्र जैन—वही पृ० ९।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मण : बुद्ध की दृष्टि में

राजीव कुमार अनुसंधान प्रज्ञ*

सामान्यतौर पर यह मान्यतया प्रचलित है कि बुद्ध-ब्राह्मण विरोधी थे। किन्तु पालि पिटक साहित्य के सम्यक् अनुशीलन से इस मान्यता को समर्थन नहीं मिलता। यह सत्य है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की परम्परागत श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने जातिवाद से चिपकनेवाले ब्राह्मणों की निन्दा की। बुद्ध ने ब्राह्मणों के धार्मिक-दार्शनिक सिद्धान्तों का भी खंडन किया। धर्म, दर्शन और इतिहास का अध्येता, ब्राह्मण विषयक बुद्ध के इन विचारों को उजागर करता है और इसके आधार पर बौद्धधर्म को ब्राह्मण विरोधी घोषित करता है। किन्तु, यह पूरी वास्तविकता नहीं है। पालि पिटक साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध ब्राह्मणों में भी अत्यधिक लोकप्रिय थे और उनके अनुयायियों में ब्राह्मणों की संख्या सर्वाधिक थी। पालि साहित्य में दर्जनों ब्राह्मण-ग्रामों[1] का उल्लेख मिलता है जहाँ बुद्ध ने बहुमान प्राप्त किया था। बुद्ध ने सच्चे ब्राह्मणों की काफी प्रशंसा की है। ब्राह्मण शिष्यों को दिये गये बुद्ध के उपदेशों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ये ब्राह्मण शिष्य बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रूप से उत्कृष्ट थे। प्रस्तुत शोध-निबंध में हमने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि बौद्धों एवं ब्राह्मणों के मध्य सौहार्द्र तथा बौद्ध धर्म के विकास में उनकी भी सहभागिता थी।

पालि पिटक साहित्य के अनुसार इस युग में ब्राह्मणों की दो श्रेणियाँ थी। प्रथम श्रेणी उन ब्राह्मणों की थी जो शास्त्रसम्मत ब्राह्मण कर्म करते थे। वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले पुरोहित एवं तपस्वी इस वर्ग के सदस्य थे। बौद्ध लेखकों के अनुसार सच्चे ब्राह्मण तीनों वेदों में पारंगत एवं इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि अनेक विद्याओं के मर्मज्ञ होते थे[2]। सुनेत्र तथा सेल सदृश अनेक ब्राह्मण प्रकांड पण्डित भी थे जिनके निकट सैकड़ों शिष्यों का जमघट लगा रहता था।[3] सेल नामक ब्राह्मण तीनों वेदों, निघण्टु, कैटुभ, निरुक्त, पाँचवें वेद रूपी इतिहास में पारंगत हो, काव्य, व्याकरण, लोकायत-शास्त्र तथा महापुरुष लक्षणों में निपुण हो ३०० माणवकों को मंत्र पढ़ाता था।[4]

बुद्धकालीन समाज का बहुसंख्यक जन-समुदाय उस वेदविहित लौकिक ब्राह्मणधर्म का अनुयायी था जिसमें वैदिक यज्ञों की प्रधानता थी। परिणामतः तत्कालीन समाज में पुरोहित वर्ग अत्यंत समादृत हुआ। याजक के रूप में उन्हें गायें, वस्त्राभूषण, शयन-सामग्री आदि अनेकानेक वस्तुएँ दानस्वरूप मिलती थीं।[5] उन्हें राजाओं द्वारा भूमिदान भी मिला करता था जिसकी संज्ञा 'ब्रह्मदेय' पड़ी। कई ब्राह्मणों को 'ब्रह्मदेय' के रूप में ग्राम मिले थे। इस प्रकार के दान पोक्खरसाति,[6] कूटदन्त,[7] लोहिच्च,[8] सोणदन्ड[9] तथा चंकि[10] जैसे अनेक

* प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मणों को प्रदान किये गये जो वेदों के ज्ञाता थे तथा जिनके आश्रम में अनेक शिष्य विद्याध्ययन करते थे।

दूसरा वर्ग उन ब्राह्मणों का था जो शास्त्रानुमोदित ब्राह्मणोचित कर्मों से विमुख हो गये थे। त्रिपिटक के विवरणों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण अनेक प्रकार के कर्म करने लगे थे जैसे—कृषि, शिल्प, व्यापार, सैनिक कर्म, प्रशासन आदि।[११] उनके अनुसार ब्राह्मणों ने अपने प्राचीन आदर्शों का सर्वथा त्याग कर सभी प्रकार के सांसारिक सुख-भोगों में अपने को लिप्त कर रखा था तथा अब्राह्मणोचित कर्मों, जैसे—अपने शरीर के अंगों को वस्त्राभूषणों तथा आलेपनों द्वारा सुसज्जित करना, सुस्वादु भोजन करना, मद्य पीना, रथों की सवारी करना, परिचारिकाओं से परिवृत्त रहना, प्रचुर धन-संग्रह करना आदि के सम्पादन में लगे थे।[१२] (दीघ-निकाय के 'ब्रह्मजाल सुत्त' में उन निषिद्ध कर्मों की एक लंबी एवं विस्तृत सूची दी गई है जिनमें ब्राह्मण रत रहते थे।[१३]) सम्भवतः समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा आर्थिक आवश्यकताओं ने अनेक ब्राह्मणों को इसके लिये बाध्य किया होगा कि वे अपने पैतृक कर्मों—अध्यापन तथा पौरोहित्य—का त्याग कर अन्य व्यवसाय में लगें।

समाज में वैभव-सम्पन्न ब्राह्मणों का भी अभाव नहीं था। आर्थिक रूप से सम्पन्न इन ब्राह्मणों को 'महाशाल' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। सोणदन्ड, कूटदन्त, तारुक्ख, तोदेय्य, कसिभारद्वाज, पोक्खरसाति इत्यादि ब्राह्मण महासालों का उल्लेख पालि पिटक साहित्य में यत्र-तत्र आया है। इन ब्राह्मण महाशालों का अपने क्षेत्र की धर्मभीरु जनता पर काफी प्रभाव था। ऐसे महाशाल ब्राह्मण विपुल भू-संपत्ति के स्वामी होते थे। कसिभारद्वाज के पास इतना खेत था कि खेती के लिए ५०० हलों की आवश्यकता पड़ती थी।[१४]

बुद्ध से पूर्व 'ब्रह्म' और 'ब्राह्मण' शब्द रूढ़ हो चुके थे जो आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपने व्यक्तित्व को समायोजित कर जीवन के परम सत्य का साक्षात्कार कर लेते थे वैसे व्यक्ति को ब्राह्मण कहा जाता था। वे आत्मदर्शी होते थे। बाद में चलकर वैसे आत्मदर्शियों के वंश में जन्म लेने वाले भी ब्राह्मण कहे जाने लगे, भले ही उनके कर्म अच्छे न हों और वे आचारवान् न हों। फिर कुछ लोगों ने तपस्वियों, मुनियों, ऋषियों के सूचक चिह्नों को धारण कर, मृग-चर्म पहनकर अपने को ब्राह्मण घोषित किया।

बुद्ध के अनुसार केवल जन्म के आधार पर किसी को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। उन्होंने स्पष्टतः घोषित किया कि माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण किसी को मैं ब्राह्मण नहीं मानता और न जटा से, न गोत्र से और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है। एक जटाधारी को फटकारते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा—"हे मूर्ख, जटाओं से तेरा क्या बनेगा और मृगचर्म को पहनने से क्या होगा? तेरा मन तो राग आदि मलों से भरा है, बाहर क्या धोता है?"[१५]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्ध के अनुसार ब्राह्मण का अर्थ है निष्पाप, निर्मल, शुद्ध व्यक्ति, ज्ञानी, अर्हत् अर्थात् जिसने अन्दर और बाहर के मनों को प्रक्षालित कर लिया है, सभी प्रकार की तृष्णा के बंधनों को काट दिया है, आसक्ति को छोड़ दिया है। बुद्ध की दृष्टि में ब्राह्मण पूर्णता का प्रतीक हैं। अर्थात् जिसने 'शील', 'समाधि' और 'प्रज्ञा' की साधना की है। 'शील' का अर्थ होता है दुश्चरित्र का विशोधन। बुरे कर्मों से अपने को विरत कर जो कुशल कर्म करता है, वह शीलवान् कहलाता है। आचार के मूल में इन्द्रिय संयम अथवा आत्मसंयम है। संयमी व्यक्ति मन, वचन और कर्म से दुष्कर्म नहीं करते क्योंकि वे सम्वरयुक्त होते हैं।[16] बुद्ध ने ऐसे व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहा है। भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण की तुलना पानी में लिप्त न होने वाले कमल तथा आरे की नोक पर न टिक सकने वाले सरसों के दाने से करते हुए कहा है कि वे विषयों में लिप्त नहीं होते।[17] लोभ, द्वेष और मोह को दूर करने के कारण उसका चित्त स्थित और शांत रहता है। वह शांत चित्त से सब कुछ सहन करता है। वह न तो क्रोध करता है और न हो किसी पर प्रहार करता है। वह अपरिग्रही और त्यागी होता है। ब्राह्मण को ध्यानी कहा गया हैं। उसे ध्यान में पारंगत बताया गया है। ऐसे ध्यानी ब्राह्मण को सम्यक् ज्ञान होता है। प्रज्ञा के उदय से उसके सभी बंधन कट जाते हैं, वह अनासक्त हो जाता है उसकी सभी तृष्णा नष्ट हो जाने से, वास्तविक अर्थ में उसका संसार से संबंध समाप्त हो जाता हो जाता है। संसार में रहकर भी वह संसार का नहीं होता। संसार के मूल में विद्यमान तृष्णा और आसक्ति का त्याग करने के कारण वह समस्त बंधनों से रहित हो जाता है। वह इस दुर्गम संसार से तर जाता है और निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वैसे व्यक्ति को अनेक नामों से पुकारा गया है। वही ऋषभ है, वही बुद्ध है, वही महर्षि है और वही ब्राह्मण है।[18] ब्राह्मण के विषय में संक्षेपतः कहा जा सकता है कि जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो गया है, जिसकी प्रज्ञा पूर्ण हो चुकी है जिसने अपना सब कुछ पूरा कर लिया है वही ब्राह्मण है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बुद्ध जन्मना वर्ण-सिद्धान्त के विरोधी थे। यों तो भारत में जाति भेद का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है परन्तु प्रारम्भिक काल में यह रूढ़ नहीं था। व्यक्ति विशेष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह मनोनुकूल वर्ण का सदस्य बन सके परन्तु कालान्तर में जातिभेद संबंधी मनुष्य की धारणाएँ रूढ़ होती गईं और उसके पेशे वंशानुगत हो गए। बुद्ध को हम अब्राह्मणोचित कर्मों में संलग्न तथा गुणहीन ब्राह्मणों का विरोध करते देखते हैं किन्तु ब्राह्मणत्व से सम्पन्न ब्राह्मण की निन्दा करते हुए हम उन्हें नहीं पाते हैं। वे इसके पक्ष में नहीं थे कि ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से हम किसी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र मान लें। जब जाति व्यवस्था की बात उठती थी तो वह क्षत्रियों को सर्वश्रेष्ठ बतलाते थे। इस मत की पुष्टि दीघनिकाय के 'अम्बट्ठ सुत्त' से होती है।[19]

भगवान् बुद्ध ने अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि तथा भृगु जैसे अतीत के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सादगीपूर्ण जीवन शैली तथा सत्यान्वेषण की आध्यात्मिक क्षमता की भूरिशः प्रशंसा की है।[20] सुत्तनिपात के 'ब्राह्मणधम्मिक सुत्त' में बुद्ध ने उस सन्दर्भ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में कहा है—"पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी थे। वे पाँच प्रकार के विषय भोगों को छोड़ कर आत्मोन्नति के लिए आचरण करते थे। स्वाध्याय ही उनका धन्य-धान्य था। वे निर्दोषी अजेय और धर्म से रक्षित थे तथा विद्या और आचरण की गवेषणा में विचरण करते थे। वे ब्रह्मचर्य, शील, ऋजुता, मृदुता, तप, सौजन्य, अहिंसा तथा क्षमा की प्रशंसा करते थे।"[२१] वह कहते हैं कि तत्कालीन ब्राह्मण उनके द्वारा रचित मन्त्रों का पाठ किया करते थे। बुद्ध ने ब्राह्मणों के शुकवत् मंत्रपाठ का ही परिहास किया हैं, इन मन्त्रदृष्टा ऋषियों का नहीं। वास्तव में बुद्ध के अनुयायियों एवं जनसामान्य के बीच उनके कुछ प्रबुद्ध ब्राह्मण शिष्यों की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। बुद्ध के ब्राह्मण शिष्यों में से ही दो—सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का सम्मान बुद्धतुल्य था। स्वयं बुद्ध भी उनकी प्रशंसा करते थे।

भगवान बुद्ध द्वारा जिन लोगों को बौद्ध-संघ में प्रव्रजित किया गया उनमें प्रथम बड़ा दल उन जटिलों का था जिसका नेतृत्व ब्राह्मण कश्यप बंधु करते थे।[२२] इनकी आध्यात्मिक उपलब्धि के संकेत त्रिपिटक में प्राप्त होते हैं। बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में बौद्ध भिक्षुओं-भिक्षुणियों की क्रियाशीलता को विस्मृत नहीं किया जा सकता। थेर तथा थेरी गाथा में कुल ३३२ भिक्षु और भिक्षुणियों के उद्गार संकलित हैं। इनमें २६१ भिक्षु तथा ७१ भिक्षुणियाँ हैं। इनमें से १३४ (करीब ४०.८%) प्रव्रज्या ग्रहण करने से पूर्व ब्राह्मण थे। इनमें ११७ भिक्षु तथा १७ भिक्षुणियाँ थी।[२३] इसके अतिरिक्त दीघनिकाय के 'महापदान सुत्त' में छः बुद्धों का वर्णन है जिनमें से तीन—कुकुसन्ध, कोणागमन तथा कश्यप ब्राह्मण थे।

केवल भगवान् बुद्ध ने ही ब्राह्मणों की प्रशंसा नहीं की है बल्कि ब्राह्मणों ने भी बुद्ध की प्रशंसा की है। दीघनिकाय के 'कूटदन्त सुत्त' में कूटदन्त नामक ब्राह्मण को हम बुद्ध के बारे में निम्नलिखित विचार प्रकट करते हुए देखते हैं—"श्रमण गौतम शीलवान् आर्यशीलयुक्त हैं। वे काम-राग रहित, चपलता रहित हैं। कर्मवादी-क्रियावादी हैं तथा ब्राह्मण संतानों के निष्पाप अग्रणी हैं।"[२४]

पालि बौद्ध साहित्य में दर्जनों ऐसे ब्राह्मणग्रामों का उल्लेख है जहाँ भगवान् बुद्ध को प्रभूत समादर प्राप्त हुआ।[२५] इन ग्रामों में उन्होंने जो उपदेश दिये वे काफी महत्त्वपूर्ण हैं। ये ग्राम ब्राह्मणों को ब्रह्मदेय के रूप में शासकों द्वारा प्राप्त हुए थे। ये ब्राह्मण महाशाल की श्रेणी के थे तथा ग्राम में उनकी काफी प्रतिष्ठा थी। इन सभी ग्रामों में भगवान् बुद्ध द्वारा समय-समय पर दिये गये उपदेशों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बुद्धोपदेश सुनने तथा अपनी शंकाओं के निवारण के पश्चात् ब्राह्मण महाशालों ने शिष्य सहित बौद्धधर्म को स्वीकार कर इसके प्रसार में पर्याप्त योगदान किया। इन ब्राह्मण महाशालों में निम्नलिखित पाँच के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—चंकि ब्राह्मण, तारुक्ष ब्राह्मण, पौष्करसाति ब्राह्मण, जानुस्सोणि ब्राह्मण तथा तोदेय्य ब्राह्मण। भगवान् बुद्ध ने इन ब्राह्मणों की प्रशंसा की है। यह इस बात का परिचायक है कि अवैदिक कहे जाने वाले बौद्धधर्म की सांस्कृतिक भौगोलिक सीमा में ब्राह्मण बौद्धों के साथ घुल-मिल गये थे। इन ग्रामों में बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेशों से इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मण शिष्यों की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कृष्टता तथा श्रेष्ठता का ज्ञान होता है। इस धर्म के प्रचार-प्रसार में इन ग्रामों का योगदान अत्यधिक था।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध ब्राह्मणों के विरोधी नहीं थे। वस्तुतः उन्होंने आध्यात्मिक संपत्तिरहित, केवल जन्म के आधार पर ब्राह्मण कहे जाने वाले लोगों के विरुद्ध सामाजिक और धार्मिक स्तर पर आन्दोलन छेड़ा जिसके फलस्वरूप यह भ्रामक धारणा फैल गई कि भगवान् बुद्ध ब्राह्मण विरोधी हैं। किंतु जब हम उनके उपदिष्ट वचनों की गहराई में जाते हैं तो ज्ञात होता है कि एक ओर तो उन्होंने जातिवाद पर प्रबल प्रहार किया और जन्म के आधार पर मनुष्य की श्रेष्ठता का विरोध किया तथा दूसरी ओर 'शील', 'समाधि' इत्यादि के पालन करने पर अत्यधिक बल देकर प्राचीन काल के ब्राह्मण के आदर्शों को प्रकाशित किया। उन्होंने फिर से ब्राह्मण-पद को आध्यात्मिकता के साथ जोड़ा। अतः वह किसी भी प्रकार से ब्राह्मण-विरोधी नहीं कहे जा सकते।

सन्दर्भ-सूची

१. राजीव कुमार—'पालि पिटक साहित्य में वर्णित कुछ प्रमुख ब्राह्मण ग्राम—(शीघ्र प्रकाश्य) प्रो० बी० एन० पुरी अभिनन्दन ग्रंथ—सम्पादक डॉ० आर० अवस्थी, लखनऊ।

२. (पालि त्रिपिटक सम्बन्धी सभी उद्धरण १९५६ से १९६० के मध्य भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा द्वारा देवनागरी में सम्पादित त्रिपिटक से लिये गये हैं)
दीघ निकाय I पृ० ८८, १२०; मज्झिम निकाय I पृ० १३३–३४; सुत्तनिपात ३।७।

३. अंगुत्तर निकाय III पृ० ३७१; सुत्तनिपात ३।७।

४. सुत्तनिपात ३।७।

५. वही २।७।२०–२२।

६. दीघनिकाय-अम्बट्ठ सुत्त।

७. वही—कूटदन्त सुत्त

८. वही—लोहिच्च सुत्त।

९. वही—तेविज्ज सुत्त।

१०. मज्झिम निकाय—चंकि सुत्त।

११. वही I पृ० ९८; सुत्तनिपात ३।९।

१२. दीघनिकाय I पृ० १०४–१०५; अंगुत्तर निकाय II पृ० ५३–५४।

१३. वही ब्रह्मजालसुत्त।

१४. सुत्त निपात १।४।

१५. धम्मपद २६।१२।

१६. वही २६।९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७. सुत्तनिपात ३।९।३२; धम्मपद २६।१९ ।

१८. धम्मपद २६।४० ।

१९. दीघनिकाय–अम्बट्ठ सुत्त ।

२०. वही I–पृ० २३९; मज्झिम निकाय II–पृ० २००; अंगुत्तर निकाय Iv पृ० ६१ ।

२१. सुत्तनिपात–२।७।१-९ ।

२२. विनय पिटक I–पृ० २४ ।

२३. विस्तृत विवरण के लिये–बी० जी गोखले–'दी अर्ली बुद्धिस्ट एलिट'-जर्नल ऑफ इन्डियन हिस्ट्री XLIII।II अगस्त १९६५–पृ० ३९१–४०२ ।

२४. दीघनिकाय I–पृ० ११३ ।

२५. राजीव कुमार–उपरिवत् ।

4349

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi